राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म
धर्मसम्राट् स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज
प्रकाशक : वेदशास्त्रानुसन्धान केन्द्र, वाराणसी

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म

•

धर्मसम्राट् स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज

।। श्रीः ।।

सुधारवाद की अवधारणा का मूल आधार डार्विन की विकासवाद की थ्योरी है जिसके अनुसार क्रमशः प्राणिसमूहों का विकास हो रहा है। उनके यहाँ संसार की उत्पत्ति एक आकस्मिक घटना के द्वारा परमाणुओं से हुई है तथा जैसे-जैसे मनुष्यों में बुद्धि का विकास होता गया, उसी के अनुसार समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए धर्म में कल्पना करके कुछ नियम बनाए गए। किन्तु हम वेदशास्त्रानुगामी सनातन धर्मावलम्बी के अनुसार जगत् का कारण ज्ञानवान, इच्छावान्, क्रियावान् शाश्वत परमात्मा है। उसके द्वारा प्रदत्त वैदिक ज्ञान भी शाश्वत है। इसमें ऋतम्बरा प्रज्ञा प्राप्त ऋषि-मुनि भी त्रिकालज्ञान सम्पन्न होने के बावजूद भी कुछ भी परिवर्त्तन करने का साहस नहीं कर सकते, फिर विप्रलिप्सा करणापादवादि दोषों से युक्त सामान्य मनुष्यों की सामर्थ्य ही क्या है। गोलवरकर जी इत्यादि सभी समाज सुधारक वैदिक संस्कृति से पूर्ण परिचित न होने के कारण नई-नई कल्पना करके समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं जो कि वेदशास्त्रानुगामी लोगों के लिए महत्त्व नहीं रखते हैं।

प्रकाशकीय

हिन्दू धर्म का सनातन स्वरूप इसीलिए है कि वह 'त्रिकालबाधित' शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति करता है। वह व्यक्तिविशेष की मान्यताओं से परे अपौरुषेय है। देशकाल परिस्थिति विशेष में मानव-व्यवहार के जिस पक्ष की आवश्यकता होती है, धर्म के तत्कालीन व्याख्याता उसी पक्ष को सामने प्रस्तुत करते हैं। उत्तरवर्ती काल में आचार्य कौटल्य, भगवान् शंकराचार्य, भक्तशिरोमणि महात्मा तुलसीदास ने यही किया। ब्रिटिश शासन से आज तक सामाजिक मूल्यों में जिस प्रकार परिवर्तन प्रारम्भ हुए, पुनर्जागरण और धर्मसुधार-आन्दोलनों के रूप में उनकी अभिव्यक्ति हुई; सनातनी हिन्दुओं ने उनका प्रतिवाद किया। धर्म से अविरुद्ध अंश का अपने में समावेश भी किया। इसी परम्परा में राष्ट्रिय आन्दोलन के समय राष्ट्रवाद के विभिन्न पक्षों पर भी विचार हुआ।

स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रवाद दर्शन के रूप में विकसित होने लगा। हिन्दू राष्ट्रवाद का सशक्त प्रसार राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ के सरसंघ चालक श्री गोलवलकर जी (गुरुजी) ने किया। उन्होंने अपने को संघ के संघटन पक्ष तक सीमित रखने का प्रयास किया, लेकिन प्रसंगतः उन्हें कुछ सैद्धान्तिक एवं मूलभूत बातों पर भी विचार व्यक्त करने पड़े। उनके विचार सर्वप्रथम 'हमारी राष्ट्रियता' में व्यक्त हुए। पुनः कुछ लेखादि देखने को मिलते रहे। इधर 'विचार नवनीत' में प्रायः उनके समग्र विचारों का सारांश प्रकाशित हुआ। इन तमाम साहित्य को देखने पर शंका उत्पन्न हुई कि श्री गोलवलकर जी ने संघ के सामने जिस हिन्दू राष्ट्रवाद का आदर्श रखा है, वह हिन्दू-धर्म पर स्थिर है या नहीं, या उसके विपरीत भी है। यह अत्यन्त मूलभूत प्रश्न हिन्दू जनता के सामने आया।

प्रायः १० वर्ष पूर्व इस प्रश्न पर सर्वप्रथम डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी (प्राध्यापक : राजनीतिशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने पूज्य स्वामी करपात्री जी को ध्यान दिलाया। फलतः उस समय 'जाति-राष्ट्र-संस्कृति' नामक पुस्तिका श्री स्वामीजी ने लिखी। उसे श्री गोलवलकर जी के पास भेजा गया। उस सम्बन्ध में उन्होंने पत्रोत्तर दिया किन्तु पुस्तिका का उत्तर नहीं दिया। इधर श्री गोलवलकर जी की पुस्तक 'वञ्च ऑफ थाट' उनके भाषणों आदि के संकलन रूप में प्रकाशित हुई। कुछ दिनों बाद उसका हिन्दी रूप 'विचार-नवनीत' के रूप में आया। डॉ० त्रिपाठी ने पुनः इस पुस्तक पर श्री स्वामीजी का ध्यान दिलाया। इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत पुस्तक लिखने और प्रकाशित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

श्री तुलसी मन्दिर वाराणसी का देश में सर्वाधिक महत्त्व इसी अंश में है कि समग्र हिन्दू-धर्म की १६वीं शती तक उसके सन्दर्भ में व्याख्या 'रामचरित-मानस' के रूप में हुई और उसका प्रणयन केन्द्र यही रहा है। ऋषिकल्प महान् युगद्रष्टा श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने यहीं अपनी अन्तिम इह लीला समाप्त की। उनके द्वारा स्थापित परम्परा का सम्बन्ध मुझे अन्यतम रूप से प्राप्त है। यह हमारा सौभाग्य है कि हिन्दू-धर्म और राष्ट्रवाद से सम्बद्ध विवेचन पर जो विचार प्रारम्भ हुआ है उसे प्रकाशित करने का अवसर पूज्य स्वामी करपात्रीजी ने हमें दिया।

प्रस्तुत पुस्तक का मूलोद्देश्य यह सिद्ध करना है कि श्री गोलवलकर जी द्वारा व्याख्यात हिन्दू राष्ट्रवाद का सम्बन्ध हिन्दू-धर्म से है या नहीं। इस पर सबसे प्रामाणिक और आधिकारिक ढंग से कहने का हक पूज्य श्री स्वामी करपात्रीजी को प्राप्त है। उन्होंने सभी पहलुओं से गोलवलकर जी की पुस्तकों के उद्धरणों से सिद्ध किया है कि रा० स्व० संघ के राष्ट्रवाद का सम्बन्ध हिन्दू-धर्म से नहीं है और वह पाश्चात्य नात्सी या हिटलरी किस्म का है। यदि ऐसा है तो यह देश के लिए अत्यन्त खेदजनक है। आज के सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त सनातनी धर्माचार्य अभिनव शंकराचार्य पूज्य स्वामी करपात्रीजी की मान्यता की उपेक्षा श्री गोलवलकर जी नहीं कर सकते। इसमें किसी भी प्रकार की नीति यही होगी कि प्रस्तुत विषय पर खुलकर विचार किया जाय। यदि विचार रूप में कोई सामग्री हमें श्री गोलवलकर जी से प्राप्त हुई तो हम उसे भी प्रकाशित करेंगे। हम 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' के पक्षपाती हैं। हमारा लक्ष्य सत्य के वास्तविक स्वरूप को सामने लाना है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन का दायित्व डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी ने स्वीकार किया। उसके प्रकाशन की व्यवस्था आदि में हमें श्री आनन्द बहादुर सिंह, श्री शिवनारायण उपाध्याय, श्री कृष्णदत्त द्विवेदी एवं श्री गिरिजाशंकर सिंह ने पर्याप्त सहयोग दिया। इन्हीं महानुभावों के सहयोग से ही पुस्तक का प्रस्तुत रूप सामने आ सका। हम सभी के प्रति आभारी हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक अपने मूलोद्देश्य में अवश्य सफल होगी और देश का जागरूक नागरिक इससे आवश्यक लाभ उठायेगा।

तुलसी मन्दिर
कार्तिक पूर्णिमा, सं० २०२७ **वीरभद्र मिश्र**

अनुक्रम

●

प्रामाण्य-विचार

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण पर निर्भर होती है। प्रमाणशून्य विचारवाद, सिद्धान्त सब अप्रामाणिक, भ्रान्त, विनश्वर अथ च हेय समझे जाते हैं। जैसे रूप जानने के लिए निर्दोष नेत्र का प्रमाण आवश्यक होता है, गंध के लिए घ्राण, शब्द के लिए श्रोत्र, रस के लिए रसना, स्पर्श के लिए त्वक्, सुख-दुःख के लिए मन प्रमाण अपेक्षित होते हैं, वैसे ही अनुमेय प्रकृति परमाणु आदि के जानने के लिए हेत्वाभासों पर अनाधारित व्यभिचारादि दोषशून्य व्याप्ति ज्ञान या व्याप्त हेतु पर आधारित अनुमान अपेक्षित होता है। ठीक वैसे ही धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय अननुमेय पदार्थों को समझने के लिए स्वतंत्र शब्द प्रमाण अपेक्षित होते हैं। संसार में सर्वत्र पिता-माता को जानने के लिए पुत्र को शब्द-प्रमाण की आवश्यकता होती है। न्यायालयों में लेखों एवं साक्षियों के शब्दों के आधार पर ही आज भी सत्य का निर्णय किया जाता है, फिर भी वैदिक शब्द प्रामाण्य उससे विलक्षण होता है। लोक में शब्द कहीं भी स्वतंत्र प्रमाण नहीं होते किन्तु वे प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर आधारित होते हैं। उनके आधारभूत प्रत्यक्ष तथा अनुमान में दोष होने अथवा वक्ता के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा कारणापाटव आदि दोषों से दूषित होने के कारण उनमें कहीं अप्रामाण्य भी होता है। दोषशून्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर आधारित समाहित निर्दोष आप्त वक्ता के शब्दों का प्रामाण्य होता है, परन्तु अपौरुषेय मंत्र ब्राह्मणरूप वेद तो सदा प्रमाण ही होते हैं, अप्रमाण नहीं।

शब्द का प्रामाण्य सर्वत्र मान्य है, उसका अप्रामाण्य वक्ता के भ्रम प्रमादादि दोषों पर ही निर्भर होता है। अगर कोई ऐसे भी शब्द हों कि जो किसी वक्ता से निर्मित न हों तो उनके वक्तृदोष से दूषित न होने के कारण अप्रामाण्य का कारण न होने से सुतरां उनका स्वतः प्रामाण्य मान्य होता है। ऐसे ही उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भी मान्य होते हैं। ऐतिह्य, चेष्टा आदि कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं होते, क्योंकि प्रवाद या ऐतिह्य यदि आप्तपरम्परा से प्राप्त हैं तो आप्त वाक्य में ही आ जाते हैं और चेष्टादि आंतरभाव के अनुमापक होने से अनुमान में ही निहित समझे जाते हैं।

जिन ग्रंथों या वाक्यों का पठन-पाठन एवं तदर्थानुष्ठान अविच्छिन्न अनादि सम्प्रदाय परम्परा से प्रचलित हो और जिनका निर्माण या निर्माता प्रमाणसिद्ध न हो ऐसे वाक्य या ग्रन्थ अनादि एवं अपौरुषेय ही होते हैं। मंत्र ब्राह्मणात्मक शब्द-राशि इसी दृष्टिकोण से अनादि अपौरुषेय मानी जाती है। गो, घट, पट आदि बहुत

से शब्द भी जिनका निर्माण प्रमाणसिद्ध नहीं है और वे अनादिकाल से व्यवहार में प्रचलित हैं, नित्य माने जाते हैं।

नैयायिक, वैशेषिक आदि के मतानुसार यद्यपि वर्ण एवं शब्द सभी अनित्य ही माने जाते हैं तथापि पूर्वोत्तर मीमांसकों की दृष्टि से वर्ण नित्य ही होते हैं क्योंकि अ क च ट त प आदि वर्ण प्रत्येक उच्चारणों में एक रूप से ही पहचाने जाते हैं। अवश्य ही कण्ठ ताल्वादिभेद से ध्वनियों में भेद भासमान होता है अतः ध्वनियों के अनित्य होने पर भी अ क च ट त प आदि वर्ण सर्वत्र अभिन्न एवं नित्यसिद्ध होते हैं। नियत वर्णों की नियत आनुपूर्वी को ही शब्द एवं नियत शब्दों की नियत आनुपूर्वी को वाक्य कहा जाता है। यद्यपि वर्णों के नित्य एवं विभु होने से उनका देशकृत तथा कालकृत पौर्वापर्य असम्भव ही होता है और पौर्वापर्य न होने से शब्द एवं वाक्य रचना असम्भव ही है तथापि कण्ठ ताल्वादि जनित वर्णों की अभिव्यक्तियाँ अनित्य ही होती हैं, अतः उनका पौर्वापर्य सम्भव है और उसी के आधार पर पदत्व तथा वाक्यत्व भी बन जाता है।

यद्यपि वर्णाभिव्यक्तियों के अनित्य होने से पदों एवं वाक्यों की भी अनित्यता ही ठहरती है तथापि जिन पदों एवं वाक्यों का प्रथम उच्चारयिता या पूर्वानुपूर्वी निरपेक्ष आनुपूर्वी निर्माता प्रमाणसिद्ध नहीं है उन पदों एवं वाक्यों को प्रवाहरूप से नित्य ही माना जाता है। रघुवंश आदि के प्रथम आनुपूर्वी निर्माता या उच्चारयिता कालिदास आदि हैं, परन्तु वेदों का अनादि आचार्य परम्परा से ही अनादि अध्ययन-अध्यापन चलता आ रहा है। अतः उनका निर्माता या प्रथमोच्चारयिता कोई नहीं है। रघुवंश आदि के उच्चारयिता अस्मदादि भी हो सकते हैं परन्तु प्रथमोच्चारयिता कालिदासादि ही हैं, अस्मदादि तो पूर्वानुपूर्वीसव्यपेक्ष ही उच्चारयिता हैं, निरपेक्ष उच्चारयिता नहीं। वेदों का कोई भी निरपेक्ष उच्चारयिता या प्रथमोच्चारयिता नहीं है। सभी अध्यापक अपने पूर्व पूर्व के अध्यापकों से ही वेद का अध्ययन या उच्चारण करते हैं, इसलिए वेद अनादि एवं नित्य माने जाते हैं।

गो घटादि शब्दों का नित्यत्व वैयाकरण एवं पूर्वोत्तर मीमांसक भी मानते हैं और शब्द की शक्ति भी जाति में मानते हैं। इसीलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, शक्ति या संकेत भी नित्य ही मान्य होता है।

यद्यपि 'डित्थ' 'डवित्थ' आदि यदृच्छा शब्दों के समान कुछ शब्द सादि भी होते हैं तथापि तद्भिन्न पुण्यजनक सभी साधु शब्द अनादि एवं नित्य ही होते हैं। हम अनादिकाल से ही गो-घट आदि शब्दों और उनके अर्थों के संबंधों का वृद्ध व्यवहार परम्परा से ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन्हीं शक्तिग्राहक हेतु व्याकरण-काव्य-कोषादि में वृद्ध व्यवहार को ही मूर्धन्य माना जाता है। जैसे धूम्र और वह्नि का सम्बन्ध यद्यपि

स्वाभाविक संबंध होता है तथा धूम वह्नि का व्याप्ति सम्बन्ध ज्ञात होने पर ही धूम में वह्नि का अनुमान होता है अन्यथा नहीं। उसी तरह शब्द एवं अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर भी व्यवहारादि द्वारा सम्बन्ध ज्ञान होने से ही शब्द भी स्वार्थ का बोधक होता है। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदि शब्द एवं अर्थ के संबंध को ईश्वर कृत होने से अर्थ और उसके सम्बन्ध को अनित्य ही मानते हैं तथापि सृष्टि-प्रलय की परम्परा अनादि होने से सभी सृष्टियों में सम्बन्ध समानरूप से होते हैं, अतः उनके यहाँ भी शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध प्रवाहरूप से नित्य ही होते हैं। पूर्वोत्तर मीमांसक वर्ण, पद एवं पद-पदार्थ सम्बन्ध तथा वाक्य एवं वाक्यसमूह वेद को भी नित्य मानते हैं।

इतिवृत्तवेत्ता भी संसार के पुस्तकालयों में सर्वप्राचीन पुस्तक ऋग्वेद को ही मानते हैं। लोकमान्य तिलक ने ओरायन में युधिष्ठिर से भी हजारों वर्ष पूर्व वेदों का अस्तित्व सिद्ध किया है। दीनानाथ चुलेट ने कई मंत्रों को लाखों वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति ऋषियों तथा स्वयं वेद ने भी वेदवाणी को नित्य कहा है। 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निममे' मनु० (१।२१) 'अतएव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू०) (१।३।२९) 'वाचाविरुपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (जै० सू० १५)।

वाक्यपदीयकार के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के साथ सूक्ष्मरूप से शब्द का सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषा में ही विचार करता है।

'न सोस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते।'

(वा० प० १ का० १२३ श्लो०)

'जानाति, इच्छति अथ करोति' के अनुसार ज्ञान से इच्छा एवं इच्छा से ही कर्म होते हैं। 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।' अतः सृष्टि-निर्माण के लिए ईश्वर को भी ज्ञान (विचार) इच्छा एवं कर्म का अवलम्बन करना पड़ता है। जिस भाषा में ईश्वर सृष्टि के अनुकूल ज्ञान या विचार करता है, वही भाषा वैदिक भाषा है। ईश्वर एवं उसका ज्ञान अनादि होता है अतएव उसके ज्ञान के साथ होने वाली भाषा और शब्द भी अनादि ही हो सकते हैं। वे ही अनादि वाक्यसमूह वेद कहलाते हैं। बीज एवं अंकुर के समान ही सोने-जागने की, जन्म-मरण की, सृष्टि-प्रलय की, कर्म एवं कर्मफल की परम्परा भी अनादि ही होती है। अनादि प्रपंच का शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादिशिष्ट (शासित) जीव एवं जगत् पर शासन करने-वाले अनादि शासक परमेश्वर का शासन संविधान भी अनादि ही होता है। वही शासन संविधान वेद है। विशेष जानकारी के लिए 'वेद प्रामाण्य मीमांसा' 'संस्कृत' एवं 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' (हिन्दी) ग्रन्थ देखें।

आजकल के विचारक के नाम पर निष्प्रमाण बहुत विशृङ्खल पूर्वापर विरुद्ध कहते और लिखते हैं, वे प्रमाण से दूर भागते हैं। श्री मा० स० गोलवलकर की 'विचार नवनीत' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। उसमें उन्होंने कहा है कि 'हमारी सांस्कृतिक परम्परा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रंथ को अपने धर्म और संस्कृति की एकमेव सर्वोच्च सत्ता नहीं माना है। हमारे सभी धर्म-ग्रंथ मानवजीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एवं भागों के स्पष्टीकरण मात्र हैं। संघ ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है, न तैयार किया है।' आगे आप कहते हैं, 'एक बार एक धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा—वह कौन सी पुस्तक है जिसका आप अनुसरण करते हैं।' मैंने उत्तर दिया, 'यदि हम अपने आपको एक पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रखेंगे तो हम किसी भी प्रकार उन मुस्लिम और ईसाइयों से अच्छे नहीं होंगे जिनका धर्म केवल एक पुस्तक पर टिका है और इसीलिये हमारी निष्ठा आदर्श के प्रति है, उससे कम के लिए अथवा अन्य किसी के लिए नहीं।' (पृ० ३३२–३३३)

वास्तव में प्रश्नकर्त्ता धार्मिक नेता का आशय यह था कि आप जिस धर्म, संस्कृति या आदर्श की बात करते हैं वह किसी प्रमाण पर आधारित है अथवा नहीं ? प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष अनुमान अथवा शास्त्र ? लौकिक कर्म भले ही प्रत्यक्षानुमान पर निर्भर हों, परन्तु धर्म, ब्रह्म एवं उसके अनुष्ठान उपासना आदि तो एकमात्र शास्त्र से ही गम्य होते हैं। इसीलिये प्रत्येक परलोकवादी या धर्म ब्रह्मवादी कोई न कोई धर्मग्रन्थ प्रमाण मानता ही है। जैसे इस्लाम का कोई भक्त कुरान न मानता हो, ईसाइयत के आदर्श की बात करनेवाला बायबिल न मानता हो, यह कल्पना भी नहीं हो सकती। वैसे ही जो हिन्दू संस्कृति के आदर्शों की रक्षा की बात करता हो वह किसी हिन्दू वेदादि ग्रन्थों को न मानता हो, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। यह कहना कि जब वह कोई पुस्तक को प्रमाण मानकर उसे अपनी संस्कृति का आधार मानेगा तो वह एक एक पुस्तक को अपना आधार माननेवाले ईसाई मुसलमान से अच्छा न होगा, ठीक नहीं क्योंकि यों तो यह भी कहा जा सकता है, एक राष्ट्रीयता का अभिमान रखनेवाला भी हिटलर, मुसोलनी आदि राष्ट्रवादियों से अच्छा न कहा जा सकेगा। हमारी राष्ट्रीयता इतर राष्ट्रीयताओं से उत्कृष्ट है, यह कहना तो हिटलर आदि के लिए भी संभव था ही। आप अपनी राष्ट्रीयता के उत्कर्ष का प्रमाण इतिहास उपस्थित करेंगे तो क्या कोई जर्मन अपनी राष्ट्रीयता का प्रमाण इतिहास उपस्थित न कर सकेगा ? फिर इतिहास भी तो एक पुस्तक ही है। इतना ही नहीं आधुनिक इतिहास तो प्रायः जान-बूझकर अपने राष्ट्र, धर्म, संस्कृति आदि के महत्त्ववर्णन की दृष्टि से ही लिखे जाते हैं। जर्मन इतिहासकार लिखता है कि संसार का

इतिहास जर्मनी के ही वनों, पर्वतों, नदियों, भूखण्डों एवं अवशेषों से आरम्भ होता है। वस्तुतः केवल पुरानी घटनाओं को ही बार-बार वर्णन करना या पढ़ना गड़े मुर्दे को उखाड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः वह इतिहास नहीं, किन्तु उन घटनाओं के वर्णन को ही इतिहास कहा जाता है जिनसे अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता का माहात्म्य ज्ञात हो और जनता को आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक उन्नति के उपयोगी शिक्षा मिल सके। आधुनिक भारतीय इतिहासोल्लेख तो प्रायः पाश्चात्यों की दुरभि-संधियों के ही परिणाम हैं। पाश्चात्यों के शिष्यप्राय भारतीय इतिहासलेखक भी उनके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। यदि आप रामायण, महाभारत आदि आर्ष इतिहासों पर विश्वास करेंगे तब तो पुस्तक मानना ही पड़ेगा फिर पुस्तक न मानने से पिण्ड कैसे छूटेगा ?

आस्तिक हिन्दू तो सर्वज्ञ कल्प वैदिक व्यास वाल्मीकि आदि द्वारा लिखित रामायण, महाभारत आदि इतिहासों को ही प्रमाण मानते हैं क्योंकि विश्व-कल्याण कामना से प्रेरित समाधि सम्पन्न ऋषियों ने समाधि के द्वारा प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा से स्थूल-सूक्ष्म, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट सभी तथ्यों का साक्षात्कार कर इतिहास का उल्लेख किया है। उनका इतिहास वेद के अविरुद्ध अंश में प्रमाण होता है। उनके आर्ष इतिहासों के अविरुद्ध ही अन्य भी इतिहास मान्य हो सकते हैं। वस्तुतः आर्ष इतिहास भी घटना वर्णन अंश में ही प्रमाण होता है, धर्म, संस्कृति या आचरण के संबंध में नहीं, क्योंकि घटना वर्णन का ही नाम इतिहास है। घटना दौर्भाग्यपूर्ण, प्रतिकूल एवं सौभाग्यपूर्ण अनुकूल दोनों ही प्रकार की होती हैं। संसार में धर्म-अधर्म, जय-पराजय सभी ढंग की घटनायें होती रहती हैं। उनमें जनता को धर्म, संस्कृति के अनुकूल घटनाओं से शिक्षा लेनी चाहिए। रामायण, महाभारत में रावण, दुर्योधन एवं राम, युधिष्ठिर आदि के भी चरित्रों का वर्णन है। सबको प्रमाण मानकर व्यवहार में लाने से अव्यवस्था ही होगी। अतः रामायण से—'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' महाभारत से–'युधिष्ठिरादिवत् वर्त्तितव्यम् न दुर्योधनादिवत्' अर्थात् रामायण पढ़कर यह निष्कर्ष निकलना चाहिए कि रामादि के समान जनता को व्यवहार करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं। महाभारत से यह निष्कर्ष कि युधिष्ठिरादि के समान वर्ताव करना चाहिए, दुर्योधनादि के समान नहीं। वहाँ भी क्यों रामादि का व्यवहार ग्राह्य है ? क्यों रावणादि का व्यवहार अननुकरणीय है ? इसका भी अंतिम उत्तर यही है कि रामादि एवं युधिष्ठिरादि का व्यवहार वेदादि शास्त्रों के अनुसार था अतः अनु-करणीय था। रावणादि का व्यवहार वेदादि विरुद्ध होने से ऐतिहासिक होने पर भी अनुकरणीय नहीं। इस तरह अन्त में हर एक राष्ट्र एवं जाति को अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रीयता का आधार कोई न कोई ग्रन्थ (पुस्तक) मानना हो पड़ता है। हाँ, आप एक पुस्तक का प्रामाण्य न मानें, अनेक पुस्तकों का प्रामाण्य मानें,

पर कम से कम एक ग्रन्थ तो मानना ही पड़ेगा। आप स्वयं भी अपनी पुस्तक में अनेक पुस्तकों से प्रमाणभूत वचनों को अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। भले ही पुस्तक का नाम न लें, यहाँ तक कि कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, कांग्रेसी भी अपने-अपने मतों की पुष्टि में शास्त्रों के प्रमाण-वचनों का उद्धरण देते हैं। कोई-कोई पुस्तकों का नाम भी बड़े गौरव के साथ लेते हैं। अतः ये सभी एक ही नहीं, सैकड़ों पुस्तकों का प्रामाण्य मानकर ही उनका वचन उद्धृत करते हैं। फिर इस तरह आप कांग्रेसी, कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट से अच्छे कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

वस्तुतः आप लोग एक नहीं वेद से लेकर रामचरित मानस तक सैकड़ों पुस्तकों को प्रमाण मानते हैं। परन्तु उससे बँधते नहीं। किसी पुस्तक में आप लोगों के अनुकूल जो वचन हैं, उन्हें मान लेंगे, आपके मन्तव्यों, व्यवहारों के विरुद्ध जो वचन होंगे उन्हें आप बेखटके ठुकरा देंगे, पर यह अर्ध-कुक्कुटी-न्याय है। जैसे कोई मुर्गी के आधे अंश को खाना चाहे, आधे को अण्डा देने के लिए रखना चाहे। विचार-विनिमय के लिए आवश्यक है कि जिस प्रमाण को माना जाय उसे संपूर्ण रूप से माना जाय। तभी उसी प्रमाण के आधार पर विपक्ष की बात भी मानने को बाध्य होना पड़ता है। परन्तु अपनी बात सिद्ध करने के लिए आप सब शास्त्रों को मानते हुए विपक्षी द्वारा प्रत्युपस्थापित उन्हीं शास्त्रों के वचनों के सम्बन्ध में कह देंगे—हम किसी पुस्तक को अपने मत का आधार नहीं मानते। गीता और उपनिषदों के हजारों वचन आप उद्धृत करेंगे परन्तु जब आपके सामने—

"यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥"

जो शास्त्र-विधि को छोड़कर मनमाना काम करता है वह सिद्धि, सुख, परागति कुछ भी नहीं पाता। इसलिए तुम्हारी कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही परम प्रमाण है। अतः शास्त्र विधान से उक्त कर्मों को जानकर ही उनका अनुष्ठान करो ऐसे गीता के ही वचन रखे जायेंगे तब आप उन्हें मानने से इनकार कर देंगे। मनु की खूब प्रशंसा करेंगे, मनु के वचनों का अपने मन्तव्य सिद्धि के लिए खूब प्रयोग करेंगे। परन्तु जब मनु का ही "धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" धर्म जिज्ञासुओं के लिए श्रुति परम प्रमाण है, यह वचन आपके समक्ष रखा जायगा तब आप उसे भी अस्वीकार कर देंगे। फिर ऐसा ही करनेवाले संस्कृति विरोधी नास्तिक या अर्धनास्तिक कम्युनिस्टों कांग्रेसियों से आप अच्छे कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

वस्तुतस्तु अपने धर्म-संस्कृति या संघटन का आधार किसी धर्मग्रन्थ को न मानने से

ही ईसाई मुसलमानों से अच्छा नहीं बना जा सकता है किन्तु उनसे भी निकृष्ट बन जाना पड़ता है। ईसाई, मुसलमान कम से कम एक क को तो मानते हैं। उनके दीन, ईमान, संस्कृति, धर्म का कोई आधार तो है। परन्तु जिनकी संस्कृति का कोई आधारभूत प्रमाण ही नहीं हो, वे तो उनसे भी गये बीते ही समझे जायेंगे। जो किसी धर्म-ग्रन्थ को प्रमाण नहीं मानता है, उसके यहाँ मूर्ति में देवत्व किस प्रमाण से सिद्ध होगा? जननाशौच मरणाशौच का निर्णय कैसे होगा? उपनयन विवाहादि संस्कार किस आधार पर होगा? गर्दभचर्म की अपेक्षा व्याघ्र चर्म की पवित्रता किस आधार पर सिद्ध होगी? नरशिरः कपाल भी शंख के तुल्य क्यों पवित्र नहीं, गोमूत्र के तुल्य ही अन्य मूत्र पवित्र क्यों नहीं? अन्य नदियों से गंगा क्यों पवित्र है? सपिण्ड सगोत्र विवाह क्यों निषिद्ध है? भाई बहन का विवाह क्यों निषिद्ध माना जाय? शास्त्र प्रामाण्यवादी तो अपौरुषेय वेद एवं आर्ष वचनों के आधार पर इनकी व्यवस्था करता है। परन्तु जो किसी भी ग्रन्थ को नहीं मानता वह क्या करेगा? यदि किन्हीं अंशों में वेदादि धर्मशास्त्रों का प्रामाण्य मान्य हो तो अन्य अंशों में प्रामाण्य क्यों नहीं? यदि आप उन्हीं ग्रन्थों के किन्हीं अंशों के बल पर अपनी बात की पुष्टि करके दूसरों को मानने के लिए बाध्य करते हैं तो उन्हीं ग्रन्थों के अन्य अंशों के मानने में आप भी क्यों नहीं बाध्य किये जा सकते?

कोई भी विचार-विनिमय तभी चल सकता है जब दोनों ही पक्ष किसी समान आधार को लेकर साधन-बाधन में प्रवृत्त हों। इसीलिए जो शास्त्रप्रामाण्यवादी नहीं है, उसके प्रति शास्त्र-प्रामाण्य का स्थापन नहीं किया जा सकता।

यदि अन्य राष्ट्रीयताओं के संकुचित होने पर भी आपकी राष्ट्रीयता शुद्ध एवं उत्कृष्ट हो सकती है तब तो इसी तरह अन्य सम्प्रदायों के आधारभूत ग्रन्थों के पौरुषेय होने से उनमें भ्रम-प्रमादादि दूषणमूलकता हो सकती है। परन्तु अपौरुषेय ईश्वरीय निःश्वसित अकृत्रिम शब्दराशि वेद में भी शुद्धता पूर्णता निर्दोषता एवं पूर्ण प्रामाणिकता ही हो सकती है, फिर वेदादि शास्त्रों को संस्कृति का आधार मानने से पौरुषेय ग्रन्थ वाले अन्य सभी की अपेक्षा आप में अच्छाई क्यों नहीं हो सकती?

शास्त्रहीन राष्ट्रीयता RSS और हिन्दू धर्म

आप कहते हैं कि 'प्रेरणा का वास्तविक एवं चिरकालिक स्रोत राष्ट्रीयता की शुद्ध भावना से ही प्राप्त हो सकता है। हम सबकी पवित्र जननी भारतमाता के लिए जाज्वल्यमान प्रेम की भावना एक ही माता के पुत्र होने के नाते एक एवं अविभाज्य भ्रातृत्व की चेतना और अपने राष्ट्र के वैभवशाली अतीत में अपने अनुपम सांस्कृतिक उत्तराधिकार में गर्व तथा अपनी भारतमाता को विश्व के राष्ट्रों के मध्य उसके पुरातन वैभव एवं सम्मान के साथ देखने की आकांक्षा ही सतत एवं सशक्त प्रेरणा के रूप में कार्य कर सकती है। इस प्रेरणा से इस देश के बड़े से बड़े और छोटे से

छोटे व्यक्ति भी एक साथ खड़े होकर उनमें जो कुछ श्रेष्ठतम है, देश के हित से प्रस्तुत कर सकते हैं। केवल वही हमारे लोगों की अजेयशक्ति को वर्तमान संकट में पूर्णतया क्रियाशील बनायेगी तथा अजेय एवं एकात्म भारतमाता के प्रेरणादायी उस स्वरूप की उन्हें अनुभूति करायेगी जिसके एक हाथ में कमल अर्थात् उत्तम लोगों को वरदान देने की शक्ति तथा दूसरे हाथ में चक्र अर्थात् दुष्टों को संहार करने की शक्ति होगी एवं साक्षात् ब्रह्मतेज और छात्रतेज की मूर्ति भी (पृ० ३२२)।

परन्तु शास्त्रादि प्रमाणशून्य भावना सिवा भ्रान्ति के और कुछ नहीं विधुर परिभावित कामिनी साक्षात्कार भ्रमरूप ही माना जाता है। गुंजापुंज में अग्नि की भावना करनेवाला उसमें भावनावशात् कभी भी सत्य अग्नि नहीं पा सकता है। प्रतीकोपासना शास्त्र प्रमाण के आधार पर ही सफल होती है। शालिग्राम में विष्णुबुद्धि नर्मदेश्वर में शिवबुद्धि का मूल आधार शास्त्र ही है। शास्त्र बिना प्रतीकोपासना बन ही नहीं सकती। प्रभा या यथार्थज्ञान प्रमाण से ही होता है। प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि ही हो सकते हैं। भक्ति या भावना स्वतंत्र रूप से प्रभाजनक प्रमाण नहीं होते। प्रमाण सहकृत भावना और भक्ति अवश्य बहुमूल्य है। संग्रहालय (अजायबघर) या आपण (बाजार) की मूर्तियों एवं मंदिर की मूर्तियों में इसीलिए भेद है कि मंदिर में शास्त्रीय विधान सहकृत भक्तिभावना होती है, अन्यत्र वह नहीं होती।। जैसे भारतीयों के लिए भारतभूमि माता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के निवासी भी देश को अपनी मातृभूमि या देशपिता कहकर सम्मानित करते हैं और वे भी मातृत्व की भावना लेकर एक साथ खड़े होते हैं। अनुपम संस्कृति के उत्तराधिकर का गर्व अन्य लोगों को भी होता है। कमल बज्रधारिणी के रूप में भारतमाता का चिन्तन करना भी भावनामात्र है। उसमें भी प्रमाण रूप से शास्त्र अपेक्षित है। वस्तुतस्तु—भारत ही क्या संपूर्ण भूमि ही विष्णुपत्नी माधवी के रूप में शास्त्रानुसार पूज्य है तभी तो प्रत्येक भारतीय—

"समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥"

इस मंत्र से पर्वत स्तन मण्डल वाली समुद्रवसना धारित्री माधवी को विष्णुपत्नी रूप में पूजा करके ही इस पर पाँव रखता है। क्या यही बात भारत से अन्य भूमि के संबंध में भी नहीं कही जा सकती?

भगवाध्वज

आप कहते हैं कि कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, राष्ट्र के लिए आदर्श नहीं बन सकता है। श्री राम की लोग इष्टदेव के रूप में पूजा करते

हैं। इसीलिए भगवाध्वज को परम सम्मान के अधिकार-स्थान पर अपने सामने रखा है। (पृ० ३३४-३३५)

परन्तु क्या भगवाध्वज को सार्वभौम कहा जा सकता है ? यदि कुछ लोग राम के पूजक नहीं हैं तो भगवाध्वज के भी तो बहुत लोग पूजक नहीं हैं। भारत की विभिन्न पार्टियों के अपने ध्वज अलग-अलग हैं। अपने-अपने ध्वजों का महत्त्वगान सभी करते हैं। कोई भी ध्वज भावना की दृष्टि से पूज्य होता है। भावना बिना झण्डा दण्डा दोनों की जड़ कपड़ा और काष्ठ ही तो हैं। भारत के विभिन्न राज्यों के अलग प्रकार के ध्वज होते थे। भारत संग्राम में भीष्म, द्रोण, कर्ण, भीम, अर्जुन के रथ के ध्वज पृथक्-पृथक् थे। अर्जुन तो कपिध्वज के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। अतः सभी हमारे पूर्वज भगवाध्वज को ही मानते थे, यह तो नहीं ही कहा जा सकता। स्वामी समर्थ रामदास के संसर्ग से श्री शिवा ने भगवाध्वज अपनाया, संघ ने उसी को अपना आदर्श मान लिया, यह ठीक है। परंतु वह सार्वभौम, सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता। झण्डों का कपड़ा, दण्डा दोनों जिस राष्ट्र में पैदा होते हैं, वह देशभूमि, पत्थर, वृक्ष, वन, पहाड़, नदी कि बहुना संपूर्ण संसार ही जड़ है, क्षणभंगुर है, सत्य वस्तु तो सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही है। रामायण के राम और भागवत के कृष्ण, विष्णुपुराण के विष्णु, शिवपुराण के शिव एक ब्रह्म ही के भिन्न-भिन्न नामान्तर हैं। सभी प्रतीकों की अपेक्षा ब्रह्म या राम का महत्व बहुत अधिक है। हाँ, स्थूलदर्शियों के लिए वह ब्रह्म या राम सुलभ नहीं है। इसलिए उनकी चल-अचल मूर्तियों तथा प्रतीकों की पूजा की जाती है। प्रतीकों, मूर्तियों में भी शास्त्रविधि से देवता का आह्वान, प्रतिष्ठापन किया जाता है। इसी प्रकार ध्वजों में भी देवता का आह्वान प्रतिष्ठापन किया जाता है। अर्जुन के कपिध्वज में कपि हनुमान् स्वयं विराजते थे। कभी-कभी वे अपने गर्जन से भीम के निनाद को खूब आप्यापित कर देते थे। परन्तु जो शास्त्र या धर्मग्रन्थ से भागता है उसकी तो शुष्क भावना निष्प्राण ही होती है।

यों तो जड़वादी कम्युनिस्ट भी अपने झण्डे का सम्मान करते हैं। सभी राष्ट्रों के झण्डे आदरणीय होते हैं। इस दृष्टि से कोई भी ध्वज राष्ट्र का प्रतीक मानकर आदर-णीय हो ही सकता है। इतने पर भी यदि भगवाध्वज में असाधारणता बतायी जा सकती हो तो सभी ऋषि, महर्षियों द्वारा स्मृतियों, पुराणों, रामायण-भारतादि इतिहासों, तन्त्रों, आगमों द्वारा सम्मानित वेदादि सद्ग्रन्थों की असाधारणता क्यों नहीं मान्य हो सकती है ? अतः रामकृष्ण आदि देवों तथा वेदादि किन्हीं धर्म ग्रन्थों को सर्वोपरि महत्त्व न देकर भगवाध्वज को महत्त्व देने में कोई युक्ति, तर्क या प्रमाण नहीं है।

'भगवाध्वज हमारे राष्ट्रत्व का प्रतीक है' (पृ० ३३४) यह कथन ही सिद्ध करता है कि उसके लिए प्रमाण अपेक्षित है। कारण प्रतीकोपासना अवश्य ही प्रमाण

सापेक्ष है। ध्वज स्वयं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों में से कोई प्रमाण नहीं है। भावनावाला भक्त भावना के साथ उसकी पूजा करता रहे, उससे भले प्रेरणा लेता रहे पर वह सप्रमाण होने से ही सजीव हो सकता है। प्रमाण बिना तो निर्जीव ही रहता है।

शास्त्र बिना धर्म सिद्ध नहीं होता है। श्री गोलवकर और उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने शास्त्र का प्रामाण्य नहीं अंगीकार किया। इसीलिए वे धर्मस्वरूप के निर्णय में भी सफल नहीं हुए। श्री गोलवलकर 'विचार नवनीत' पुस्तक के ३४, ३५ पृष्ठ में लिखते हैं कि 'हमारे देश के कुछ लोग पवित्रसूत्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं जबकि कुछ लोग नहीं धारण करते हैं। कुछ चोटी रखते हैं, कुछ नहीं, ये वस्तुएँ उनके लिए कुछ अर्थ रखती हैं जो उन्हें मानते हैं, वे हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षणमात्र हैं। उन्हीं को धर्म समझ लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।' इन पंक्तियों को पढ़कर आश्चर्य होता है। जो हमारे धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के उद्धारक होने का दावा करते हैं, जो संस्कृति और धर्म का गीत गाते हैं उनके ये विचार हैं। उनकी इन पंक्तियों को पढ़कर यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि ये धर्म और संस्कृति के रक्षक हैं। वस्तुतः शिखा यज्ञोपवीत हिंदुओं के लिए सद धर्मों की जड़ है। शास्त्र वचन है 'सदोपवीतिनाभाव्यं सदाबद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥' (बौधायन) सदा यज्ञोपवीत धारण कर रखना चाहिए और सदा बद्धशिख रहना चाहिए क्योंकि शिखा, यज्ञोपवीत के बिना जो भी किया जाता है अकृत के समान व्यर्थ होता है। वेदों के अस्सी हजार कर्मकाण्ड बोधक मंत्रों एवं सोलह हजार उपासना बोधक मंत्रों का अधिकार प्राप्त करने के लिए ९६ चतुरंगुल का यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शास्त्रीय विधि के अनुसार शिखा, यज्ञोपवीत त्याग करके चार हजार ज्ञान प्रकाशक मंत्रों के अर्थाभ्यास का अधिकार प्राप्त होता है। संन्यास में भी दण्डगत मुद्रा आदि के रूप में यज्ञोपवीत रहता है, उस समय शिखा भी ज्ञानमयी रहती है। यदि शास्त्रसिद्ध वैदिक कर्मकांड के प्रतीक शिखा, यज्ञोपवीत का आदर हट जायगा तो भगवावस्त्र या ध्वज का सम्मान भी कैसे रह सकेगा?

वस्तुस्थिति तो यह है कि भगवावस्त्र का विधान तो कुछ निवृत्तिमार्गियों के लिए ही है, परन्तु शिखा यज्ञोपवीत तो ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थों तथा शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभादि सभी सम्प्रदायों में मान्य हैं। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट आदि सभी पार्टियों के हिन्दू यहाँ तक कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के जनसंघ के भी ब्राह्मणादि इसका सम्मान करते हैं, फिर अनादि शास्त्र, सम्प्रदाय, परम्परा सिद्ध वैदिक धर्म, संस्कृति के प्रतीक शिखा, यज्ञोपवीत को नगण्य समझने से

कृत्रिम ध्वज का सम्मान कहाँ तक टिक सकेगा ? शिखा तो हिन्दू मात्र का असाधारण अकृत्रिम झण्डा है। इसके लिए कितनी ही कुर्बानियां हुई हैं। लाखों व्यक्तियों ने शिखा के बदले शिर दे दिया है पर शिखा नहीं।

वेदों, उपनिषदों में सर्वत्र वैदिक धर्म-कर्म, ज्ञानोपासना के लिए वेद एवं वेदार्थ का ज्ञान आवश्यक बतलाया गया है परन्तु उस वेद की प्राप्ति उपनयन संस्कार के विना नहीं होती। उपनयन वेदाध्ययन का अंग है, यह बात पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों ही के अपशूद्राधिकरण में भलीभाँति स्पष्ट है। जैमिनी, व्यास, शबर, शंकर, कुमारिल, रामानुज, मध्वादि सभी ने इसका विस्तार से विवरण दिया है। अतः उपनयन धर्म ही नहीं सब वैदिक स्मार्त्त धर्मों का मूल भी है।

शूद्र, अन्त्यज आदि के लिए भी शिखा विधान है और उनके लिए विशेष रूप से ऋषियों ने इतिहास, पुराण, तन्त्रों, आगमों के रूप में वेदार्थ का प्रतिपादन करके उनके धर्मों का निरूपण किया है। जैसे प्रकृति एवं योग्यता के अनुसार चिकित्सा की जाती है, वैसे ही धर्म-व्यवस्था भी प्रकृति एवं योग्यता के अनुसार अधिकार सापेक्ष होती है। राजसूय यज्ञ में केवल क्षत्रिय का ही अधिकार है, ब्राह्मण का नहीं। कई यज्ञों में शूद्र का ही अधिकार है ब्राह्मणादि का नहीं। अस्तु।

आगे आप धर्म की दुहरी परिभाषा बताते हुए कहते हैं "प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क को उचित पुनर्वासन, तथा द्वितीय है सामञ्जस्यपूर्ण सांघिक अस्तित्व के लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों के लिए अनुकूल बनना अर्थात् समाज धारणा के लिए एक उत्तम व्यवस्था।" पहली परिभाषा का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं—"मनुष्य का मन एक पशु के समान है, वह कितनी ही वस्तुओं के पीछे भागता है और सभी के साथ एक हो जाता है। साधारणतः मन यह विचार करने के लिए नहीं रुकता कि क्या ठीक है, क्या गलत। वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी स्तर तक नीचे झुक सकता है। ऐसे मन के साथ मनुष्य की साधारण पशुस्तर से उच्च उठने की संभावना नहीं होती। अतएव मन को आत्मसंयम एवं कुछ अन्य महान् गुणों से संस्कारित करना है। अच्छे आचरण के वे लक्षण भगवद्गीता एवं हमारे अन्य पवित्र ग्रन्थों में विविध संदर्भों में उल्लिखित हैं। उन्होंने शरीर के लिए पाँच यमों और मन के लिए पाँच नियमों का वर्णन किया है। दूसरा है सामाजिक पहलू। मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण समाज के व्यापक हितों के साथ तालमेल बैठाना चाहिए। ये दोनों ही स्वरूप एक दूसरे के पूरक होते हैं, प्रथम पहलू की परिभाषा है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' इसका यह अर्थ है कि धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य की अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपयोग करते हुए भी दैवीतत्त्व अथवा शाश्वत सत्य

की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। द्वितीय स्वरूप है-"धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः" जिसका अर्थ है-वह शक्ति जो व्यक्तियों को एकत्रित लाती है और उन्हें समाज के रूप में धारण करती है, धर्म है। इन दो परिभाषाओं का मेल प्रकट करता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ एक ऐसे सुसंगठित समाज का निर्माण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने एकत्व का अनुभव करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है जो उसे सत्य चरमसत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।"

यद्यपि यम, नियमादि गुणों के द्वारा मन का परिष्कार करना परस्पर उपकार एवं सहानुभूति की भावना के साथ चरम सत्यानुभूति की ओर बढ़ना अच्छी वस्तु है, इसका समर्थन शास्त्रों में मिलता है। यम नियमादि गुणों का समर्थन भी शास्त्रों में मिलता है। बृहदारण्यक के मधु ब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक तत्त्व एक दूसरे के उपकारक बतलाये गये हैं, जैसा कि "इयं पृथिवी सर्वेषांभूतानां मधु, अस्य पृथिव्यैः सर्वाणि भूतानि मधुः, यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजो मयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽमयात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।" 'इमा आपः सर्वेषांभूतानां मधु' 'अयमाग्निः सर्वेषांभूतानां मधुः'—'अयमादित्यः सर्वेषांभूतानां मधुः'—(बृ० उ० २।५।१–३)। संपूर्ण विश्व के उत्पादन में जैसे ईश्वर कारण है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मजनित अदृष्टों के द्वारा समष्टि जीव भी कारण है। यही कारण है कि एक एक वस्तुओं से बहुत प्राणियों को सुख मिलता है, बहुतों को दुःख मिलता है। जिसका पुण्य उसके निर्माण में हेतु है, उसके लिए वह सुखजनक है। जिसका पाप उसके निर्माण में हेतु है उसके लिए वह दुःख का जनक है।

पृथिवी, जल, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, दिक्, धर्म, सत्य आदि प्रायः सबके उपकारक हैं। यही कारण है कि स्वाध्याय, यज्ञ, श्राद्ध, अतिथि-सत्कार, बलिवैश्वदेव आदि द्वारा न केवल मनुष्यों को ही किन्तु ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों एवं पशु-पक्षी, काक, श्वान, पिपीलिकादि सभी प्राणियों के तर्पण का विधान है। यही पंचमहायज्ञ कहलाता है। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है।

वास्तव में ईमानदारी की बात तो यह है कि जिससे जो बात लेनी है, घोषणापूर्वक लेनी चाहिए। अन्यथा शास्त्रों क बातों को ही लेते ए शास्त्रों के न मानने का घोषणा करनी चोरी ही कही जायगी। न मानने की घोषणा केवल इसलिए की जाती है कि शास्त्रों की जो बातें मोहवश हमें मान्य नहीं हैं, कहीं उन्हें मानने के लिए हमें बाध्य न होना पड़े। साथ ही यह भी ईमानदारी की बात है कि अगर आपको शास्त्र

नहीं मान्य है तो फिर अपनी बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों का उद्धरण नहीं देना चाहिए। शास्त्रों का उद्धरण देते हैं तो उन शास्त्रों को संपूर्ण अंशों में मानना चाहिए और उनका अर्थ भी उनकी पद्धति से ही करना चाहिए, मनमाने ढंग से नहीं। यहाँ आपने भगवद्गीता का नाम लिया है तो गीता के 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इस अंश का भी आदर करना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'हम किसी पुस्तक को अपने धर्म का आधार नहीं मानते' यह कथन कहाँ तक संगत है ?

उत्तम गुणों से मन की शुद्धि करना अच्छी बात है, बुरी नहीं, परंतु 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' इस कणाद दर्शन के सूत्र का यह अर्थ नहीं है। उसका तो सीधा अर्थ यही है कि जिस वेद प्रतिपाद्य वैदिक आचार-विचार से अभ्युदय लौकिक, पारलौकिक उन्नति एवं निःश्रेयस मोक्ष सिद्ध होता है, वह वैदिक आचार विचार ही धर्म है। इसीलिए वहीं आगे ईश्वर एवं उसकी कृति वेद का वर्णन आता है। पूर्वापर प्रसंग बिना मनमानी ढंग से यतः का आत्मसंयम या उत्तम गुण आदि अर्थ करना प्रमाणविरुद्ध है। जब मनमानी ही अर्थ करना है तो कोई यतः शब्द से अन्य विपरीत भी अर्थ ले सकेगा।

वस्तुतस्तु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम है। शौच, स्वाध्याय, संतोष, तप, ईश्वरप्राणिधान नियम है। परन्तु उपर्युक्त गुण भी कैसे आएंगे ? इसके लिए भी साधना की आवश्यकता है। बिना मन पवित्र हुए अहिंसा, सत्य का पालन कैसे होगा ? ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी मनः शुद्धि बिना कैसे होगा ? इस तरह तो जब मनःशुद्धि हो तभी उक्त गुण आ सकते हैं और उक्त गुण हों तो मनःशुद्धि होगी। इस तरह क्या अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा ? इसी प्रकार शौच पवित्रता क्या है आन्तर या बाह्य ? आन्तर ही है तब अहिंसा आदि से ही वह गतार्थ है। यदि बाह्य पवित्रता भी अपेक्षित है तो वह क्या है। बिना शास्त्र प्रामाण्य स्वीकार किये उसका ज्ञान कैसे होगा ? क्या केवल सफाई या स्वच्छता ही पवित्रता है ? यदि हाँ तो क्या स्वच्छ और शौचस्थलीय चमकीले पात्र में भोजन करना भी मान्य है ? जनन मरण के अशौच कितने दिन कैसे मान्य होंगे ? काक, गृध्र, गौ, गर्दभ, शंख, नर-शिरः कपाल, स्वस्त्री, परस्त्री, ब्राह्मणादिभेद और शुद्धि-अशुद्धि का क्या रूप होगा ? स्वाध्याय किसका होगा ? ईश्वर प्रणिधान का क्या रूप होगा ? क्या इन संबंधों की शास्त्रीय व्याख्याएँ मान्य होंगी ? या यहाँ भी मनमानी ही चलेगी ? स्पष्ट है कि शास्त्र प्रामाण्य बिना किसी का भी निर्णय एवं अनुष्ठान नहीं बन सकेगा।

वस्तुतस्तु शास्त्रोक्त धर्म ही मन के संस्कारक होते हैं, मन ही क्यों मन्वादिधर्म-शास्त्रों के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन आदि सभी का शोधन आवश्यक होता है। 'कण्टकेन कण्टकोद्धारः', 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि,

अहंकार की पाशविक कामचार, कामवाद, कामभक्ष आदि चेष्टाओं का बाध करने के लिए ही वैदिक धर्म-कर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है।

देहादि के शास्त्रोक्त व्यापार से ही पाशविक व्यापार का अंत हो सकता है। शास्त्रीय काम-कर्म ज्ञान से ही पाशविक काम कर्मज्ञान की निवृत्ति हो सकती है। ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर शास्त्रोक्त विधान के अनुसार शौच, स्नान, सन्ध्या-वंदनादि नियमों से ही सूर्योदय तक सोते रहने, उठते ही सदाचार निरपेक्ष भोजन, पान, अनर्गल प्रलाप, असत् साहित्याध्ययन आदि की निवृत्ति हो सकती है। शास्त्रीय विचार-धाराओं से ही स्वार्थमयी, रागमयी पाशविक विचारधाराओं का बाध होता है। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इन वेदमंत्रों में स्पष्टरूप से यही कहा है। अविद्या अर्थात् शास्त्रविहीन विद्या सदृश वैदिक काम कर्म ज्ञान से मृत्यु अर्थात् पाशविक काम कर्मज्ञान का अतिक्रमण करके विद्या अर्थात् परमेश्वर की सगुणोपासना से अमृतत्व अर्थात् सगुण ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। तब वैदिक कर्म और उपासना के समुच्चयानुष्ठान रूप अविद्या से सर्वविध एषणारूप मृत्यु को पार करके विद्या अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार से अमृतत्व परमपद प्राप्त किया जाता है। गीता भी यही कहती है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' अपने वर्णाश्रमानुसारी श्रौतस्मार्त्त धर्मों का अनुष्ठान करके उसी से परमेश्वर की अर्चना, अराधना करके प्राणी अन्तःकरण शुद्धि एवं ब्रह्मज्ञान रूप सिद्धि प्राप्त करता है। श्रीमद्-भागवत ने इसी का और स्पष्टीकरण किया है—

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥" (श्री.भा.म.पु. ११।४।४५)

जो प्राणी अधिकारी होकर भी वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करता वह अज्ञ एवं अजितेन्द्रिय रहकर विकर्म का शिकार होकर मृत्यु से पुनः मृत्यु को ही प्राप्त होता रहता है। अतः

'वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥"

(श्री० भा० म० पु० ११।४।४६)

अर्थात् जो अपने अधिकारानुसार वेदोक्त कर्म का परमेश्वराराधन बुद्धि से निःसंग होकर अनुष्ठान करता है, वह शीघ्र ही सत्व शुद्धि क्रमेश सर्व-कर्म-बाध साध्य नैष्कर्म्य ब्रह्मसाक्षात्कार एवं ब्रह्मतादात्म्य को प्राप्त कर लेता है। वेदों में विभिन्न (स्वर्ग, पशु, पुत्रादि) फलों का वर्णन तो केवल वैदिक कर्म प्रवृत्ति के लिए प्रशंसार्थवाद मात्र है। जैसे माता गड्ची‌पान के लिए शिशु को मोदक प्रदान का प्रलोभन देकर प्रवृत्त करती है, बालक भले ही गड्ची पान का फल मोदकप्राप्ति समझे,

माता तो रोग निवृत्तिपूर्वक स्वास्थ्यलाभ ही उसका प्रयोजन समझती है। मादन प्रदान करती हुई भी मोदक प्राप्ति उसका मुख्यफल नहीं समझती। वैसे ही पुत्र-ऐश्वर्य-स्वर्गादि प्राप्ति वेदोक्त कर्म का मुख्य फल नहीं है। मन एवं इन्द्रियाँ कोई स्थूल वस्तु नहीं हैं जिनकी शुद्धि स्थूल रीति से हो जाय। शास्त्र-विधि से ही उसकी शुद्धि हो सकती है।

संस्कार

जैसे खान में उत्पन्न होने वाले मणि आदि रत्नों में संस्कार द्वारा चमत्कृति उत्पन्न होती है। वैसे ही संस्कारों द्वारा ब्राह्मणादि वर्णों की चमत्कृतियां उत्पन्न होती हैं। लोक में मलापनयन, अतिशयाधान एवं हीनांगपूर्ति-भेद से संस्कार तीन प्रकार के होते हैं। दर्पणादि में चूर्ण निघर्षणादि द्वारा मलापनयन रूप संस्कार किया जाता है। हस्तिमस्तक या यूप आदि में सिंदूर, तैल, रोगन आदि विलेपन द्वारा अतिशयाधान रूप संस्कार किया जाता है। पशु, छुरिका आदि में काष्ठ, दण्ड, बेंट आदि लगाकर हीनांगपूर्तिरूप संस्कार किया जाता है। इसी तरह मनु के अनुसार गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, उपनयनादि संस्कारों द्वारा वर्णों का संस्कार किया जाता है। इससे भी तो गर्भज तथा पिता के वीर्यजनित दोषों का निराकरण होता है :—

> **"वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।**
> **कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥"** (मनु० २।२६)

अर्थात् वैदिक शुभमंत्रयुक्त कर्मों से द्विजातियों का गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिए। वह पावन है, पापक्षय का हेतु है। संस्कृत का ही यागादि संबंध होता है, असंस्कृत का नहीं। अतः संस्कार परलोक के सुख का भी साधन है। वेदाध्ययनादि अधिकार का प्रापक होने से इस जन्म में भी पुण्य का हेतु है—

> **'गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।**
> **वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥"** (म० २।२७)

होममय एवं होमभिन्न मंत्रयुक्त स्वर्णशलाका संसृष्ट घृतप्राशनादि जातकर्म, चूडाकर्म, मौञ्जीबन्धन आदि संस्कारों के द्वारा बीजसम्बन्धी मातृगर्भ वासादि संबंधी दोषों का निवारण हो जाता है। मन, बुद्धि की शुद्धि के पहले शरीरेन्द्रिय शुद्धि की भी अपेक्षा होती है।

'अन्नमयं हि सौम्यमनः' छान्दोग्य के अनुसार मन भी अन्नादि भौतिक पदार्थों से आप्यायित होता है। अतः मादक भंगक, सुरा आदि का मन पर स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। इसीलिए अन्न-जल की शुद्धि का भी प्रभाव मन पर पड़ता है। अशुद्ध

आचरण वाले व्यक्ति से दत्त एवं अशुद्ध व्यक्ति से निर्मित एवं स्पृष्ट अन्न-जल से भी मन की अशुद्धि बढ़ती है। इसीलिए अतिथि-सत्कार बलिवैश्वदेवादि कर्मों के द्वारा कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, मार्जनी, उदकुम्भी संबंधित हिंसादि दोषों को मिटाकर अन्न शुद्ध करके परमेश्वर को अर्पण करके भोजन करने का विधान है। आज के जितने भी उत्पादक, पालक, संहारक यंत्र हैं, वे सभी मन, बुद्धि, मस्तिष्क, दिमाग रूपी ईश्वर निर्मित यंत्र से ही आविष्कृत हुए हैं। कोई भी यंत्र स्वतंत्र प्रकृति की हलचल या परमाणु तथा विद्युत्कणों के चेष्टाविशेषों के परिणाम न होकर किसी— ज्ञानवान्, इच्छावान्, चेष्टावान् चेतन वैज्ञानिक से ही आविर्भूत हुए हैं। जैसे लौकिक यंत्रों के रक्षण एवं स्थायित्व के लिए उनका मार्जन, प्रक्षालन, स्नेहन, विश्रमण आदि परिष्कार संस्कार आवश्यक हैं, वैसे ही मनुष्य के देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, दिल, दिमाग रूपी यंत्र का भी परिष्कार संस्कार अपेक्षित होता है। जैसे स्थायित्व हेतु संस्कारों का पूर्णज्ञान यंत्रनिर्माता वैज्ञानिक को ही होता है, अतः उसके निर्देशा-नुसार ही यंत्र का परिष्कार रक्षण संचालन हो सकता है, उसके विपरीत एकतंत्री छिद्र आदि की कमी-बेशी से यंत्र निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी हो जाता है। उसी तरह ईश्वर निर्मित देहादि यंत्र की रक्षा, परिष्कृति आदि भी ईश्वरीय शास्त्रों के निर्देशानुसार ही होनी चाहिए। उन्हीं ईश्वरीय वेदादि शास्त्रों द्वारा विहित संस्कारों से इनका परिष्कार होता है। सन्ध्योपासनादि संबंधी मंत्रों में देह, इंद्रिय, मन, वाणी आदि के असत् व्यवहारों अभोज्य भोजन अकार्य करणादि के निवारण का उल्लेख है।

मनु के अनुसार वेदाध्ययन एवं मांसादि वर्जनरूप व्रतों, सावित्र चरुहोमादि, सायं, प्रातरादि अग्निहोत्र होमों, त्रैविधकर्मों ब्रह्मचर्यावस्था में देवर्षि-पितृ तर्पणादि रूप इज्याओं एवं सन्तति प्रवर्त्तन तथा ब्रह्म यज्ञादि पंचमहायज्ञों एवं ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के द्वारा यह शरीर तथा इन्द्रिय मन-बुद्ध्यादि विशिष्ट आत्मा ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है :—

> "स्वाध्यायेन व्रतैर्होमै त्रैविद्यैनेज्यया सुतैः।
> महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥" (मनु० २।२८)

अनाचार-दुराचार परिवर्जनों तथा शास्त्रीय सदाचारों धर्मानुष्ठानों मंत्रादि जपों एवं उपासनाओं द्वारा ही देह, इन्द्रिय, मन आदि का परिष्कार होता है। तभी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन हो सकेगा। यमों के पहले नियमों का पालन आवश्यक होता है। शौच, संतोष, तप आदि सब नियमों में परिगणित हैं। केवल व्याख्यानों, गीतों के सुनने या गाने तथा कबड्डी खेलने से यह सब संभव नहीं, मनमानी खान-पानों से तो उलटे अशुद्धि ही बढती है।

स्मृतियों के अनुसार १६ श्रुतियों के अनुसार ४८ संस्कार कहे गये हैं। संक्षेप में सभी वैदिक कर्म देह इन्द्रिय मन बुद्धि आत्मा के मलापनयन करके उनमें अतिशयाधान करते हैं तथा हीनांग की पूर्ति करते हैं। अतः सब संस्कार हैं। शास्त्रों एवं तदुक्त संस्कारों की उपेक्षा करना और संस्कृति के रक्षण का दावा करना परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। संस्कृति शब्द की निष्पत्ति भी सम् उपसर्ग पूर्वक कृञ् धातु से क्तिन् प्रत्यय एवं भूषणार्थ के सुट् आगम से होती है। उसका अर्थ होता है सम्यक् भूषणभूत कृति अर्थात् देहादि की वे चेष्टायें संस्कृति हैं, जो सम्यक् हों और भूषणभूत चेष्टाओं की सम्यक्ता असम्यक्ता भूषणता दूषणता का निर्णय प्रमाण की कसौटी पर ही निर्धारित हो सकता है। तथा च देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की वे चेष्टाएँ जो लौकिक पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस की हेतुभूत हों और प्रत्यक्षानुमानागमादि प्रमाणों से यथायोग्य प्रमित एवं समर्थित हों वे ही संस्कृति हैं। १६ या ४८ संस्कार तथा अन्यान्य शास्त्रनिर्दिष्ट दृष्टादृष्ट कल्याण साधनीभूत देहेन्द्रियादि चेष्टा या व्यापार संस्कृति है।

आजकल तो जहाँ कुछ लोग नृत्य-गीत आदि समारोह को सांस्कृतिक समारोह की संज्ञा दे रहे हैं, वहाँ आप लोग सामूहिक रूप से मनमानी खान-पान, कबड्डी खेलने एवं राष्ट्रमाहात्म्य बोधक गीत गाने को ही संस्कृति मानते हैं।

धर्म, दर्शन, इतिहास, सदाचार, भाषा (भावाभिव्यञ्जक कलाओं का भी भाषा में ही अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए) इन पाँच विभागों में संस्कृति का स्वरूप समझा जा सकता है। उनमें धर्म केवल शास्त्र-गम्य है। ब्रह्म शास्त्रसापेक्ष तर्क एवं अनुभव से गम्य है। सदाचार धार्मिक शिष्टों की परम्पराओं से धर्मनियन्त्रित राजनीति से वेदानुगुण धर्मशास्त्रों एवं नीतिशास्त्रों से ज्ञेय है। मुख्य इतिहास वेदोप-बृंहणात्मक आर्ष रामायण, भारतादि इतिहासों एवं पुराणों से वेद्य होता है। उक्त संस्कारों से संस्कृत निष्पक्ष सत्यव्रत शिष्टों द्वारा लिखित ग्रन्थों से सामयिक इतिहास का ज्ञान होता है। वेदार्थानुष्ठायी सिद्ध महर्षियों के वेदाविरुद्ध तर्कों से दर्शन का ज्ञान होता है। इन्हीं संस्कारों को जन-जन में फैलाने के लिए भाषाओं एवं कलाओं का उपयोग होता है। सार यह है कि इन्हीं संस्कारों से मन ही नहीं, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं तद्विशिष्ट आत्मा का भी संस्कार होता है। संस्कृत आत्मा ही व्यावहारिक अभ्युदय तथा चरम सत्य ब्रह्म प्राप्ति में समर्थ होता है।

"धारणाद्धर्मः" इस परिभाषा का भी निष्कर्ष वही है जो कणाद के सूत्र का है। व्यक्ति एवं समाज का अविरोधेन तालमेल जोड़ना तो प्रत्यक्षादिगम्य लौकिक कौशलमात्र है। यह केवल हिन्दू धर्म की ही विशेषता नहीं अपितु विश्व के अन्य

देशों और समाजों में भी यह अनिवार्य रूप से प्रचलित है। यहाँ तक कि मधु-मक्खियों तथा कपोतों में भी ऐसा समन्वय सामञ्जस्यपूर्ण संघटन होता है। हर एक का संगठन होता है। हर एक संघटन में सहिष्णुता, उदारता, परस्परोपकारिता की अपेक्षा होती है। सामान्यतया सभी अपने दुःख में रोते और अपने सुख में प्रसन्न होते हैं। किन्तु विशिष्टजन सर्वत्र ही दूसरों के ही दुःख-सुख में रोते और प्रसन्न होते हैं।

'धृञ्' धारणे या 'डुधाञ्' धारण पोषणयोः इन धातुओं से धर्म शब्द की निष्पत्ति होती है। तथा च जिससे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का धारण, पोषण, संघटन, समन्वय, सांमजस्य, सौमनस्य, लौकिक पारलौकिक अभ्युत्थान, परमेश्वर का अंतरंग सन्निधान हो वही धर्म है। जिससे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में विघटन वैमनस्य सर्वप्रकार का पतन परमेश्वर का व्यवधान हो, वही अधर्म है।

परन्तु ऐसी कौन वस्तु है इसका निर्णय भी मानव बुद्धिमात्र पर नहीं छोड़ दिया गया है। अतएव उस वस्तु का साक्षान्निर्देश—'चोदना लक्षणोऽर्थः' इस जैमिनिसूत्र में बताया गया है। जिसका सार यह है कि प्रवर्त्तक वैदिक विधियों से कर्त्तव्यत्वेन विहित कर्मोपासनादि धर्म हैं। निवर्त्तक वैदिक निषेधों से निषिद्ध देहेन्द्रिय मन बुद्धि आदि की चेष्टाएँ अधर्म हैं। विहित चेष्टाएँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सबके सर्वविध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के हेतु हैं, निषिद्ध चेष्टाएँ सबके पतन विघटन परमेश्वर व्यवधान के हेतु हैं। अधर्म वर्जन धर्म-सेवन से शुद्ध बुद्धि होने पर सहिष्णुता उदारता परहितैषिता राष्ट्र विश्वकल्याणभावना एवं संघटन समन्वय की प्रवृत्ति सौमनस्य सामंजस्य की भावना अपने आप होती है।

३६ पृष्ठ में आप यह भी कहते हैं कि 'व्यक्ति बिन्दु के तुल्य आगमापायी है। समाज गंगा प्रवाह के तुल्य नित्य है। यही शंकराचार्य का नित्यानित्य विवेक है।' पर यह ठीक नहीं है। श्री शंकराचार्य के नित्यानित्य विवेक का अर्थ स्व-प्रकाश अखण्ड बोधानन्दस्वरूप परमात्मा नित्य है तद् भिन्न सब संसार अनित्य है। नित्यानित्य के विवेक का परिणाम है वैराग्य। वैराग्य से शमदमादि सम्पत्त्यादि क्रमेण उत्कटमुमुक्षुत्व, जिज्ञासुत्व एवं श्रवण मननादि क्रमेण ब्रह्म प्राप्ति होती है। यहां व्यक्ति और समाज के लिए बिन्दु और प्रवाह का दृष्टान्त संगत नहीं है। शरीरादि के अनित्य होने पर भी जीवात्मा नित्य ही होता है यह मानने से ही शास्त्र, धर्म, परलोक की मान्यता चल सकती है। इसके बिना आस्तिकता परहितार्थ प्रयत्न और प्राणोत्सर्ग की भावना नहीं बनती।

दृष्टान्तभूत विन्दु और प्रवाह दोनों ही अनित्य हैं क्योंकि विन्दुओं का समूह ही तो प्रवाह है। समूहियों के अनित्य होने पर सुतरां समूह की भी अनित्यता होगी। ऐसा मानने पर तो चार्वाक मत में प्रवेश होगा, फिर तो—

"यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥"

की भावना होगी। किन्तु प्रकृत में तो व्यक्ति भी आत्मरूप से नित्य है। समाज भी समष्टि रूप से नित्य है। व्यष्टि व्यक्ति विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप से जीव है। समष्टि, विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत रूप से ईश्वर है। व्यष्टि समष्टि दोनों की अधिष्ठान रूप में पूर्ण एकता है। परन्तु व्यवहार दशा में व्यष्टि से ही समष्टि का निर्माण और समष्टि से व्यष्टि का आप्यायन होता है। जैसे वृक्षों का समुदाय ही वन है। वृक्षों के रुग्ण होने पर वन रुग्ण होगा। वृक्षों के स्वस्थ समुन्नत होने से वन स्वस्थ समुन्नत होगा। वैसे ही व्यक्ति के दरिद्र दीन-हीन होने से समाज दरिद्र दीन-हीन होगा। व्यक्तियों के हृष्ट पुष्ट विद्वान् बलवान् होने पर समाज भी हृष्टपुष्ट विद्वान् बलवान् होगा। व्यक्तियों की प्रातिस्विक उन्नति से समाज की स्वाभाविक उन्नति होगी। हां, व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिये उससे समाज की हानि न हो। व्यक्ति, जाति, समाज, राष्ट्र सभी को समष्टि विश्व के हित का ध्यान रखते हुए ही आत्महित का प्रयत्न करना चाहिये। व्यक्ति को जाति-हित के अविरोधेन जाति को समाजहित तथा समाज को राष्ट्रहित के अविरोधेन राष्ट्र को विश्व के अविरोधेन स्वात्मोन्नति का पूर्ण अधिकार ही नहीं किन्तु अनिवार्य एवं परमावश्यक भी है, क्योंकि व्यष्टि के पतन से समष्टि का पतन और उसके उत्थान में ही समष्टि का उत्थान होता है। व्यष्टि का समुदाय ही समष्टि होता है।

अगर हम दूसरों के उत्थान एवं सुधार करने में प्रयत्नशील रहें, अपने सुधार उत्थान का प्रयत्न न करें तो व्यष्टि समष्टि किसी का भी उत्थान न होगा। प्रसिद्ध है—एक ग्राम के नेता ने ग्रामीणों को रात्रि में एक कुण्ड में सबको एक-एक पाव दूध डालने को कहा, सबने स्वीकार कर लिया। परन्तु डालने का समय आने पर एक ने सोचा सब तो दूध डालेंगे ही मैं एक पाव पानी डाल दूं तो किसी को क्या पता लगेगा और उसने वैसा ही किया। परन्तु दैवात् सभी के मन में वैसी ही बात आ गयी और सबने पानी ही डाला। कुण्ड में सफेदी तक न हुई।

आज यही तो देखा जा रहा है—अहिंसा, सत्य, यम, नियम-पालन का उपदेश करने वाले दूसरों को उपदेश करते हैं परन्तु स्वयं वैसा नहीं करते; फलतः उनके अनुयायियों में जितना जाल-फरेब हिंसावाद दलबंदी पक्षपात भ्रष्टाचार चलता है, उतना

सामान्य लोगों में नहीं देखा जाता है। इसीलिए शास्त्रों में सर्वत्र कर्मों एवं कर्मफलों का वैयक्तिक संबंध ही उपदिष्ट है। व्यक्तियों के धार्मिक होने पर समाज सुतरां धार्मिक हो जाएगा। इसीलिए कहावत है "स्वयं तीर्णः परान् तारयति। स्वयं भ्रष्टः परान् भ्रंशयति।" स्वयं तीर्ण ही दूसरों को तारता है। स्वयं भ्रष्ट दूसरों को भ्रष्ट करता है।

समष्टिसेवा विराट् सेवा है। कोई भी समष्टि व्यष्टि के लिए अपेक्षित ऐसी बात नहीं है जो शास्त्रों में न हो। अतएव समाज, राष्ट्र या विश्वसेवा भी तत्व साक्षात्कार एवं उपासना का ही एक अंग है। साधक को अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान सर्वातीत स्वप्रकाश ब्रह्म को साक्षात्कार करने के पहले व्यष्टि अभिमान मिटाकार समष्टि अभिमान बनाकर व्यष्टि समष्टि के ऐक्य का अनुसंधान करके अहंग्रहोपासना करनी पड़ती है। जैसे घट उपाधि के विलीन कर देने पर फिर घटाकाश महाकाश दोनों एक ही हो जाते हैं वैसे—ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। व्यष्टि अभिमान मृत्यु है समष्टि अभिमान ही अमृतत्व है। फिर भी अनादिकाल से व्यष्टि देहादि में अभिमान निरूढ़ है। उसको मिटाने के लिए दीर्घकाल तक उपासना करनी पड़ती है।

साधक को व्यष्टि के स्थूल जाग्रत अवस्थाभिमानी विश्व, सूक्ष्म स्वप्न के अभिमानी तैजस, एवं कारण सुषुप्ति के अभिमानी प्राज्ञ को समष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण अवस्थाओं के अभिमानियों विराट् हिरण्यगर्भ अव्याकृत कारणात्माओं के साथ अभेदोपासना करनी पड़ती है। पहले व्यष्टि अभिमान मिटा कर विश्व अपने को विराट में लीन करके अपने को 'मैं महाविराट हूं' ऐसा चिंतन करता है। फिर तैजस हिरण्यगर्भ की एकता का अनुसंधान करके विराट को हिरण्यगर्भ में लीन करके अपने को हिरण्यगर्भ रूप समझकर मैं ही समष्टि सूक्ष्म प्रपंचाभिमानी हिरण्यगर्भ हूँ, ऐसी उपासना करता है। तदनन्तर प्राज्ञ एवं अव्याकृत का ऐक्यानुसन्धान करके हिरण्यगर्भ को कारण अव्याकृत में विलीन करके मैं समष्टि कारणात्मा अव्याकृत ईश्वर हूँ, ऐसी उपासना करता है। इस उपासना के परिपक्व होने के अनन्तर परमसत्य शुद्ध ब्रह्म में अहं ब्रह्मास्मि बुद्धि होती है। महाविराट् में ही अहं बुद्धि हो जाने पर समष्टिहित ही साधक का अपना हित हो जाता है। जब हमारा अभिमान व्यष्टि देह तक ही सीमित रहता है तब हम व्यष्टि के दुःख में दुःखी और उसके ही सुख में सुखी होते हैं। उसके सुख प्राप्ति दुःख निवृत्ति के उपायों एवं साधन संग्रहों में लगे रहते हैं। परन्तु जब समष्टि विराट् अहंता का आस्पद हो जाता है तब तो समष्टि के हित की ही चिन्ता रह जाती है। समष्टि का सुख ही उसका सुख होता है। फिर वह समष्टि की दुःख निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील होता है। परन्तु समष्टि विराट् में अहन्ता के प्रथम उसमें ममता होनी आवश्यक होती है। देहादि ममता के आस्पद होते हैं। तभी उनमें अहन्ताबुद्धि भी

होती है। अहं गौरः, अहं स्थूलः, अहं कृष्णः, अहं कृशः आदि व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। अतः पहले जैसे हमारे पुत्र कलत्र मित्र में ममत्व रहता है, उनके हित-चिन्तन उनके सुख प्राप्ति, दुःख निवृत्ति के साधन-संग्रहों में लगे रहते हैं; वैसे विराट् में ममत्व होने से हम समष्टि विराट् या विश्व के हितसाधन में ही लगे रहेंगे। फिर भी एकाएक विराट् में ममत्व होना कठिन होता है। अत: धीरे-धीरे व्यष्टि का अभिमान छोड़ते हुए समष्टि अभिमान बढ़ाया जाता है। अति साधारण प्राणी व्यष्टि देह में ही ममत्व रखता है। उसके सुख दुःख में ही सुखी-दुःखी होता है। परन्तु उसकी अपेक्षा अपने पुत्र कलत्रादि में ममत्व करके उनके हित में लगनेवाला पहले से उत्कृष्ट समझा जाता है। धीरे-धीरे उस ममता की संकीर्ण सीमा मिटाकर विस्तृत सीमा बनायी जाती है। पुत्र कलत्र मात्र में सीमित ममत्व बढ़ाकर प्राणी अपने अन्य सगे संबंधी जाति बिरादरी में ममत्व करता है। फिर उसको बढ़ाकर अपने ग्राम मण्डल एवं प्रान्त में ममत्व करके निरन्तर उसके हितसाधन में लगता है। उसको भी बढ़ाकर अपने राष्ट्र में ममत्व करता है। तब राष्ट्र के धारण, पोषण, अभ्युत्थान में राष्ट्र की सुख-प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के काम में लग जाता है। आगे चलकर विश्व फिर ब्रह्माण्ड और फिर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रूपी महाविराट् में ममत्व करके उसके हिताचरण में वैसे ही लीन हो जाता है जैसे व्यष्टि देहाभिमानी अपने देह के पोषणभूषण वसन संग्रह में लगा रहता है—

> 'सेवत सीय लषण रघुबीरहिं।
> जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥'

हां तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तो इस उपासना की एक निम्न श्रेणी की अवस्था है। जब सम्पूर्ण विराट् में पूर्ण ममत्व सम्पन्न हो जाता है तब उसमें अहंता बन सकती है। तब क्रम से हिरण्यगर्भ में अव्याकृत ब्रह्म में फिर कार्यकारणातीत चरम सत्य विशुद्ध ब्रह्म में स्वात्म तादात्म्य रूप से सुप्रतिष्ठा होती है। इन भूमिकाओं में समष्टि में व्यष्टि का लय हो जाता है। यहां व्यष्टि का समष्टि से पृथक् कोई स्वार्थ नहीं होता है। व्यष्टि भावरूप मृत्यु को अतिक्रमण करके समष्टि भावरूप अमृतत्व प्राप्त करना ही व्यष्टि के लिए पुरुषार्थ भी है। परन्तु इस उत्कृष्ट अवस्था पर पहुंचने के पहले समष्टि अविरोधेन व्यष्टि को आत्मोन्नति का जीतोड़ प्रयत्न करना ही चाहिए। इसी तरह जातीय एवं सामाजिक अभ्युत्थान का प्रयत्न भी राष्ट्र के अभ्युदय का ही हेतु होता है। क्योंकि अनेक व्यक्तियों, जातियों, समाजों, ग्रामों, मण्डलों, प्रांतों का समुदाय या समष्टि ही राष्ट्र होता है, फिर भी वैयक्तिक कौटुम्बिक जातीय उन्नति के काम में संलग्न होते हुए भी इतना अधिक लिप्त नहीं हो जाना चाहिए कि राष्ट्रहित के कामों के लिए अवसर ही न मिले या उसकी उपेक्षा हो जाय। इसी तरह राष्ट्र के हित में लगे रहते हुए भी अन्ताराष्ट्रिय विश्वहित की भी उपेक्षा न होने देनी चाहिए, न उसमें बाधा ही

आने देनी चाहिए। अतएव व्यष्टि समष्टि दोनों का समन्वय ही आवश्यक है। किसी पक्ष में राग के अतिरेक से इतर पक्ष की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

श्री मा० स० गोलवलकर की पुस्तक 'विचार-नवनीत' के आरम्भ में ही कुछ लोगों के अन्ताराष्ट्रियता वाद का वर्णन किया गया है। उनके अनुसार कोई भी उपक्रम जिसे हम अंगीकार करें वह देश जाति अथवा धर्म की सभी सीमाओं से परे एक महत् जागतिक विचार के व्यापक आधार पर अधिष्ठित तथा सम्पूर्ण मानवता के हितसाधन करने में समर्थ होना चाहिए...क्योंकि आज राकेटों के युग में...देश की सीमा रेखाएं अर्थहीन हो चुकी हैं, सम्पूर्ण संसार सिकुड़ गया, उन्हें लगता है, देश राष्ट्र की कल्पना ही कालातीत हो गयी।"

इस सम्बन्ध में श्री गोलवलकर का यह कहना ठीक है कि यह विचार भारत के लिए नवीन नहीं है, क्योंकि—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

इत्यादि भावनाओं के अनुसार यहां के मनीषी सब को सुखी एवं नीरोग देखना चाहते थे। सभी को भद्रदर्शी और सभी को दुःखहीन बनाना चाहते थे। यहां 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का आधुनिक भाव बहुत पीछे रह जाता था। इतना ही नहीं आधुनिक लोग पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ाने के साथ आगे बढ़े हुए लोगों को पीछे खींचकर बराबर लाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु हमारे यहाँ तो पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न होता था और आगे बढ़े हुए लोगों को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न होता था।

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम्॥

जिनको पुत्र नहीं है, उन्हें पुत्र मिले। पुत्र वालों को पौत्र मिले। निर्धन को धन मिले। धनवानों को दीर्घायु मिले। दुर्जनों को भी सज्जन बनाने की भावना ही हमारे यहाँ की विशेषता है। "अमृतस्य पुत्राः" (ऋ० सं० १०।१३।१) इस ऋग्वेदीय मंत्र के अनुसार प्राणिमात्र अमृत परमेश्वर का पवित्र पुत्र है। सभी चेतन अमल सहज सुखराशि अमृत ब्रह्मरूप ही हैं। जैसे आकाश से गिरा हुआ पवित्र पानी भी मलिन भूमि के संसर्ग से मलिन हो जाता है, वैसे ही मलिन कामकर्म एवं मलिन माया के संसर्ग से अमृत पुत्र जीव भी मलिन होकर खल या दुर्जन भी हो जाते हैं। जैसे निर्मलीबूटी आदि के प्रयोग से मलिन जल फिर से शुद्ध हो सकता है, वैसे ही दुर्जन भी सज्जन हो सकते हैं। इसीलिए जहाँ दूसरे लोग वर्गभेद, वर्गविद्वेष, वर्ग संघर्ष, वर्ग विध्वंस, खूनी क्रान्ति के द्वारा शोषकों का विध्वंस करके सर्वहारा के

अधिनायकत्व से धरातल में बैकुण्ठ लाना चाहते हैं, वहां वैदिक नीतिज्ञ तो वर्ग संघर्ष का मार्ग न अपनाकर वर्गसमन्वय, वर्गसामंजस्य, वर्गसम्मनस्य एवं सद्भाव विस्तार आदि द्वारा दुर्जन को सज्जन बनाने, सज्जन को शांति प्राप्त कराने, शांत को बन्धन मुक्त कराने और मुक्त की अन्य विमोचन कार्य में संलग्न करने की प्रार्थना करते हैं—

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शांतिमाप्नुयात् ।
शांतो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तस्त्वन्यान् विमोचयेत् ॥

जैसे रोग मिटाना ही चिकित्सक की विशेषता होती है, रोगी मिटाना नहीं, वैसे दुर्जन की दुर्जनता मिटाकर सज्जन बनाना ही समाज के उन्नायक की विशेषता होती है, दुर्जन मिटाना नहीं, क्योंकि प्राणिमात्र तो परमेश्वर के पुत्र हैं। फिर किससे द्वेष, किससे संघर्ष ! इसीलिये प्रह्लाद ने भगवान् से कहा था—

स्वस्त्यस्तुविश्वस्यखलः प्रसीदतां,
ध्यायन्तु भूतानि मिथः शिवंधिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे,
आवेश्यतां नो मतिरप्य हैतुकी ॥ (श्री०भा०म०पु० ५।१८।९)

हे प्रभो, आपके अनुग्रह से विश्व का कल्याण हो (खल प्राणी भी प्रसन्न होकर सज्जन हो जायें, उनकी दुर्जनता मिट जाय। सब प्राणी परस्पर एक दूसरे का शिवचिन्तन करें। सब एक दूसरे के पोषक बनें, शोषक न रहें। रक्षक बनें, भक्षक न बनें। सब एक दूसरे का अनिष्टचिन्तक न होकर शुभचिन्तक बनें। सबका मन भद्रदर्शी हो। सबकी प्रज्ञा आपके स्वयं प्रकाश ब्रह्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो। उदयनाचार्य ने नास्तिकों के कल्याण के लिए भी परमेश्वर को प्रेरित किया है। 'न्यायकुसुमांजलि' में वे कहते हैं—

इत्येवं श्रुतिनीति संप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते ।
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किंतु प्रस्तुत विप्रतीय विधया प्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः ।
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥ (५।१८)

अर्थात् हे विभो ! मैंने श्रुति, युक्ति रूप निर्मल जलधारा से नास्तिकों के दुस्तर्क कलंकपंक मलिन मानस के प्रक्षालन का पूर्ण प्रयत्न किया है। फिर भी जिनके हृदयों में आप पर विश्वास नहीं होता उनका हृदय शैलसार (वज्र) ही समझना चाहिए। हे भगवान्, आप अकारण करुण करुणा वरुणालय हैं अतः उनको भी तारना, क्योंकि वे भी बड़े अभिनिवेश के साथ आपका चिंतन करते हैं। भेद यही है कि आस्तिक मण्डन के लिए और नास्तिक खण्डन के लिए आप का निरन्तर चिन्तन करते हैं। शास्त्रार्थ के प्रसंग में रात-रात जगकर आस्तिक आप के मण्डन के लिए तर्क-युक्तियों

का अन्वेषण करते हैं। नास्तिक भी रात-रात जगकर ईश्वरखण्डन के लिए युक्ति ढूंढ़ते हैं। इस तरह ईश्वर का चिन्तन दोनों ही करते हैं। पर एक मण्डनीय विधया, एक खण्डनीय विधया। कंस, शिशुपाल आदि शत्रु बुद्धि से भगवान् का चिन्तन करते हुए भी सद्गति के भागी हुये थे। अतः खण्डनार्थ चिन्तन करनेवाले भी नास्तिक आप का चिन्तन करते ही हैं। फलतः इनका भी कल्याण आप को ही करना है। सर्वथापि प्राणी परमेश्वर के पुत्र हैं। सभी स्वभाव से ही शुद्ध हैं। अशुद्धि या दूषण सब औपाधिक है। कर्मोपासनादि उपायों से सब दोषों की निवृत्ति संभव है।

प्रह्लाद की 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य' विश्वकल्याणभावना 'स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि सिद्ध संघा:' या गीता के सिद्धसंघों की विश्वस्वस्ति कल्पना बिल्कुल ठीक है। तत्वज्ञान की दृष्टि से 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।' साधु असाधु सब में समरूप में ब्रह्म-पुत्रत्व की दृष्टि से अथवा ब्रह्म बुद्धि से ही समभावना महत्वपूर्ण है। साधक का कल्याण तो इस भावना से ही है। परन्तु संसार के सब श्रेणियों के प्राणियों का व्यावहारिक कल्याण भी असंभव नहीं, हाँ कल्याण के मार्ग में भेद अवश्य है। पुण्यात्मा का कल्याण पुण्य वृद्धि का प्रोत्साहन देने से होगा। पातकी का कल्याण पातकनिवृत्ति को प्रोत्साहन देने से ही होगा। अत्याचारी अन्यायी का कल्याण अत्याचार निवृत्ति से ही होगा। सदाचारी का सदाचार वृद्धि से ही कल्याण होगा। यही कारण है कि अन्याय अत्याचार करनेवाले के लिए दण्ड-विधान भी इसी उद्देश्य से होता है।

भारतीय संविधान में दण्ड विधानों का उद्देश्य बदला चुकाना नहीं किन्तु अपराधी के अन्तरात्मा की शुद्धि ही दण्ड-विधान का उद्देश्य माना गया है। अतः अन्यायी आततायी को दण्ड देना भी उसके कल्याण के उद्देश्य से उचित ही होता है। दण्ड न देने से उसका अन्याय, अत्याचार बढ़ेगा। इससे उसका अनिष्ट ही होगा। इस सर्वहितैषता सर्वकल्याण की कामना का यह मतलब नहीं कि चोरों, हत्यारों, आक्रामकों को दण्ड न दिया जाय उनकी उद्दण्डता को बढ़ने दिया जाय।

जो भगवान् कृष्ण विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, चाण्डाल, साधु, असाधु सर्वत्र समत्वदर्शन का उपदेश करते हैं वे ही अर्जुन को युद्ध के लिए भी प्रेरणा देते हुए कहते हैं, यदि तू धर्मयुद्ध से विमुख होगा तो स्वधर्म एवं कीर्ति को त्याग कर पाप का भागी होगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं त्यक्त्वा पापमवाप्स्यसि ॥
तस्माद्युध्यस्व भारत ।

इससे स्पष्ट है कि सर्वहित बुद्धि सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि या समबुद्धि होने पर भी अन्यायियों अत्याचारियों के हित के लिए ही उनको दण्ड देना मौत के घाट उतारना

तक अनुचित नहीं। इसीलिये ब्रह्मनिष्ठ राजर्षिगण भी अपराधियों को दण्ड देने आक्रामकों का मुकाबिला करने में कभी भी पश्चात्पद नहीं हुए।

समष्टि व्यष्टि का सामंजस्य बिना हुए राष्ट्रवाद भी हिटलर मुसोलनी के राष्ट्रवाद का अन्धानुकरण होगा। अंताराष्ट्रवाद भी ममताशून्य निःसार मनोराज्य मात्र होगा। आज का कलह विध्वंस आदि संकुचित स्वार्थ एवं असमन्वित संकीर्ण राष्ट्रवाद का ही दुष्परिणाम है। अतः अन्ताराष्ट्रिय या समष्टिवाद से सम्बन्ध जोड़ना अनिवार्य है। इसी से स्वस्थ समृद्ध समन्वित समष्टि निर्माणकारी राष्ट्रवाद बन सकेगा। तभी मातृभूमि का गौरव एवं पूर्वजों के गौरवपूर्ण इतिहास तथा परंपराओं का राष्ट्र के अभ्युदय एवं पुनर्विश्वनिर्माण में सदुपयोग हो सकेगा। सीमित शक्तिवाले जीव की कार्यसीमा भी स्वभावतः सीमित होती है। निःसीम में सीमित का प्रयोग वैसा ही होता है जैसे समुद्र में सक्तु मिश्रण (सत्तु घोरने) का प्रयत्न। संपूर्ण राष्ट्र में भी सीधे सीमित शक्ति सफल नहीं होती किन्तु क्रमेण वैयक्तिक कौटुम्बिक जातीय एवं ग्राम मण्डल प्रांत सम्बन्धी सामाजिक कार्यों में हाथ बँटाया जा सकता है। जो वैयक्तिक कौटुम्बिक कार्यों को ठीक नहीं कर सकता, वह राष्ट्रीय कार्यों में भी सफल नहीं होता। कुटुम्ब राष्ट्र का छोटा प्रतीक है। जो उसका सफलतापूर्वक संचालन कर सकता है वह प्रांत राष्ट्र और फिर क्रमेण विश्व का भी नेतृत्व कर सकता है। मनु ने इन संघटनों तथा आनुकूल्यसंपादन मय प्रयत्नों से प्रजापति-देव-पित्रादि लोकों की प्राप्ति भी बतलायी है। जो कुटुम्ब का संघटन एवं आनुकूल्य संपादन करने में सफल नहीं होता वह राष्ट्र संघटन में भी सफल नहीं हो सकता है। 'अंधी पीसे कुत्ती खाय' के न्याय से उसके प्रयत्न एवं तन्निर्मित घटकों का लाभ अन्यों को ही होता है। बड़े से बड़े राष्ट्र के उन्नायक को एक आदर्श गृहपति (घर के पुरखा) से सबक सीखना पड़ता है। गृहपति अपने-पराये का भेदभाव बिना किये प्रथम बेटों, पोतों, भाइयों, भतीजों सब कौटुम्बिक सदस्यों के भोजन पान वस्त्र भूषण आवास प्रवास का प्रबन्ध करता है। पीछे अपने भोजनादि की बात सोचता है। गृहपति को सहिष्णु रहकर ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल अतिथि एवं संश्रित, अनुजीवि, बाल, वृद्ध, आतुर, वैद्य, जाति, पितृ पक्षीय संबंधि जामाताश्यालकादि, बान्धव माता पिता, मातृपक्षीय, भगिनी, पुत्री, पुत्रवधू, आदि जामि वर्ग भ्राता, पुत्र, भार्या, दास वर्ग आदि से कभी विवाद नहीं करना चाहिए। इनसे विवाद न करने से अज्ञात सब पापों से छुटकारा मिलता है और इन्हें अनुकूल कर लेने से गृहस्थ निम्नलिखित लोक प्राप्त करता है। आचार्य को वशकर ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। पिता को प्रसन्न रखकर प्राजापत्य लोक पाता है। अतिथि-सेवा से इन्द्रलोक, ऋत्विजों से देवलोक, जामियों भगिनी स्नुषादि को संतुष्ट रखने से अप्सराओं का लोक, बान्धवों को संतुष्ट रखने से वैश्वदेव लोक की प्राप्ति होती है। सम्बन्धी वरुण लोक माता और मातुल

भूलोक दाता होते हैं। बाल वृद्ध कृश आतुर लोगों को संतुष्ट रखने से अन्तरिक्ष लोक मिलता है। ज्येष्ठभ्राता पिता के तुल्य होता है। भार्या एवं पुत्र अपने स्वरूप ही होते हैं। दास वर्ग छाया के समान नित्य अनुगत होते हैं अतः उनसे विवाद नहीं करना चाहिए। दुहिता तो परम कृपापात्र ही होती है। अतः इन सबके अधिक्षेप करने पर भी इन्हें असंतप्त होकर सहना चाहिए। विवाद न करना चाहिए।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य्यैः मातुलातिथि संश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञाति सम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥
माता पितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेणभार्य्यया।
दुहित्रा दास वर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥
एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्व पापैः प्रमुच्यते।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वान्लोकानिमान् गृही ॥१८१ ॥
आचार्यो ब्रह्म लोकेशो प्राजापत्ये पिताप्रभुः।
अतिथिस्त्वेन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥ (म० ४)

आचार्य प्रसन्न होकर ब्रह्मलोक देने में समर्थ होता है। पिता प्राजापत्य लोक देने में समर्थ होता है। अतिथि इन्द्रलोक तथा ऋत्विज देवलोक देने में प्रभु होते हैं।

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा (४।१८५ म०)

इन लोगों द्वारा किये गये आक्षेप अधिक्षेप या अपमान को असंतप्त होकर सह लेना चाहिए। सहिष्णुता संघटन का मूल है।

इस प्रकार पापक्षय एवं पुण्य लोकों की प्राप्ति का कारण समझने से अनायास ही अधिक्षेप सहते हुए भी ऋत्विक् पुरोहित पिता आदि सभी को अनुकूल बनाये रहकर उनसे विवाद न करने से स्वतः सर्वथा अटूट संघटन बना रहता है।

गृहपति अमृतधार सदस्यों में वितरण करता है। स्वयं कठिनाइयों को ही अपनाता है। क्षीर समुद्र मंथन के अवसर पर प्रथम कालकूट जहर निकला। उसके भागी गृहपति (घर के पुरखा) भगवान् शंकर हुए। लक्ष्मी, अमृत, कल्पवृक्ष एवं अन्यान्य रत्न इतर विष्णु इन्द्र आदि सदस्यों को मिले। ऐसे ही अगर ग्रामपति प्रान्तपति राष्ट्रपति आदि भी ग्राम, प्रान्त राष्ट्र के भोजन वस्त्रादि के प्रबन्धों के बाद अपने भोजनादि की बात सोचें तो स्वभावतः यह योग्यता एवं महत्वपूर्ण ममता विश्व में भी कारगर हो सकती है। शिवजी ने विष को कण्ठ में रखा। मुख में इसलिए नहीं रखा कि पुरखा या मुखिया को मुख या जिह्वा जहरीली न रखकर मीठी रखनी चाहिए। तभी विघटन से बचा जा सकता है। इसी तरह उदर में इसलिए नहीं रखा कि पेट में भी जहर नहीं होना चाहिए, कोई जबान का मीठा हो पर पेट का जहरीला हो तब भी काम नहीं चलता। इस प्रकार ग्राम प्रान्त या राष्ट्र तथा विश्व

के उन्नायकों को विषम परिस्थितियों की कठिनाइयों, कष्टों को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु उनसे उत्पन्न लाभों से निस्पृह रहना पड़ता है। तब भी मुख एवं उदर को निर्विष रखना पड़ता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद एवं अन्ताराष्ट्रवाद दोनों का समन्वित रूप ही व्यष्टि समष्टि दोनों के कल्याण का हेतु होता है।

फ्रांस में समानता स्वतंत्रता एवं भ्रातृता का उद्घोष बुलन्द किया गया। रूस आदि साम्यवादी देशों ने उसका कार्यान्वियन करना चाहा। परन्तु अध्यात्मवाद में उनकी पहुँच अल्पमात्रा में ही होने से उन्हें समानता स्वतंत्रता की कोई सही आधारभित्ति नहीं मिली। इसीलिए एकांगी प्रयास से सफलता नहीं मिली। किन्तु अध्यात्मवाद की चरमविकास-स्थली भारत में 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १०।१३।१) ऋग्वेदीय मंत्र के अनुसार सभी प्राणी न केवल ब्राह्मणक्षत्रियादि ही किन्तु पशु-पक्षी तक परमेश्वर की ही पवित्र संतान हैं और उसी के स्वरूप हैं। अतः वही समानता स्वतंत्रता भ्रातृता की आधारभित्ति है। सभी संघटनों एवं सहिष्णुताओं का वही भावनाप्राण है।

आपने ५वें पृष्ठ में लीग आफ नेशन्स की चर्चा की है। परन्तु लीग आफ नेशन्स या राष्ट्रसंघ की असफलता का कारण भी उस भित्ति का अनंगीकरण ही है। फिर भी ऐसे प्रयत्न प्रशंसनीय ही हैं। पूर्व के मान्धाता, दिलीप, रामचन्द्र आदि सम्राट् भी अध्यात्मविद्या निष्णात होते थे। गीता में कहा गया है—'इमं राजर्षयो विदुः' इस निष्काम कर्मयोग रूप साधननिष्ठा के सहित साध्य सांख्य योग को राजर्षि लोग जानते थे। तभी वे स्वराष्ट्र परराष्ट्र एवं अंताराष्ट्रिय जगत् की व्यवस्थाओं में सन्धि विग्रहादि कार्यों में अनुद्विग्न चित्त से कार्य करते हुए सफल होते थे तथा साम्राज्य-वाद को निर्दोष रखकर करोड़ों वर्षों तक विश्व में समन्वय एवं शांति बनाये रखने में सफल हो सके थे। अध्यात्म निष्ठा के ह्रास से संकीर्ण राष्ट्रवादों पर साम्राज्यवाद भी नहीं रह सकता।

वेदों में स्वराज्य साम्राज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य आदि व्यवस्थाओं का आदर के साथ स्मरण किया गया है—"स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादा-परार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एक राडिति।"

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य जनक को आदर के साथ 'सम्राट्' शब्द से संबोधित करते हैं।

तैत्तिरीय एवं बृहदारण्यक में आनन्द की मीमांसा के प्रसंग में मानुष आनन्द का वर्णन किया गया है—

युवास्यात्, साधु युवाध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः।
तस्येयं पृथिवी सर्वाविक्तस्य पूर्णास्यात्। स एको मानुष आनन्दः॥

(तै० उ० २।८)

अर्थात् युवा हो नियंत्रित शास्त्रोक्त सदाचार सम्पन्न साधु हो, वेदादि स्वाध्याय-निष्ठ हो, भोगशक्ति सम्पन्न द्रढिष्ट एवं बलिष्ठ हो एवं धनधान्यपूर्ण संपूर्ण पृथिवी का अधिपति हो उस सम्राट् का सुख एक मानुषानन्द है। उससे शतगुणित मनुष्य गंधर्व का उससे शतगुणित देवगन्धर्व का सुख होता है। इसी क्रम से..., पितृ, आजानजदेव-कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति का आनन्द उत्तरोत्तर शतगुणित होता है। यह सभी आनन्द ब्रह्मानन्द सुधासिन्धु का एक कणमात्र है। यहाँ सदाचारी एवं स्वाध्यायशील सम्राट् का ही महत्व वर्णित है।

वेदोक्त राजसूय आदि यज्ञों का सार्वभौम क्षत्रिय सम्राट् ही अनुष्ठान कर सकता है। जैसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर निष्पक्ष रूप से विश्व का पालन करता हुआ सामंजस्य स्थापित करता है, उसी तरह विष्णु की पालनी शक्ति से उपबृंहित सदाचारी धर्मात्मा ब्रह्मनिष्ठ सम्राट् विश्व में समन्वय एवं सामंजस्य की स्थापना कर सकता है। ऐसे ही राजा या सम्राट् को मनु परमेश्वर का प्रतिनिधि कहते हैं—

महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति (मनु ७।८)।

धार्मिक राजा नर रूप में परमेश्वर ही होता है। गीता उसी को नराधिप रूप से भगवान् की विभूति कहती है 'नराणांच नराधिपम्'।

मार्गविचलित धर्महीन राजा या निरंकुश सम्राट् जगत् के लिए वैसे ही शिरःशूल होता है जैसे धर्महीन शास्त्रविमुख भौतिक राष्ट्रवाद, व्यक्तिवाद या जातिवाद। राष्ट्रसंघ आवश्यक है। आज के लिए राष्ट्रसंघ जैसा संघटन अत्यावश्यक है। उसमें दोष हैं तो उनका निराकरण करके उसे शुद्ध निष्पक्ष एवं आध्यात्मोन्मुख बनाने का प्रयत्न होना चाहिए।

आज का भारत भी वैसा ही है जैसे अन्य राष्ट्र। इसमें भी दुर्गुण नहीं है, यह संपूर्ण रूप से धर्म-ब्रह्मनिष्ठ है, सदाचारी है, निष्पक्ष तथा परोपकार परायण ही है, यह कहना कठिन है। यहाँ भी अन्य देशों जैसी ही विभिन्न पार्टियां हैं। उनमें भी स्वार्थ संघर्ष की कमी नहीं है। यहाँ भी शास्त्रीय परम्पराओं के अनुसार संस्कार परिष्कार आवश्यक है। जैसे कुछ लोग अन्ताराष्ट्रियतावाद की कल्पना के प्रवाह में राष्ट्र के सुधार और उत्थान को भूल जाते हैं, वैसे ही कई लोग राष्ट्रियता की धुन में व्यक्ति, जाति, समाज तथा अपने शास्त्र एवं धर्म को भूलकर शास्त्रोक्त धर्म एवं शास्त्र को न

मानकर मनमानी किसी परंपरा तथा मनमानी कल्पित धर्म की कल्पना करते हुए स्वयं भ्रान्त होकर दूसरों को भ्रमित करते हैं। स्पष्ट है जैसे राष्ट्रों को छोड़कर अन्तारा-ष्ट्रियता स्वातंत्र्य कोई वस्तु नहीं है वैसे ही ब्राह्मणादि वर्णों वेदादि शास्त्रों वैदिक धर्मों को छोड़कर भारत राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती है। जैसे अन्ताराष्ट्रियतावाद के मोह में राष्ट्रवाद को भुलाया जाता है वैसे ही राष्ट्रियता की कल्पना के मोह में शास्त्रों एवं वर्णाश्रम धर्मों को भुलाया जा रहा है।

प्रसिद्ध रामायण महाभारत आदि इतिहासों, मन्वादि धर्मशास्त्रों, वेदान्त पूर्वोत्तर मीमांसादि दर्शनों, शुक्र-बृहस्पति कणिक कौटल्यादि नीतिशास्त्रों, वेद उपनिषदादि अनादि अपौरुषेय सद्ग्रन्थों को छोड़कर भारतीय संस्कृति भारतीय धर्म का आधार अन्य स्वतंत्र क्या हो सकता है ? फिर भी झूठी राष्ट्रियता के लोभ में आप यह कहने का साहस करते हैं कि हम किसी पुस्तक को अपने संघटन का आधार नहीं मानते। वस्तुतः यह सोचना भी गलत ही है कि इस देश में बहुत से ऐसे लोग हैं जो वेद रामायणादि नहीं मानते हैं, उनका संग्रह करने के लिए वेदादि शास्त्रों का नाम लेना उचित नहीं।

यदि ऐसा ही है तो कांग्रेसियों को ही क्यों दोष देते हैं। वे तो एक कदम और बढ़कर अपने को हिन्दू भी कहने में सकुचाते हैं। आप हिन्दू अपने को मानते हुए भी यदि हिन्दुत्व के मूल वेदादि शास्त्रों एवं शास्त्र-प्रतिपाद्य धर्म न मानकर मनमानी धर्म की कल्पना करते हैं तो हिन्दू कहने न कहने में कोई अन्तर नहीं है। आपके अनुयायी अटलबिहारी बाजपेयी, दीनदयाल उपाध्याय आदि, ने जाति भेदों एवं धर्मा के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की बात कही ही है। मुसलमानों को भी मुहम्मदी हिन्दू मानकर उनके साथ में रोटी बेटी करने को प्रेरणा कर ही दिया है। शिवाजी का दृष्टान्त देकर आपने भी हिन्दू-मुसलमान की रोटी बेटी के रक्त-सम्बन्ध का समर्थन कर ही दिया है। फिर कांग्रेसियों, कम्युनिस्टों से आप में क्या अच्छाई है ? यदि आपको वेदादि प्रमाण एवं प्रमाणसिद्ध ब्राह्मणादि जाति भेद धर्म भेद नहीं मान्य है तो निराधार मनःकल्पित हिन्दुत्व के लिए विवाद भी क्यों किया जाय ? आप परंपरा की बात करते हैं। परन्तु परम्परा के अनुसार चलने से ही वेदादि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों की मान्यता भी तो अनिवार्य होती है। मनु भी तो यही कहते हैं :—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।

तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यति ॥ (मनु० ४।१७८)

अर्थात् जिस रास्ते से, पिता, पितामह आदि पूर्वज चलते रहे हैं उसी रास्ते से चलना चाहिए। अर्थात् पितृ-पितामहादि अनुष्ठित रामायणादि आर्ष इतिहासों से यही मालूम होता है कि हमारे आपके सभी शत या सहस्र पीढ़ियों के पूर्वज इन्हीं

वेदादिशास्त्रों को मानते थे। इनके अनुसार वर्णाश्रमानुसारी धर्म का ही पालन करते थे।

आज राष्ट्र के कुछ लोग वेदादिशास्त्र एवं तदुक्त धर्म नहीं मानते तो क्या उनको प्रसन्न करने के लिए हम आप अपने परंपराप्राप्त शास्त्र प्रामाण्य एवं पितृ-पितामहादि से अनुष्ठित धर्म को छोड़ दें? याद रहे आप ऐसा कर भी लें तो भी दूसरे अपने धर्म को नहीं छोड़ेंगे और उनकी दृष्टि में भी आप वेदीन ही समझे जायेंगे। अतः संघटन के लिए इतना ही आवश्यक है कि आप अपनी परंपरा के अनुसार अपने शास्त्रों एवं धर्मों का सम्मान करें पर दूसरों के धर्मग्रन्थों एवं धर्मों में हस्तक्षेप न करें। इस तरह राष्ट्र के सभी लोग दूसरों के धर्म संस्थानों, धर्म ग्रन्थों पर हस्तक्षेप न करते हुए अपने धर्मों, धर्मग्रन्थों का पालन करें। सामूहिक भौतिक राजनीतिक राष्ट्रिय हित के कार्यों में सब एक दूसरे के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर आगे बढ़ें यही संघटन का निर्बिघ्न मार्ग है। यही मार्ग आपका पैतृकदाय है। यदि वेद उपनिषद् दर्शन एवं तदुक्त धर्म उपासना ज्ञान सामाजिक व्यवस्था यदि आपका परंपरा प्राप्त पैतृक दाय नहीं तो और क्या है?

जैसे राष्ट्रियता एवं अन्ताराष्ट्रियता का विरोध नहीं है किन्तु उनका समन्वय आवश्यक है, वैसे ही वैयक्तिक एवं जातीय शास्त्रों एवं शास्त्रोक्त धर्मों का भी राष्ट्रियता से विरोध नहीं है किन्तु उनका भी समन्वय ही होना चाहिए। जैसे हिन्दू कहने में लज्जा का अनुभव करना गुलामी की देन है उसी तरह अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय कहने में वेद शास्त्रानुयायी वैदिक धर्मी कहने में लज्जा या संकोच का अनुभव करना उससे भी अधिक गुलामी मनोवृत्ति का चिह्न है।

जैसे आप यह अनुभव करते हैं कि 'मानवता के कल्याण के लिए सौहार्द्र की भावना से राष्ट्र एक साथ जाने को उद्यत नहीं। इसके विपरीत राष्ट्रीय भावनाएँ अधिकाधिक ऐकांतिक होती जा रही हैं' (पृ० ६) वैसे आप को यह भी अनुभव करना चाहिए कि राष्ट्र तथा अन्ताराष्ट्रिय जगत् की सभी जातियाँ अपने धर्मग्रन्थ तदनुसारी धर्म एवं परम्पराओं को भी छोड़ने को तैयार नहीं हैं। और यह ठीक भी है। दीनदार, ईमानदार, पुरुष दूसरे दीनदार, ईमानदार पर ही विश्वास कर सकता है, बेदीन पर नहीं। अतः जैसे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की प्रभुसत्ता स्वीकार कर उसमें हस्तक्षेप न न करने का नियम बनाकर सर्वहितकारी कार्य के लिए संघटित हो सकते हैं, उसी तरह प्रत्येक धर्म भी दूसरे लोगों के धर्मों एवं धर्मग्रन्थों पर हस्तक्षेप न करके ही राष्ट्रिय, अन्ताराष्ट्रिय कार्यक्षेत्र में संघटित हो सकते हैं। इसीलिए राष्ट्रसंघ के मानवाधिकार घोषणापत्र में प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता मान्य की गयी है। फिर भी अगर हम अपनी जाति, अपने धर्म, अपने शास्त्र का आदर करने में लज्जित हों तो कभी भी इस संघटन में सफलता नहीं मिल सकती है। सिद्धांतहीन, धर्महीन, शास्त्रहीन, संस्कृति-

हीन संघटन किन्हीं काल्पनिक मरुमरीचिका-प्राय उद्देश्यों को लेकर बनते हैं। परम्परा तोड़कर मनमानी खानपान द्वारा स्पर्शास्पर्श का विवेक मिटाकर गीत गाते हैं, कबड्डी खेलते हैं, मिथ्यासंस्कृति मिथ्याधर्म का प्रचार करते हुए राष्ट्र एवं विश्वकल्याण का स्वप्न देखते हैं, वे अन्त में आधारहीन होने के कारण वास्तविकता का मुकाबिला करने में सर्वथा असफल ही रहते हैं।

आप कहते हैं कि 'हमारे हिन्दू दार्शनिकों ने अपनी दृष्टि को भौतिकवाद से उच्चतर तत्त्व की ओर मोड़ दिया था। भौतिक विज्ञानों की पहुँच के अत्यन्त परे मानवात्मा के रहस्यों की गहराई में उतरकर संपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त प्राणिमात्र में वर्तमान एक महान् तत्त्व का जिसे हम आत्मा ईश्वर सत्य वास्तविकता अथवा शून्य भी कह सकते हैं, आविष्कार किया है। समय समय पर इस मानव की अनुभूति ही हमें दूसरों के सुख के लिए उद्यम करने की प्रेरणा प्रदान करती है। जो अहं मुझमें है, वही दूसरे प्राणियों में भी होने के कारण वह मुझसे अपने सहचर प्राणियों के सुख-दुःख में उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है जिस प्रकार मैं अपने निजी सुख-दुःख में करता हूँ। आंतरिक तत्त्व की सजातीयता से प्रसूत तादात्म्य की यह विशुद्ध अनुभूति ही मानव एकता एवं भ्रातृत्व के लिए हमारी नैसर्गिक आकांक्षा के पीछे वास्तविक प्रेरक शक्ति है। विश्व की एकता तथा मानव कल्याण उसी सीमा तक अस्तित्व में लाया जा सकता है, जहाँ तक मानव प्राणी इस आंतरिक बन्धन की अनुभूति करता है उसी अनुभूति में यह शक्ति है जो कि भौतिकवाद से प्रसुत चित्त क्षोभ और कलह का दमन कर सकती है। मानव मन के क्षितिज को विस्तृत कर सकती है और मानव कल्याण के साथ व्यक्तिगत एवं राष्ट्रिय आकांक्षाओं का स्वरैक्य संपादित कर सकती है।" (पृ० ७)

परन्तु यहाँ सहज प्रश्न है कि वे कौन से हिन्दू दार्शनिक हैं जिनके दर्शन को आप मानते हैं। आप यह भी तो कहते हैं कि कोई धर्मग्रन्थ या पुस्तक हमारे संघटन का आधार नहीं है। स्पष्ट है न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा ये पांच आस्तिक दर्शन हैं। इनमें भौतिक जगत् के अतिरिक्त आत्मा तो मान्य है परन्तु वह आत्मा ईश्वर से भिन्न है। इनमें से कई ईश्वर नहीं मानते हैं। इनके अनुसार सब आपस में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। चार्वाक, जैन, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक ये अवैदिक दर्शन हैं। अंतिम चार दार्शनिक बुद्ध के अनुयायी हैं। उत्तर मीमांसा में भी अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत परक भाष्य हैं। इन मतों में एकात्मवाद नहीं स्वीकृत है। केवल अद्वैतवादी गौड़पाद शंकराचार्य आदि ही ऐकात्म्य स्वीकार करते हैं। रामायण महाभारत पुराणों तथा तंत्रों में भी केवलाद्वैत एवं शाक्ताद्वैत का वर्णन है। कोई अध्यात्मवादी शून्य को कोई तत्त्व नहीं मानता है फिर आपकी बातों की संगति किस दर्शन से बैठती है ?

सभी वैदिक दार्शनिक विचार के साथ आचार को भी महत्त्व देते हैं। सभी वेद को प्रमाण मानते हैं। उसके अनुसार वर्णाश्रम धर्म का आदर करते हैं, परन्तु आप वेद या किसी एक पुस्तक को भी आधार मानने को तैयार नहीं। फिर वेद एवं तदनुसारी सभी ग्रंथों के प्रामाण्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। धर्म की व्याख्या भी आपकी अपनी स्वतंत्र है जो किसी धर्मग्रन्थ से नहीं मिलती है। क्या यह उचित होगा कि किसी ग्रन्थ पढ़कर या सुनकर उनका ज्ञान विज्ञान अंश मान लें और उनके प्रामाण्यवाद एवं कर्म उपासना सदाचार छोड़ दें? इसके अतिरिक्त संसार के इतर राष्ट्रों में भी ईश्वरजीव एवं धर्म की मान्यता है ही। उनमें से कुछ बौद्ध धर्मानुयायी हैं। वे यद्यपि आत्मा या ईश्वर नहीं मानते तो भी बुद्ध भगवान् को ही ईश्वर के रूप में मानते हैं। अन्य ईसाई एवं इस्लाम धर्म को मानते हैं। उन धर्मों के लोग भी बायबिल, कुरान आदि का प्रामाण्य मानते हैं। उनके अनुसार भी ईश्वर, आत्मा एवं धर्म मान्य ही है। सर्वत्र ऐकात्म्य का अंगीकार भले ही अन्यत्र न हो परन्तु आत्मा की सजातीयता तो अन्यत्र भी मान्य है ही। आपने भी सजातीयता से प्रसूत तादात्म्य की अनुभूति का महत्त्व माना है और इस प्रकार की सजातीयता तो मानवता भी है। जैसे अनेक जीवों में जीवत्व रहता है वैसे ही अनेक मानवों में मानवता रहती है। ऐसा जीवत्व बौद्धों, ईसाइयों, यहूदियों, मुस्लिमों को भी मान्य है ही। फिर आपकी सजातीयता कौन सी विलक्षण बात है? यदि वेदान्तों, उपनिषदों के अद्वैतवाद की विशेषता कहना चाहते हैं तो वह भी बहुतों के अनुसार माध्यमिक बौद्धों के यहाँ तथा सूफियों के यहाँ भी है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के अनुसार अहं ही जीव का रूप है, वह सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न ही है। अतः जो अहं मुझमें है वही दूसरे प्राणियों में नहीं हो सकता। सुख-दुःखादि का आश्रय अहं ही होता है। सबके सुख-दुःख पृथक्-पृथक् होने से सब का अहं भी पृथक् ही है। हां, वेदान्त में सभी देहों के अहंकार का साक्षी जो कि अहंता ममता से परे है, उसी की एकता मान्य है। वह तत्त्वनिर्दृश्य निर्भास्य अखण्डभान रूप ही है, उसकी अनुभूति में दृश्य प्रतीति बाधक होती है। उसके साक्षात्कार में अन्य या दूसरा नाम का कोई तत्त्व अनुग्राह्य या अनुग्राहक, उपकार्य या उपकारक कुछ रहता ही नहीं। निष्कर्ष यह है कि ऐकात्म्यवाद के बिना भी सर्व भूतहित एवं संघटन की बात चल सकती है।

जैसे राष्ट्रों की विविधता की रक्षा करते हुए आप विश्वसंघटन में सहयोग की बात करते हैं वैसे ही व्यक्तियों, वर्णों एवं जातियों की विशिष्टता की रक्षा क्या आवश्यक नहीं है? यदि है तो क्या आप अपने संघटन में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की विशिष्टता की रक्षा कर रहे हैं? वेदाध्ययन, संध्या, अग्निहोत्र, भोजन, पान, संबंध एवं आचार की रक्षा कर रहे हैं? क्या सबके धर्म-कर्म खान पान आचार

को नष्ट कर उनकी विशेषताओं को नहीं नष्ट कर रहे हैं ? क्या जैसा मन्वादि शास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों के आचारों का विधान है उसका आपके संघटन में कोई स्थान है ? इस संबंध में तो आप कह देते हैं कि हम कोई पुस्तक ही नहीं मानेंगे, पर राष्ट्रों की विशेषताओं की रक्षा की बात करते हैं। क्या राष्ट्रिय वर्णों, जातियों की विशेषताओं को मिटाकर राष्ट्रिय संघटन किया जा सकता है ?

वेदान्त के परमाचार्य आद्य शंकराचार्य वेदान्त ज्ञान प्राप्ति के लिए साधनरूप में निर्देश करते हैं—

'वेदोनित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्,
तेनेशस्यविधीयतामपचितिः काम्येमतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयताम्,
स्वात्मेच्छा व्यवसीयताम्.................. ॥'

अर्थात् वेद का नित्य अध्ययन करो। वेदोक्त कर्म का वर्णाश्रमानुसार अनुष्ठान करो। अनुष्ठित कर्मों को भगवान् में अर्पण करके भगवान् की पूजा करो। काम्य कर्मों का परित्याग करो। पापौघों का नाश करके सांसारिक सुखों में दोष का अनुसंधान करो। परमात्म तत्त्वज्ञान की दृढ़ इच्छा उत्पन्न करो। दार्शनिकों के तत्त्वज्ञान के आधार पर संघटन की योजना बनाने पर भी उनमें अपेक्षित इतर साधनों की उपेक्षा करने से वैसे ही विफलता मिलती है जैसे बहुमूल्य औषधों का सेवन करने पर भी कुपथ्य परिवर्जन एवं पथ्यपरिपालन बिना विफलता मिलती है। हाँ, यह ठीक है कि राष्ट्र के भीतर विभिन्न ऐसी भी जातियाँ और समूह हैं जिनका साक्षात् वेदाध्ययन वेदोक्त कर्म में अधिकार नहीं है। अतः सबको साथ रखने के लिए गीत, खेलकूद ध्वज-वन्दन आदि का प्रोग्राम होना ठीक है तथापि शास्त्रों एवं मुख्य कर्मों की उपेक्षा एवं तद्विपरीत आचरण का प्रोत्साहन तो नहीं ही करना चाहिए। परन्तु आपके लेखों, भाषणों, व्यवहारों से होता ऐसा ही है। रामचरित मानस आदि ऐसे भी सद्ग्रंथ हैं जिनमें सबकी प्रवृत्ति करायी जा सकती है और सभी को अपनी-अपनी विशेषताओं की रक्षा का प्रोत्साहन भी होना चाहिए। जैसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों की माला में सभी पुष्पों के निजी रंग रूप सौदर्य सौगंध की विशेषता सुरक्षित रहने में ही माला की शोभा होती है। उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा तदितर सभी तत्तद् धर्मग्रंथों एवं परंपराओं के अनुसार विशेषताओं की रक्षा से ही राष्ट्रिय संस्कृति की रक्षा हो सकती है।

'विविधता के बीच एकता की पहचान' (८ पृ०)। यह आपका उद्धृत वचन है। क्या यह वर्ण जाति एवं राष्ट्र के संबंध में नहीं लागू होना चाहिए ? यह गलती कांग्रेस ने की है। वे मुसलमानों ईसाइयों के धर्म-कर्म, संस्कृति में हस्तक्षेप से बहुत डरते हैं

परन्तु हिन्दुओं के धर्म-कर्म में बेखटके हस्तक्षेप करते हैं। यही गलती आप करते हैं। वैधर्म्य विविधता है, साधर्म्य एकता है। पार्थिव विविध पदार्थों में पार्थिवता के सर्वत्र समान होने से वही साधर्म्य है, वही एकता है। घट उदनञ्जन आदि विशेषता विलक्षणता ही उनके वैधर्म्य हैं। इस तरह विभिन्न वर्णों में उनके धर्म-कर्म आदि की विषमता होते हुए भी हिन्दुत्व की दृष्टि या भारतीयता की दृष्टि से उनमें साधर्म्य समानता एकता की उपलब्धि की जा सकती है। इसी तरह मानवरूप से सभी राष्ट्रों, जातियों में एकता का अनुभव किया जा सकता है। इतना ही क्यों जीवत्व प्राणित्व रूप से देवता दानव मानव पशुपक्षियों में भी एकता का अनुभव किया जा सकता है, फिर भी उनकी विषमता विशेषता उपेक्षणीय नहीं। अन्त में तो चराचर विश्व प्रपंच में एक ही अधिष्ठानभूत अनन्त स्वप्रकाश सच्चिदानन्द परमेश्वर अनुस्यूत है। उसी एक में विविध विश्व है। विविधविश्व में उसी को अधिष्ठानरूप से पहचाना जा सकता है। उसी का उल्लेख—

> **सर्वभूतेषुचात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि।**
> **सम्पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥** (म० १२।९१)
> **समं सर्वभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।**
> **विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥**
> **एको देवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**

सर्वभूतों में अधिष्ठान रूप से कारणरूप से आत्मा को और आत्मा में कल्पित या कार्यरूप से सर्वभूतों को देखनेवाला स्वाराज्य स्वप्रकाश ब्रह्मात्म भाव को प्राप्त होता है। विनश्वर विषय समस्तभूतों में जो अविनश्वर सम ब्रह्म को देखता है वही देखता है। एक ही स्वप्रकाश देव सर्वभूतों में निगूढ़ है। वही सर्वव्यापी एवं सर्वभूतों का वास्तविक अन्तरात्मा है। यहीं विविधता के बीच एकता की पहचान है। जिन दर्शन-ग्रन्थों का यह सार है उन दर्शन-ग्रन्थों में भी उक्त निष्ठा के साधन रूप में वर्णाश्रम धर्म का परम उपयोग माना गया है।

आप कहते हैं कि अन्तरात्मा का यह ज्ञान मनुष्य मात्र के सुख के लिए परिश्रम करने की प्रेरणा से मानव मस्तिष्क को प्रेरित करते हुए भूतल की प्रत्येक छोटी से छोटी जीवन विशिष्टता को अपनी पूर्ण क्षमता पर्यन्त विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्र अवसर प्रदान करेगा (पृ० ९)। पर क्या आप अपने संघटन में भूतल नहीं हिन्दुओं के मुख्य प्रदेश भारत में श्रौतस्मार्त्त धर्मानुष्ठायी वर्णाश्रमियों की भी कोई विशिष्टता मानते हैं या नहीं, मानते हैं तो उसके पूर्ण क्षमता पर्यन्त विकास के लिए क्या प्रेरणा देते हैं? क्या संघ में होने वाला सर्वजातीय सहभोज उसे नष्ट करने के लिए नहीं अपनाया गया है? क्या वर्णभेद, जातिभेद तथा वेदशास्त्रानुसार जन्मना ब्राह्मण, जन्मना क्षत्रिय, जन्मना वैश्य, के लिए विहित वैदिक विधानों एवं उनकी विशेषताओं पर भी कभी

विचार किया है ? इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के अनेक दर्शनों में अद्वैत दर्शन भी एक दर्शन है। अधिकांश हिन्दू न उसे मानते हैं और न तो उसके अधिकारी ही हैं, फिर जब भारत में ही हिन्दुओं में सब उस ज्ञान को नहीं मानते तो संसार के अन्य राष्ट्र उसे कैसे मान लेंगे ? वस्तुतस्तु समाज-व्यवस्था एवं विश्व-व्यवस्था के लिए पूर्वोक्त एकत्व ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, तभी तो नीतिशास्त्रों में चार विद्याओं में आन्विक्षिकी को भी एक विद्या कहा गया है। त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति का भी अत्यन्त उपयोग है। तभी श्रीराम एवं युधिष्ठिर का काम केवल एकताज्ञान से नहीं हो सका। अध्यात्मविद्या से आत्मा की नित्यता का ज्ञान होता है। धैर्य्य एवं सहिष्णुता भी बढ़ती है। इससे अद्वैत ज्ञान विना भी सजातीयता ज्ञान से ही परसुखार्थ प्रवृत्ति होती है। परोपकार से ईश्वर प्रसन्न होते हैं, इस बुद्धि से भी पर सुखार्थ पर दुःख निवारणार्थ प्राणियों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति द्वैतवादियों विशिष्टाद्वैत वादियों की भी होती है। नैयायिक, वैशेषिक सांख्य योग के अतिरिक्त ईसाई, मुसलमानों में भी यह प्रवृत्ति है हो। बल्कि आज के व्यवहार में तो ईसाई जितनी लगन के साथ वनों, पहाड़ों में असभ्य असंस्कृत मनुष्यों में घूमघूम कर उनसे मिल-जुल कर उनके हितार्थ जितना प्रयत्न करते हैं उतना अन्य लोगों में देखा भी नहीं जाता है। गलित कुष्ठ तथा अन्यान्य विभिन्न भीषण रोगों के रोगियों की जितने सौहार्द्र से वे लोग सेवा करते हैं उतना अन्य लोगों में देखा भी नहीं जाता है। यदि उनमें धर्मान्तिरण द्वारा स्वसम्प्रदाय वृद्धि की भावना है तो कोई न कोई तो कामना आपके संघटन में भी है ही। मनु के अनुसार अकाम की तो कोई चेष्टा होती ही नहीं— अकामस्यक्रियाकाचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् (म. २।४)। जानाति इच्छति अथ करोति के नियमानुसार हर एक प्राणी जानता है, इच्छा करता है तभी कुछ करता है।

आप कहते हैं कि जागतिक महान् लक्ष्य केवल हिन्दू ही पूर्ण कर सकता है, अन्य कोई नहीं। ऋषियों ने आत्मजगत् में गहराई तक गोता लगाया तथा उस महान् एकता के सिद्धांत के रूप की अनुभूति के शास्त्र को आविष्कृत किया एवं परिपूर्ण बनाया। (पृ० ६)

पर वह कौन सा शास्त्र है ? यह सब आधुनिक अधकचरे इतिहास के ही बल पर कहते हैं या कोई दुनियाँ के अन्य शास्त्रों के समान यह भी प्रसिद्ध है ? वेद, वेदांत, दर्शनादि की किसी पुस्तक को आप न मानने की बात करते हैं और एक ऐसे शास्त्र पर गर्व भी करते हैं, क्या वह कोई आप के ही अनुभव की वस्तु है ? अन्य लोग पाश्चात्य जगत् के लोग आत्मजगत् के अनुभव से शून्य हैं, यह मिथ्याभिमान ही है। ऊपर हम कह चुके हैं कि यहूदियों, पारसियों, ईसाइयों, मुसलमानों में भी आत्मवाद का विकास हुआ था। परोपकार, परसेवा की पद्धति उनके यहाँ भी है ही।

यह बात अलग है कि वेद अपौरुषेय एवं अनादि हैं, सर्वप्राचीन हैं। अतएव वैदिक ज्ञान-विज्ञान संस्कृति बहुत प्राचीन अथवा अनादि ही है और उससे ही और लोगों ने भी सीखा हो। पर आप तो ऐसे किसी वेदादि शास्त्र को मान्यता देने को तैयार ही नहीं हैं। जब तक आप वेद एवं आर्ष इतिहास रामायण, महाभारत आदि मानते नहीं तब तक हिन्दुओं के आध्यात्मिक साम्राज्य का विस्तार इतना था, उतना था यह सब आप की कल्पना, कल्पना ही है क्योंकि आधुनिक इतिहास विभिन्न लोगों की अटकलमात्र है। इसीलिए विभिन्न ऐतिहासिकों की एकवाक्यता नहीं हो पाती है। इतिहास में अब भी पाश्चात्यों का ही गुरुत्व है। कई लोगों ने पाश्चात्यों का किसी ग्रंथ में खण्डन भी किया है। परन्तु उसके लिए भी उन्हें पाश्चात्यों की सरणि ही अपनानी पड़ी है। अन्य अंशों में वे भी पाश्चात्यों के ही अनुयायी हैं। 'भारत में अंग्रेजी राज' पढ़ने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुतस्तु वेद ही सनातन जीवात्माओं के अभ्युदय निःश्रेयसार्थ सनातन परमेश्वर का सनातन विधान है। संपूर्ण संसार का वही शास्त्र है और तदुक्त धर्म ही सब धर्म था और वह सर्वत्र ही था। धीरे-धीरे उसके ह्रास होने से परिस्थितियों के प्रभाव से उसी के विकृत रूप में अन्याय धर्मग्रन्थ तथा अन्य धर्म प्रचलित हुए। मनु के अनुसार संसार की बहुत सी क्षत्रिय जातियाँ ब्राह्मण संबन्ध छूट जाने से बृषल हो गयीं। 'बृपलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।' (म. १०।४३)

अपनी महत्ता के पोषण में फिलिपाइन्स के न्यायालय के विशालकक्ष में मनु की प्रतिमा की चर्चा की और मानवजाति का प्रथम महान् एवं श्रेष्ठ विधि-निर्माता इस उल्लेख का उद्धरण दिया। (११ पृ०)

पर क्या आप बतायेंगे कि मनु ने कैसे विधिशास्त्र का निर्माण किया था। जर्मनी के नीत्से ने भले ही मनुस्मृति का सम्मान किया हो, पर आप तो मनु को भी प्रमाण नहीं मानते हैं। यदि आप ने मनुस्मृति को देखा या पढ़ा होता तो आप को मालूम होता कि मनु अपने को विधि-निर्माता नहीं मानते। मनु तो विधि या वैध धर्म के लिए श्रुति को ही परम प्रमाण कहते हैं—

"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"। (म. २।१३)

क्या आप भी श्रुतियों का प्रामाण्य मानेंगे ? मनु स्पष्ट कहते हैं—'वेदाद्धर्मोहि-निर्बभौ' (म० २।१०)। धर्म का स्वरूप ज्ञान वेदों से ही होता है। इतना ही नहीं वे 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः (म० १।१२)' के अनुसार श्रुति से अविरुद्ध स्मृति एवं श्रुति स्मृति से अविरुद्ध सदाचार एवं उन तीनों से अविरुद्ध आत्मतुष्टि के आधार पर धर्म-निर्णय की घोषणा करते हैं। मनुस्मृति के अनुसार मनु प्रथम विधि-निर्माता नहीं किन्तु अनादिसिद्ध वेदों के अनुसार विधि

विवेचक या विधि के उपदेष्टा मात्र हैं । रामा महाभारत से भी यही बात स्पष्ट होती है । मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतियों तथा संस्कृत साहित्य को छोड़कर मनु की ऐतिहासिकता सिद्ध भी नहीं हो सकती है । क्योंकि आधुनिक ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऐतिहासिक काल एवं प्रागैतिहासिक काल की सीमा बहुत ही छोटी है । भारतीय आर्ष इतिहास के अनुसार तो वर्तमान सृष्टि कुछ कम दो अरब वर्ष की सिद्ध होती है ।

आपने यह भी लिखा है कि—यह केवल शुष्क ज्ञान नहीं जो वन्य आश्रमों में बैठ कर थोड़े से विचारकों के बौद्धिक अनुमानों तक सीमित रहा हो किन्तु यह था एक सजीव विचार, जो हमारे पूर्वजों को (जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक, भी थे) विश्वभ्रातृत्व का संदेश पहुँचाने के लिए पूरे देशों तक भेजा । (पृ० १०)

आपके इस कथन से मालूम होता है कि आप प्रवर्त्तक ज्ञान को ही सजीव ज्ञान मानते हैं, निवर्त्तक को नहीं । परन्तु पूर्वोक्त विवेचनों से प्रसिद्ध है कि औपनिषद ज्ञान प्रवर्तक न होकर निवर्त्तक ही है । क्योंकि सारी प्रवृत्ति ही काममूलक है । अकाम की कोई चेष्टा ही नहीं होती । यह मनु का मत कहा जा चुका है । फिर समाधिजन्य ऋत-म्भराप्रज्ञा को जो एकांत में ही होती है, उसे शुष्क कैसे कहा जा सकता है ? समाधिशून्य दौड़ने में व्यस्त व्यापारियों, कलाकारों के विचारों को सजीव कैसे कहते हैं ? दूर-दूर का पहुँचना ज्ञान विज्ञान की विशेषता नहीं किन्तु उद्योगशीलता की विशेषता है । अतएव अन्य देशों तथा धर्मवाले लोग भी दूर-दूर पहुँचे ही थे । क्या बौद्ध, ईसाई, मुसलमान लोग नहीं देश-देशांतरों में पहुँचे और उन्होंने भी अपनी धर्म-संस्कृति का प्रचार नहीं किया ? क्या देश देशांतरों में उनके धर्म, संस्कृति का प्रचार नहीं है ? अच्छे-बुरे तो हर जगह होते ही हैं । क्या हमारे यहाँ रावण, वेन, कुंभकर्ण, रक्तबीज, महिषासुर, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदि उच्छृंखल नहीं थे ?

आप कहते हैं, जब उन्होंने (रामकृष्ण परमहंस ने) एकबार एक गौ को हंटर से पिटते देखा तो पीड़ा से चीत्कार कर उठे उनकी पीठ पर चौड़ी लाल धारियाँ देखी गयीं । एक अन्य अवसर पर चरागाह में चरते हुए एक बैल को घायल होने पर खुर का चिह्न उनकी छाती पर बन गया (११ पृ०) ।

आश्चर्य है कि आप ऐसी बातों पर विश्वास कर लेते हैं, जिसमें कोई सुदृढ़ आधार नहीं है । परन्तु शिष्ट परम्परा-सम्मत वेद तदाधारित आर्षग्रंथों का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते । इन सब बातों का आत्मज्ञान से न कोई संबंध है, न हो सकता है । ज्ञानतत्त्व का भासक या ज्ञापक ही होता है, कारक नहीं होता । किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता । तपस्या दया करुणा आदि के अभ्यास से जनित सिद्धि

विशेष से ऐसी विलक्षण घटनाएं हो सकती हैं। तपस्या आदि ज्ञान से भिन्न वस्तु हैं। एक ज्ञानहीन भी तपस्या से सिद्ध हो सकता है। ज्ञानवान् भी सिद्धि से हीन हो सकता है। वशिष्ठादि में ज्ञान एवं तप दोनों ही थे। अतः वे सिद्ध एवं ज्ञानी दोनों ही थे। परंतु सिद्धि और ज्ञान दोनों एक नहीं। ईश्वर महान् ज्ञानी है सिद्ध भी है, फिर भी संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता है। यदि ऐसा हो तब तो ईश्वर की अपेक्षा जीव ही श्रेष्ठ ठहरेगा, क्योंकि जीव को अपना ही दुःख रहेगा। ईश्वर को तो सबसे तादात्म्य होने से ईश्वर को सबका दुःख व्यापेगा। इस तरह उसे अनन्त-अपार दुःख होगा फिर ईश्वर सायुज्य की इच्छा भी कौन करेगा? दया, करुणा आदि के प्रभाव से कारुणिकों एवं दयालुओं में भी आरोप या अध्यास से ही अन्य दुःखों का संसर्ग भासित होता है। इसीलिए 'नलिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः' ईश्वर लोक-दुःख से दुःखी नहीं होता क्योंकि वह असंग है, पुष्करपत्रवत् निर्लेप है, 'असंगो नहि सज्जते' असितो नहि रिष्यते' उपनिषद्, असंग स्वभाव होने से किसी से संबंधित नहीं होता, अबद्ध होने से क्षीण या विपन्न नहीं होता है।

आप कहते हैं कि—'आज महान् पैतृक दाय अपनी ही संतति द्वारा तिरस्कृत किया जा रहा है। अपने प्राचीन आदर्शों परंपराओं का तो उपहास करना···इन दिनों फैशन होता जा रहा है। (पृ० ११)

परन्तु क्या आप भी अपने परंपरा प्राप्त शास्त्रों एवं तदुक्त आचार-विचारों को नहीं ठुकरा रहे हैं? यदि कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं मान्य है, मनमानी ही आदर्शों एवं परंपराओं की बात करनी है तो कोई भी वैसा कर सकता है क्योंकि वह निष्प्रमाण परंपरा एवं आदर्श उसके दिमाग का फितूर मात्र है, तात्त्विक नहीं। यदि यही आदर्श एवं परंपरा राष्ट्रिय स्वयं सेवक संघ का है तो उससे प्रामाणिक धर्म की हानि ही होगी लाभ नहीं और आस्तिकों को कम्युनिस्ट सोशलिस्ट सेक्युलरिस्ट जैसा ही इसका भी विरोध ही करना पड़ेगा।

हिन्दू और उसका आधार

व्याख्या एवं प्राचीनता

कुछ लोग कहते हैं कि विधर्मियों ने डाकू के अर्थ में हिन्दू शब्द का प्रयोग आर्य्यों के सम्बन्ध में किया है। अतः हमें इस शब्द को नहीं अपनाना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि प्राचीन विदेशी ग्रन्थों में भी आदर के साथ हिन्दू शब्द का प्रयोग मिलता है। पारसी सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ शातीर में लिखा है कि—गश्ताशप नामक बादशाह ने अपने गुरु जरथुस्त्र के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भारत से व्यास नामक एक ब्राह्मण को बुलाया था। वह बड़ा दाता और अकलमन्द था—

'अकन् विरहमने व्यास नाम अजहिन्द आमद दाना कि अकल चुनानस्त'

इस पुस्तक की १६३ वीं आयात में लिखा है—

चू व्यास हिन्दी वलरव आमद।
गश्ताशप जरस्त रख रव्वानन्द॥

अर्थात् जब व्यास हिन्दू, वलरव नामक राजधानी में पहुँचा तो ईरान देश के तत्कालीन राजा गश्ताशप ने अपने प्रधान पण्डित जरथुस्त्र को बुलाया। व्यास जी ने अभिमान पूर्वक कहा कि 'मन मरदे अमहिन्दी निजाद' अर्थात् मैं हिन्दूदेश में उत्पन्न होने वाला एक हिन्दू हूं। अन्त में व्यास जरथुस्त्र को हराकर हिन्दुस्तान को लौट आये ब हिन्दू वागगश्त।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत-भ्रमण करके अपने यात्रावृत्तान्त की भूमिका में संस्कृत शब्द इन्दु जिसका चीनी रूपान्तर इन्तु है प्रयोग किया है। चाँद के समान सुन्दर होने के कारण भारत का नाम हिन्दुस्थान उसने स्वीकार किया है।

भारतीय प्राचीन कवियों ने भी स्वाभिमान के साथ हिन्दू शब्द का प्रयोग किया है।

"अटल ठाट महीपाट अटल तारा गढ़स्थानम्।
अटल नग्र अजमेर अटल हिन्दव स्थानम्॥
दुर्गे हिन्दू राजारू वन्दी न धाय जपे जाप।
जालन्धरं तू सहायम्……………………॥
सकल जगत् में खालसा पन्थ गाजे।
जगे धर्म हिन्दू सभी भण्ड भाजे॥"

धन हिन्दू पृथ्वीराज जने रज वह उजारिये।
धन हिन्द पृथ्वीराज षोल कलिमञ्झ उजारिये॥
(पृथ्वीराज रासो)

भूषण ने—"हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राखे माला राखी कर में।" (भूषण)
हिन्दू धर्म प्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्त्तिनः।
हीनञ्च दूषयत्येव सहिन्दुरुच्यते प्रिये॥ (मेरुतन्त्र २२)
अवनी यवनैः क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्।
(कालिका पुराण)

सप्तसिन्धुस्तथैव च, इफ्रहिन्दू यावनी च...........।
भविष्यपुराणे प्रतिसर्गे ५।३६ हिनस्ति तपसा पापान्
दैहिकान्दुष्टमानसान्। हैतिभिःशत्रु वर्गांश्च
सहिन्दूरभिधीयते॥ (पारिजातहरण नाटके)

शिव जी कहते हैं—हे प्रिये कलि में हिन्दू धर्म नष्ट करने वाले चक्रवर्ती होंगे। हीन को दूषित करने वाला हिन्दू कहलाता है।

हिन्दू ईष्ट नृहा प्रोक्तोऽनार्य्यं नीति विदूषकः।
सद्धर्म पालको विद्वान् श्रौत धर्म परायणः॥ (रामकोषे)

दुष्ट मनुष्य को मारनेवाला, अनार्य नीति से द्वेष करनेवाला, सद्धर्म पालन करनेवाला, श्रौतधर्म परायण विद्वान् को हिन्दू कहा गया है।

हीनं दूषयति इति हिन्दुः जाति विशेषे हिन्दू हिन्दूश्च संसिद्धौ दुष्टानाञ्च विवर्षणे। अद्भुत कोषे हिन्दू)

हिन्दूश्च हिन्दवः (मेदिनी कोषे)

दुष्टहिंसक हिन्दू कहलाता है। हीन धर्मभ्रष्ट पतित को दूषित जाति बहिष्कृत करने वाला हिन्दू होता है।

वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं के उपर्युक्त सब लक्षण घटते हैं। श्रीराम ने रावणादि दुष्टों का संहार किया। कृष्ण आदि ने भी कंस, जरासंधादि दुष्टों का संहार किया है तथा धर्मभ्रष्ट अपने पुत्रों को भी विश्वामित्र ने बहिष्कृत कर दिया था।

हिन्दू ग्रन्थों की दृष्टि

इस प्रकार मेदिनीकोष, मेरुतन्त्र, कालिका पुराण में हिन्दू शब्द उपलब्ध है। मेरुतन्त्र में अंग्रेज का नाम आजाने मात्र से उसकी आधुनिकता नहीं सिद्ध होती क्योंकि उक्त ग्रन्थ आर्ष है। ऋषियों को भविष्य का ज्ञान होता है तभी तो वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि में भविष्य कथाओं का उल्लेख मिलता है। सिद्धान्ततः

वेद के तुल्य ही पुराण, इतिहास, तन्त्र, आगम भी अनादि ही हैं। भेद इतना ही है कि वेदों की आनुपूर्वी में कभी परिवर्त्तन नहीं होती। पुराण आदि की आनुपूर्वी में ऋषियों द्वारा परिवर्त्तन होता रहता है परन्तु तत्त्व ज्यों के त्यों बने रहते हैं। अस्तु, पुराणों के अनुसार—'हीनं दूषयति' सादाचारहीन को दूषित, जाति बहिष्कृत करने वाला हिन्दू होता है। 'हिंसन्तं दुनोति' हिंसक को दण्ड देने वाला हिन्दू होता है। यह सब लक्षण वर्णाश्रमानुसारी हिन्दू में ही घटते हैं। सिन्धव से बने हुए हिन्दू शब्द का यद्यपि धर्म से सीधा सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है तथापि प्राचीन काल से ही इस प्रदेश में वर्णाश्रमी ही रहते थे। अतः उनमें ही हिन्दू शब्द का प्रयोग होता था।

देश की दृष्टि से

देश मात्र के सम्बन्ध से धर्म विश्वास निरपेक्ष लोग भी हिन्दू कहे जा सकते हैं। मैथिल, बंगाली, उत्कल, आदि शब्द देश मात्र से सम्बन्ध रखते हैं। इसी दृष्टि से बाहर के लोग भारतवासी मुसलमान, ईसाई को भी हिन्दी या हिन्दू कहते हैं। परन्तु भारतवर्ष में मुसलमान आदि से भिन्न समाज में हिन्दू शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए कुछ लोग हिन्दू अर्थ में गेर मुसलिम शब्द का प्रयोग करते थे परन्तु इसे अपमानजनक ही समझा जाता है।

शासन की दृष्टि

हिन्दू ला कमेटी ने हिन्दू ला से शिष्ट (शासित) वर्ग विशेष को हिन्दु माना था जिसमें जैन, बौद्ध-सिक्ख आदि का भी अन्तर्भाव होता है क्योंकि इन सभी का शासन हिन्दू ला के आधार पर होता है। हिन्दू ला का मुख्य आधार दायभाग, मिताक्षरा व्यवहार मयूख, आदि निबन्ध ग्रन्थ हैं और उनके आधार मन्वादि स्मृतिग्रन्थ तथा उनके भी आधार वेद ही हैं। जैन, बौद्ध यद्यपि वेद के कूटस्थ अखण्ड ब्रह्म और यज्ञ यागादि धर्म को नहीं मानते थे तथापि व्यावहारिक अन्य दाय भाग सदाचार और्ध्व-दैहिक पुनर्जन्म आदि वैदिक व्यवस्थाओं के विरोधी नहीं थे।

राजनीति की दृष्टि

आज की राजनीति वाले तो राजनीतिक दृष्टि से अपनी शक्ति और बहुमत बनाने की चेष्टा करते हैं। उनकी दृष्टि से जो भी अपने को हिन्दू माने और कहे वही हिन्दू है। इसीलिए हिन्दुस्तान के प्रत्येक व्यक्ति का हिन्दूकरण इसी आधार पर करना चाहते हैं।

दयानन्दी और हिन्दू

दयानन्दी समाज यद्यपि पहले जनगणना के समय अपनी जाति का नाम हिन्दू न लिखवा कर आर्य नाम लिखवाने का आग्रह और प्रचार करते थे और अब भी "कृण्वन्तो

विश्वमार्य्यम्' का घोष करते हुए सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाना चाहते हैं तथापि अब उनका आर्यत्व भी हिन्दुत्व में निलीन हो गया है परन्तु हिन्दुत्व के लिए वे कुछ स्वाभिमत वैदिकसंस्कार द्वारा शुद्धि की अपेक्षा समझते हैं।

हिन्दू सभायी और हिन्दू

हिन्दू सभाई—**आसिन्धोः सिन्धु पर्य्यन्ता यस्य भारतभूमिका।**
पितृभूः पुण्य भूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृताः॥

के अनुसार सिन्धु पूर्वी समुद्र और पश्चिमी सिन्धु नदी पर्य्यन्त भारत-भूमि को पितृभूमि एवं पुण्यभूमि मानने वाले को हिन्दू कहते हैं। जिसकी भारत-भूमि पितृ भू नहीं है वे भी इसे पुण्यभूमि मानकर हिन्दू हो सकते हैं। इस पक्ष में जिनकी पितृभूमि भारत है पर वे ईसाई-मुसलमान हो गये हैं उनमें अति-व्याप्ति होती है जो नास्तिक होने से पुण्यभूमि न मानते हुए भी पितृभूमि मानते हैं, हिन्दू हैं, उनमें अव्याप्ति होगी। दोनों अंशों को स्वतन्त्र लक्षण कहें तो भी पितृभू मानने वाले मुसलमान और पुण्यभूमि न मानने वाले हिन्दू में अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति होगी।

पुण्य प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है। अतः पुण्य का निर्णय करने के लिए वेदादि शास्त्र मानना आवश्यक होता ही है। अतएव वे भी हिन्दुत्व के लिए कुछ शास्त्रीय संस्कार आवश्यक समझते हैं परन्तु शास्त्रप्रामाण्य पर दृढ़ अस्था उन लोगों की नहीं है।

आर० एस० एस०, जनसंघ

रा० स्व० सं० तथा जनसंघ के लोग भी यद्यपि हिन्दूकरण के लिए कुछ संस्कार आवश्यक समझते हैं तथापि वे किसी शास्त्र का प्रामाण्य नहीं मानते हैं। शास्त्रनिरपेक्ष उनका काल्पनिक संस्कार या मान्यतामात्र ही उनके हिन्दुत्व का आधार है। उनकी दृष्टि में हिन्दुत्व की परिभाषा नहीं हो सकती फिर भी ब्रह्म की तरह अपरिभाष्य होने पर भी हिन्दू है।

सुधारक दृष्टिकोण

सुधारक सनातनी हिन्दू भी सम्पूर्ण भारत का हिन्दूकरण और उसका विस्तार चाहते हैं। तदनुसार वे भी गङ्गा जलपान गंगास्नान तथा कुछ पूजा-पाठादि संस्कार सापेक्ष हिन्दूकरण मानते हैं। इनमें से कुछ लोग वेद एवं गीता को धर्म-ग्रन्थ तथा राम-कृष्ण, विष्णु, शिव आदि को इष्ट देवता मानने वालों को हिन्दू मानते हैं।

अधिक सग्रह की दृष्टि से हिन्दू

वेदादि शास्त्र को प्रमाण न मानने वाले जैन बौद्धों को भी संग्रहीत करने की दृष्टि से कुछ लोग कहते हैं हिन्दुस्थान में हिन्दू नाम से प्रचलित विभिन्न धर्मों, पन्थों जिनमें शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, द्वैती, अद्वैती, सनातनी, समाजी (दयानन्द पंथी), नानक पन्थी, कबीर पन्थी, जैन, बौद्ध सब आ जाते हैं, सभी लोग हिन्दू हैं। इनकी दृष्टि से—

भारत प्रसिद्ध धर्मपथान्यतमानुयायित्वमेव हिन्दुत्वम् प्रसिद्ध भारतीय पन्थों में किसी का अनुयायी होना ही हिन्दुत्व का लक्षण है।

साधर्म्य वैधर्म्य के अनुसार हिन्दु

इन सब को संकलित करने के लिए व्यापक परिभाषा (अनुगत लक्षण) के रूप में हम यह लक्षण ठीक समझते हैं—

> **गोषुभक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवादौ दृढा मतिः।**
> **पुनर्जन्मनि विश्वासः सवै हिन्दुरितिस्मृतः॥**

गो में जिसकी भक्ति हो, प्रणव या राम नाम आदि में अधिकारानुसार जिसकी प्रीति है तथा जो पुनर्जन्म मानता हो वही हिन्दू है। इस परिभाषा में सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि भी आ जाते हैं।

लक्षण का स्वरूप

वस्तुतः जहाँ लक्ष्य सर्वसाधारण के लिए प्रत्यक्ष होता है वहां तो लक्ष्यानुसारी लक्षण होता है जैसे गाय, घोड़े आदि सर्व साधारण के लिए प्रत्यक्ष होते हैं अतः वहाँ अति व्याप्ति अव्याप्ति असंभव आदि दोषों से रहित लक्ष्यानुसारी लक्षण होता है। 'सास्नादि मत्वं गोत्वं' गल कम्बल को सास्ना कहते हैं तथा च गल कम्बल और ककुद, शृङ्ग, खुर जिसके हो वही गाय है। एकशफत्वमश्वस्य लक्षणम् शफवाला होना अश्व का लक्षण होता है। परन्तु जहां लक्ष्य सर्वसाधारण के लिए अप्रत्यक्ष होता है वहाँ तो लक्षण के अनुसार ही लक्ष्य को पहचानना पड़ता है जैसे संस्कृत के शब्दों की शुद्धि सर्व साधारण को ज्ञात नहीं होती वहाँ तो लक्षण के अनुसार ही लक्ष्य को जानना होता है। अतः उन पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि प्रभुति-ऋषियों, जिन्हें सब लक्ष्य ज्ञात होते हैं, के अनुसार ही लक्ष्य शुद्ध शब्दों को जानना पड़ता है। जो लक्षणानुसारी शब्द होते हैं वही लक्ष्य माने जाते हैं। लक्षणों के विपरीत अशुद्ध शब्द होते हैं। इसी तरह ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, शूद्रत्व, हिन्दुत्व आदि भी शास्त्रोक्त लक्षणों के अनुसार ही ज्ञात होते हैं, स्वतन्त्र नहीं। इसीलिए देखने मात्र से ब्राह्मणत्व हिन्दुत्व आदि का ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए घटत्व गोत्व के तुल्य ब्राह्मणत्वादि आकृतिग्रहणा जाति नहीं है किन्तु सकृदाख्यात निर्ग्राह्या जाति उनमें मानी जाती हैं। परम्परा से किसी के बतलाने से ब्राह्मणत्व का ज्ञान होने पर फिर उसके भ्राता पिता आदि में ब्राह्मणत्वादि का बोध होता है।

शास्त्रानुसारी हिन्दुत्व

वस्तुतः जैसे कुरान आदि के अनुसार इस्लाम धर्म में विश्वास एवं निष्ठा वाला व्यक्ति ही मुसलमान माना जाता है। बायबिल के अनुसार ईसाई धर्म में विश्वास वाला व्यक्ति ही ईसाई होता है। वैसे ही वेदादि शास्त्रों के अनुसार वेदादि शास्त्रोक्त धर्म में निष्ठा एवं विश्वास वाला व्यक्ति ही हिन्दू होता है—

वेदादि शास्त्रोक्त धर्मोपासनादिषु तदुक्ताधिकारानुसारेणनिष्ठावत्वं हिन्दुत्वम्। वेद शास्त्रोक्त धर्मेषु वेदाद्युक्ताधिकारवान् । आस्थावान् सुप्रतिष्ठश्च स वैहिन्दुः प्रकीर्तितः ।। इस तरह लक्षण के साथ ही प्रमाण की समस्या भी हल हो जाती है। अन्य धर्मों में जन्मना-कर्मणा का कोई विचार नहीं है । परन्तु वेदादि शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणादि चातुवर्ण्य जन्म के आधार पर मान्य होता है । यहाँ जन्मना वर्णः कर्मणा उत्कर्षः का सिद्धान्त मान्य है ।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।। (शुक्ल यजु०)

मुखबाहूरुपत्तानाम् मनु के अनुसार यह सिद्धान्त स्थिर है तथा अनादि अविच्छिन्न परम्परा के अनुसार संस्कारों से संस्कृत जन्मना ब्राह्मणादि ही वेदाध्ययन एवं वैदिक अग्नि होत्र आदि कर्मों के अधिकारी होते हैं । अन्य कोई वेदोक्त धर्म में विश्वास रखने पर भी यदि मनमानी अधिकार निरपेक्ष अग्नि होत्रादि का अनुष्ठान करता है तो वह हिन्दू नहीं हो सकता है । साथ ही वेदादि शास्त्रोक्त अधिकार के अनुसार मनुष्य-मात्र या सज्ञान समर्थ प्राणिमात्र वेदादि शास्त्रोक्त त्रिंशल्लक्षण धर्म का पालन करने से हिंदू हो सकता है । श्री भागवत में वह त्रिशल्लक्षण धर्म इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उक्त है ।

इस तरह मानव मात्र तथा देवता दानव तथा हनुमान, जाम्बवान काकभुशुण्डि जटायु आदि पशु-पक्षी भी शास्त्रोक्त भक्तिज्ञान, क्षमा, दया आदि धर्मों का अनुष्ठान करके हिन्दू और परम सम्मान्य हिन्दू हो सकते, मोक्ष के भी अधिकारी हो सकते हैं । अग्नि-होत्रादि धर्मानुष्ठान में जैसे संन्यासियों का अधिकार नहीं होता वैसे ही उनका भी अधिकार नहीं होता है । इस तरह वेद एवं वेदानुसारि आर्ष रामायण भारत पुराणादि भारतीय शास्त्रों के अनुसार अनादि काल से ऐसा समाज ही हिन्दू कहा जाता रहा है ।

हिन्दू जाति

यद्यपि 'नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वं जातिः' इस लक्षण के अनुसार नित्य होकर अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला धर्म जाति कहलाता है । श्री गोलवल्कर 'समान प्रसवात्मिका जातिः' इस गो. सू. के अनुसार जिनमें समान प्रसव होता है उस समूह को जाति कहते हैं । परन्तु यह लक्षण असंगत है, क्योंकि इस तरह गो, हिरण, बकरे आदि सब एक ही जाति के गिने जायँगे क्योंकि प्रसव इनमें समान ही होता है। वस्तुतः सूत्र का यह अर्थ हो नहीं है तभी तो वात्स्यायन आदि भाष्य टीकादि कारों ने अनेक व्यक्तियों में समान बुद्धि प्रसव करनेवाले धर्म विशेष को ही जाति माना है । जैसे गोत्व धर्म के कारण ही अनेक गो, व्यक्तियों में गो, गो ऐसी समान बुद्धि पैदा होती है अतः गोत्व जाति है । वह जाति जन्मना ही होती है और जब तक शरीर रहता है

तब तक वह अडिग रहती है। गो भले प्रबल हो, दुर्बल हो, गुणवान् हो मृत या जीवित हो उसमें गोत्व व्यवहार हर हालत में होता ही है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व, शूद्रत्वादि जाति भी नित्य होती है, जन्मना होती है। जब तक शरीर रहता है तब तक अनिवार्य्य रूप से रहती है परन्तु फिर भी वह गो आदि के समान आकृति ग्रहणा (आकार मात्र देखकर ज्ञात) नहीं होती है किन्तु परम्परा से उपदेशग्राह्य है। जैसे आम्रत्वेन रूपेण सब आम समान होते हैं फिर भी दशहरा आदि अनेक अवान्तर जातियां होती हैं। उसी तरह मनुष्यों में भी ब्राह्मणादि अनेक जातियाँ होती हैं।

साधर्म्य वैधर्म्य

कई स्थलों में जाति के बिना भी कुछ साधर्म्य समान धर्मों के कारण जाति का व्यवहार होता है। जैसे समान धर्म के कारण ही अंग्रेज, फ्रेंच, चीन सभी ईसाई या मुसलमान कहे जाते हैं। इस प्रकार वेदादिप्रोक्त समान धर्मों को अंगीकार करने के कारण सब में साधर्म्य के आधार पर भी हिन्दू शब्द का प्रयोग होता है।

भारतीय शासन और हिन्दू वैदिक समाज का स्वरूप

सर्व प्राचीन भारतीय शासन वेदादिशास्त्रों एवं तदनुप्राणित मन्वादि धर्मशास्त्रों रामायण, महाभारत, पुराणों, उपपुराणों, शुक्र-बृहस्पति आदि नीति-शास्त्रों से प्रतिपादित हुआ है। कणिक, कौटल्य, कामन्दक की नीतियों तथा रघुवंश, माघ, किरात आदि काव्यों द्वारा भी उसी का उपबृंहण हुआ है। वैसे तो सनातन परमात्मा के सनातन स्वांशभूत जीवों के सनातन अभ्युदय एवं भगवत्पद-प्राप्ति का मार्ग-दर्शन कराने वाला परमेश्वरीय शासन संविधान वेद ही है। विभिन्न देशों, कालों, परिस्थितियों के अनुसार आंशिकरूप से उन्हीं के आधार पर इतर संविधान भी बने हैं। परन्तु वेदों के अनुसार शुद्ध भारतीय शासन का स्वरूप मनु, वाल्मीकि, शुक्र, बृहस्पति तथा भीष्म ने प्रदर्शित किया है। उस भारतीय शासन के अनुसार चातुर्वर्ण्य चातुराश्रम्यधर्मनिष्ठ-त्रिशल्लक्षण मानवधर्मनिष्ठ समाज ही वैदिक समाज था। वही हिन्दू पद व्यपदेश्य होता था। शास्त्रानुसार सदाचार, धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान, राजनीति का अनुसरण करनेवाला मानव समूह ही हिन्दू वैदिक समाज है।

हिन्दू शब्द का व्यवहार

हिन्दू शब्द का व्यवहार यद्यपि रामायण, भारत में नहीं मिलता तथापि कालिका पुराण आदि में मिलता है। कालिका पुराण, मेरुतन्त्र आदि को अर्वाचीन कहना भी संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त वेद के सिंधव शब्द का परिवर्त्तित रूप हिन्दव या हिन्दू होने से उसकी अति प्राचीनता निर्विवाद ही है। हिन्दू शब्द चोर डाकू आदि का वाचक नहीं। जो शब्द जिस देश की भाषा में जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है वहां उसका वही अर्थ मान्य होता है। यदि विरुद्ध लोगों के यहाँ हिन्दू शब्द चोर का वाचक है तो

उन्हीं लोगों के यहाँ आर्य शब्द भी घोड़े के बाल अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार दस्त शब्द कहीं हाथ का बोधक है वहीं अन्य जगह मलत्याग का बोधक है। जो भी हो, भले ही किसी दृष्टि से यह भी मान लिया जाय कि यह शब्द अधिक पुराना नहीं है तो भी जिस वैदिक सनातन धर्मानुयायी लोगों में यह शब्द प्रचलित हुआ है वह अति प्राचीन एवं अनादि ही है।

वैदिक समाज के संदर्भ में ऐतिहासिक विवेचन

मन्त्र, ब्राह्मण, वेद, रामायण, महाभारत तथा पुराणों से ही वैदिक समाज का ऐतिहासिक तथ्य विदित होता है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के द्वारा प्रति कल्प वैदिक शब्दों के द्वारा महदादिक्रमेण विश्वप्रपञ्च एवं सूर्यचन्द्रादि के समान ही प्रतिकल्प ब्राह्मणादि वर्णों, वेदों, देवों तथा यज्ञों का प्रादुर्भाव होता है। कृतयुग में जब सभी ज्ञानविज्ञान सम्पन्न धर्मनिष्ठ एवं ब्रह्मविद्वरिष्ठ होते हैं तब राजा, राज्य एवं संविधान के बिना ही विश्व एवं समाज की सुव्यवस्था अक्षुण्ण रहती है। कारण, सभी एक दूसरे के रक्षक, पोषक उपकारक ही होते हैं। कोई किसी का शोषक नहीं होता है। युगानुसार सत्वादि गुणों के व्यतिक्रम से ज्ञानविज्ञान में ह्रास होने से काम, लोभ, क्रोधादि का संचार होने से मात्स्य न्याय फैलता है। प्रजा की प्रार्थना के अनुसार परमेश्वर द्वारा मात्स्य न्याय को हटाने और अष्ट लोकपालों के तेज से निर्मित विशिष्ट राजा श्रौतस्मार्त्त मर्य्यादा प्रतिष्ठापनार्थ नियुक्त होता है। धर्मानुसार दुष्टनिग्रह शिष्ट परिपालन के द्वारा वह शासक व्यष्टि समष्टि सभी विश्व के प्राणियों विशेषतः मनुष्यों को अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधनानुष्ठान में प्रोत्साहन और प्रवर्त्तन करता है। मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं को दूर कर सर्वप्रकार की सुविधाओं को उपस्थित करता है। प्रजा के धर्म, धन, प्रतिष्ठा (इज्जत) मर्य्यादा की रक्षा के लिए वह सदा खून बहाने एवं शिर कटाने के लिए प्रस्तुत रहता है। जैसे गर्भिणी गर्भस्थ शिशु की रक्षा की दृष्टि से ही भोजन पानादि सब व्यवहार करती है। वैसे ही प्रजा-रक्षण रञ्जन आदि की दृष्टि से ही धार्मिक शासक के सब व्यवहार होते हैं। मन्त्रों, ब्राह्मणों से लेकर रामायण भारतादि में ऐसे अनेक राजाओं तथा वर्णाश्रमानुसार धर्मब्रह्मनिष्ठ हिन्दू वैदिक समाज का स्वरूप स्पष्ट विदित होता है।

आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि

आधुनिक ऐतिहासिक भी योगसूत्रकार एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि को दो हजार वर्ष पूर्व का मानते हैं। जैमिनि तो पतञ्जलि से भी पूर्व के हैं। जैमिनि से भी पूर्व कोई मीमांसक काश कृत्स्नि थे। यह बात निम्न पा० सू० से सिद्ध है—

काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी (पा० ४।१।१४)। इस तरह पाणिनि, पतञ्जलि दोनों ही उनकी चर्चा करते हैं। कात्यायन ने सद्यस्त्वं काश कृत्स्नि (४।३।१७) इस तरह काशकृत्स्नि का नाम लेते हैं।

पाश्चात्यों ने ही पाणिनि को ईसा से ७ सौ वर्ष पुराना माना है। काश क्रुत्स्न उनसे भी प्राचीन ठहरते हैं। काश क्रुत्स्न भी वेद के निर्माता को नहीं जानते थे। तभी जैमिनि के समान ही उन्होंने वेद को अपौरुषेय कहा है। मनु, व्यास आदि ने तो वेद को अनादि और उन्हीं के आधार पर सृष्टि का निर्माण माना है—वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे (मनु), अतएव चनित्यत्वम् (ब्र. सू.)। इस तरह वेद एवं वैदिक समाज आधुनिक इतिहास के अनुसार भी अति प्राचीन सिद्ध होते हैं।

व्यास

व्यास युधिष्ठिर, भीष्म के समकाल माने जायँ तो भी पाँच सहस्र वर्ष से प्राचीन ठहरते हैं।

यद्यपि व्यास ने अपने सूत्रों में बौद्धमत का खण्डन किया है। अतः बुद्ध पश्चात् उनका होना कहा जा सकता है परंतु बौद्धग्रंथ 'लंकावतार सूत्र' के अनुसार ही गौतम बुद्ध के पहले भी अनेक बुद्ध हुए हैं। उसके अनुसार बुद्ध ने लंकापति रावण को उपदेश दिया था। अतः उस प्राचीन बौद्धमत का ही ब्रह्मसूत्र में खण्डन माना जा सकता है।

मनु की चर्चा तो शतपथ श्रुति में भी आती है—यद्वैमनुरवदत्तद्भेषजम्। अतः सृष्टि के आरम्भ में ही मनु का अस्तित्व माना जाता है। कृष्ण यजुः संहिता में "पूर्व पूर्वेभ्योवच एतदूचुः" के अनुसार वेदवाणी की अनादि परम्परा ही विदित होती है। वाचा विरूप नित्यया (ऋ० सं०) के अनुसार भी वेदवाणी की नित्यता विदित होती है।

वैदिक समाज या हिंदू बाहर से नहीं आये

कहा जाता है ई० पू० ३३० वर्षों से भारतीय इतिहास आरंभ होता है। पहले सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। राजा पुरु के पराक्रम से उसकी सेना हताश हो गयी। सिकंदर को लौटना पड़ा। उसके सेनापति सैल्यूकस ने पश्चिम एशिया में साम्राज्य स्थापित किया। ई० पू० ३०४ वर्ष मौर्य्य चंद्रगुप्त की राजसभा में मेगस्थनीज नाम का विदेशी यात्री आया था। उसने अपनी यात्रा का वृत्तांत लिखा है। उसके अंश परवर्त्ती द्रावो अरियन प्रभृति की पुस्तकों में उद्धृत हैं। मेगस्थनीज ने कहा है, समस्त भारतवर्ष एक विराट् देश है। वहाँ विभिन्न जातियां रहती हैं। उनमें कोई भी मूलतः वैदेशिक वंशोत्पन्न नहीं है। सभी भारत के आदि वंशधर हैं। भारत में कभी भी वैदेशिक उपनिवेश नहीं था। परन्तु आधुनिक अन्वेषकों के अनुसार ई० पू० २५०० से लेकर १५०० वर्ष तक बराबर दलबद्ध आर्य जाति पश्चिमोत्तर एशिया के मार्ग से भारत आती रही है। भारत के आदिवासी द्रविड़, कोल,

भिल्ल, किरात आदि ही थे। उनको पराजित करके आर्य्यों ने अपना उपनिवेश बनाया। आर्य लोग हिन्दुओं, पारसियों, कॉकेशस तथा ग्रीकों, योरपीयों के पूर्वज थे। परंतु वह काल मेगस्थनीज के भारतस्थिति काल से १२०० वर्ष ही पूर्व ठहरता है। यदि वैदिक आर्य बाहर से आये होते तो अवश्य ही मेगस्थनीज उसका उल्लेख करता। जो आर्य बड़ी-बड़ी सस्वर संहिताओं को कण्ठस्थ रखते थे उनको इतनी शीघ्रता से आर्यों का आगमन कैसे भूल सकता था। मेगस्थनीज निष्पक्ष एवं प्रामाणिक व्यक्ति था। उसने बहुत कालतक भारत में भ्रमण किया। उसका विवरण अन्य अंश में प्रामाणिक है तो इस अंश के उसके लेख को अप्रमाण क्यों माना जाय? उसने स्पष्ट लिखा है कि भारत के निवासियों में वैदेशिक वंशधर कोई नहीं है। भारत में किसी का उपनिवेश नहीं था, साथ ही भारतीयों ने भी किसी पर आक्रमण करके कहीं अपना उपनिवेश नहीं बनाया था।

यहाँ श्राद्धों में पितृपितामहादि का स्मरण किया जाता है। विवाहों में तो शाखोच्चार के प्रसंग में पूर्वजों की लम्बी सूची का स्मरण किया जाता है। सभी शुभ कर्मों में संकल्प किया जाता है। उसमें देश, काल, गोत्र का उच्चारण किया जाता हैं। अश्वमेध में और विवाह में कम से कम चौदह पीढ़ी पूर्वजों का स्मरण अनिवार्य होता है। ब्राह्मण-क्षत्रियों के यहाँ ४० पीढ़ी का स्मरण किया जाता है। चन्द्रगुप्त के साम्राज्य काल से पुष्यमित्र के राज्य तक पतञ्जलि भारत में थे। पुष्यमित्र के अश्वमेध का उन्होंने आध्वर्य्यव किया था। उन्होंने महाभाष्य में कुछ जातियों का निर्वासन लिखा है। परन्तु आर्यों का बाहर से आना नहीं लिखा। वेद, मनु, रामायण, भारत में कहीं भी आर्य्यों का बाहर से आना नहीं लिखा है। अतः यह कल्पना सर्वथा निराधार ही है। विख्यात इतिहासान्वेषक कीथ महाशय ने स्पष्ट लिखा है—भारतीय कैसे भारत आये इस निर्णय में ऋग्वेद से बिल्कुल सहायता नहीं मिलती है। आर्यों के भारत आगमन की छाया भी ऋग्वेद से नहीं मालूम पड़ती है। यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य वेदानभिज्ञ ही हैं तथापि कोषादि की सहायता से आदिम वासियों और आर्य के युद्ध इतिहास की कल्पना करते हैं। परन्तु—कीथ स्पष्ट कहते हैं—'यद्यपि ऋग्वेद में—आर्य शब्द १।१०३।३,३।३।६।२५,१०।६५।०१ तीन स्थलों में आता है तथापि कहीं भी यह जातिवाचक नहीं है।

महञ्जोदड़ो

महञ्जोदड़ो के खँडहरों की खुदाई में ऊपरी स्तर की उपलब्ध वस्तुओं की अपेक्षा अभ्यन्तरीय स्तर की वस्तुएँ उत्कृष्ट सभ्यता की हैं। वे सब ईसा से पूर्व सहस्र वर्ष प्राचीन हैं और ई० पू० ३००० पूर्व की सभ्यता की प्रतीक हैं। आधुनिकों के अनुसार आर्य्यों का अभिमान ईसवी पूर्व २५०० वर्षों से पूर्व नहीं हुआ। पर यह महञ्जोदड़ो के

अनुसंधान से विरुद्ध ही है। उनके अनुसार ईस्वी २५०० पूर्व कोल-भिल्लों का ही राज्य था। परन्तु महञ्जोदड़ो और हरप्पा की खुदाई में प्राप्त चिह्न आर्य सभ्यता के ही चिह्न हैं, स्वकपोलकल्पित नहीं। आर्याभियान विरोध परिहार के लिए ही पाश्चात्य उस सभ्यता को आर्य सभ्यता नहीं मानते किन्तु उसको सिन्धूपत्यका नाम देते हैं। गार्डन चाइल्ड की रीति से वह आर्य जाति का सम्बन्ध जोड़ने वाली कोई प्राचीन भारतीय सभ्यता है। हरप्पा वहाँ से ३०० मील पर है। उससे भी पूर्व विलोचिस्तान के खण्डगृहों में वही सभ्यता मिलती है और उसका नाम सिन्धूपत्यका देना अत्यन्त असंगत है क्योंकि वह सिन्धु से काफी दूर है।

मध्यभारत में माहेश्वर स्थान में प्राचीन ध्वंसावशेष मिले हैं। उनमें आर्य सभ्यता के ही चिह्न मिलते हैं। वस्तुतः अभी तक महञ्जोदड़ो की वैदिक सभ्यता सुस्पष्ट प्रमाणित होती है। वहाँ की उपलब्ध नासाग्र दृष्टि पुरुष की मूर्त्ति अवश्य ही वैदिक योग की परिचायिका है। ग्रीक, रोम आदि कलाकारों में ऐसी मूर्त्ति का निर्माण नहीं होता। ऐसे ही योगासनासीन तीन शिर वाली पशु परिवृता साधक मूर्त्ति भी वहाँ मिली है। सर जॉन मारशल के अनुसार वह पशुपति शिव की मूर्त्ति है।

महञ्जोदड़ो और हरप्पा दोनों ही जगह शिवलिङ्गाकृत पाषाण मिलते हैं। अनेक स्पष्ट ही शिवलिङ्ग मूर्त्तियाँ मिलती हैं। शिवलिङ्ग पूजा अनार्यों से वैदिकों ने सीखी है, यह कल्पना सर्वथा निराधार है। वेदों, पुराणों में शिवलिङ्ग पूजा के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। एक चित्र में एक वृक्ष पर दो पक्षियों को दिखलाया गया है। एक के मुख में फल है दूसरे के मुख में फल नहीं है, वह केवल देख रहा है। वह स्पष्ट ही "द्वा सुपर्णा समुजा सखाया" इस ऋग्वेद के मन्त्र का सूचक है, जिसमें बताया गया है कि संसार रूप वृक्ष की शरीर रूप डाल पर जीव और ईश्वर दो पक्षी बैठे हैं। एक जीव कर्म-फल का भोक्ता है, दूसरा परमेश्वर केवल द्रष्टा है, भोक्ता नहीं। वहाँ श्मशान का चित्र है। उसमें कलश तथा अर्धदग्ध काष्ठ चित्तामस्य दिखाया गया है। यह स्पष्ट ही वैदिक सभ्यता का चिह्न है। अतएव सिन्धूपत्यका भी वैदिक सभ्यता ही है।

पकी ईंटों से बँधे कूप और उनके चारों ओर भग्न सकोरों के समूह उपलब्ध हुए हैं। जल पी कर मृण्मय पात्रों को त्याग देने की सभ्यता वैदिक ही है। अन्यत्र इस प्रकार स्पर्शास्पर्श शुद्धि, आहार, जल शुद्धि का विचार नहीं है।

भारतीय ज्योतिष

भारतीय ज्योतिष की रीति से कुरुक्षेत्र-युद्ध, युधिष्ठिर नाम और कल्पाब्द नाम से काल-गणना ईस्वीय ३१०२ पूर्व प्रवृत्त थी। इस दृष्टि से भी ईस्वी २५००–१५०० पूर्व आर्याभियान कल्पना निराधार सिद्ध होती है क्योंकि उसके पूर्व ही वहाँ वैदिक आर्यों का निवास सिद्ध है।

वेली वालेस आदि पाश्चात्य विद्वानों ने यह माना है कि भारतीय ज्योतिष-सारिणी ज्यामिति गणित की सहायता से भारत में ईस्वीय पूर्व ३००० वर्षों से निर्णीत एवं लिपिबद्ध हो गयी थी।

यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यकोपनिषद् की जो ई० पू० ३१०० वर्षों से प्रसिद्ध है मधुविद्या में वेंश ब्राह्मण है। उसमें गुरु-शिष्य की परम्परा का वर्णन है। उसमें प्रथम दध्यङ अथर्व है और अन्तिम ४७ में पौतिमाष्य मुनि हैं। एक-एक पुरुष की ५० वर्ष भी आयु मानी जाय तो भी ईस्वी पूर्व ३५०० वर्ष प्राचीनता सिद्ध होती है। इस तरह ईसा पूर्व पाँच हजार वर्ष से भी पहले वैदिक सभ्यता सिद्ध होती है।

वस्तुतः दो सौ वर्ष पहले विलियम जोन्स ने कलकत्ता में संस्कृताध्ययन के अवसर पर यह अनुभव किया कि संस्कृतभाषा ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टिकभाषाओं से मिलती-जुलती है। पीछे उन्होंने अन्य भाषाओं की भी समता देखी। पितृ पिदर फादर, मातृ मदर मादर, भ्रातृ ब्रदर बिरादर, दुहितृ दुखतर डाटर आदि का साम्य विदित होता है। इससे उन्होंने यह कल्पना की कि कभी इन भाषा-भाषियों के पूर्वज न केवल एक ही देश में किन्तु एक ही छत के नीचे रहते थे। लम्ब गौर देह, विशाल नेत्र, सुन्दर नासिकावाले आर्यों का वर्णन सुनकर उन्होंने इंगलिश सैनिक और बङ्गीय में समान रक्त का सञ्चार देखा। इस तरह इण्डो-यूरोपियन इण्डो-जर्मन उस उप जाति का नाम कर दिया गया है। उनके अनुसार एक ही स्थान से आर्य टोली बद्ध भारत, योरप आदि की ओर गये। जैसे-जैसे वे अलग होते गये भाषाओं में भेद होते गये। परन्तु भारतीय शास्त्रों की दृष्टि से तो भारत हिमालय विन्ध्य पूर्वी पश्चिमी समुद्र का मध्य ही मानव का उत्पत्ति-स्थान है। पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर भी उक्त कल्पना असंगत ही है।

व्यास से भी प्राचीन गोतम मुनि हुए हैं। उन्होंने 'मन्त्रायुर्वेदवच्चवेदस्य प्रामाण्यम्' के अनुसार मन्त्र एवं आयुर्वेद के तुल्य वेदों का प्रामाण्य बतलाया है।

बौद्धकवि अश्वघोष जो कि ईसा से कई शती पूर्व हुए हैं, भारत के नीति शास्त्र, आयुर्वेद के निर्माताओं एवं उनके पूर्व प्राचीन ऋषियों की चर्चा की है:—

> यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषीतौ।
> तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तौ कालेन शुक्रश्चबृहस्पतिश्च॥
> सारस्वतश्चैव जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
> व्यासस्तथैनं बहुधा चकार नथं वशिष्ठो कृतवान्न शक्तिः॥

कुछ बौद्ध-जैन लोगों के अनुसार बुद्ध एवं महावीर का समय ईसापूर्व १७०० वर्ष है। तदनुसार अश्वघोष, नागार्जुन, धर्मकीर्ति आदि का समय ईसापूर्व ही

ठहरता है। तदनुसार श्री भट्टपाद कुमारिल, शङ्कराचार्य, मण्डनमिश्र आदि का समय ईसापूर्व पाँचवीं या छठी शती माना जाता है। इस विषय पर "चातुर्वर्ण्य-मीमांसा" मेरी पुस्तक देखें।

बेबोलोनिया प्रदेश में ईसवीय पूर्व १७६० वर्षीय साइटिस वंशोद्भव कुमारों के नामों में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, मरुत् आदि के नाम मिलते हैं। सुमेरियन देशीय राजाओं के नाम भी वैदिक सभ्यता के नाम मिलते हैं। इराक प्रदेशीय भूगर्भान्वेषण में एक भग्नावशेष मन्दिर मिला है।

भारत के सुदूर पूर्व मिस्रदेश की शव समाधियों में वैदिक छायानुकारी सूर्य के स्तोत्र उत्कीर्ण हैं। महञ्जोदड़ो के भूगर्भ में भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर की मूर्त्तियाँ मिली हैं।

वाल्मीकि रामायण में वैद्यों की चर्चा है। वैद्याचार्य दिवोदास का ऋग्वेद में उल्लेख है। पुनर्वसु, आत्रेय, भेड, नग्नजित्, देवदास, वाह प्रभृति अति प्राचीन वैद्याचार्य हैं। आश्विन भारद्वाज, जातूकर्ण्य, पाराशर, हारीत, अग्निवेश आदि भी अति प्राचीन वैद्याचार्य हुए हैं। वैद्यक ग्रन्थों में वैदिक सभ्यता का ही उल्लेख है। इतिहास-पुराणों में तो पदे-पदे वैदिक सभ्यता का उल्लेख है। पुराणों को यद्यपि आधुनिक लोग ईस्वीय समय से परवर्त्ती मानते हैं परन्तु यह मानना गलत ही है।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह उच्छिष्टाज्जज्ञिरे—इस अथर्ववेद के मन्त्र में पुराण की चर्चा है। ईसवीय पूर्व ४७० जरथुस्त्र महाशय के अवेस्ता ग्रन्थ में भारतीय ब्राह्मणों की चर्चा है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने बतलाया है कि प्रमाणभूत ब्राह्मण ग्रन्थ ने पुराणों का प्रामाण्य माना है। इसलिए पुराणों को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

सबृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्चपुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् (अथर्व १५।६।१३।११), **ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह उच्छिष्टज्जज्ञिरे** (छान्दोग्य ७।१।२) **सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः** (११।७।२४ अथर्व सं०) **इतिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् अथ नवमेऽहनि किञ्चित्पुराण माचक्षीत** (शत० १३।४।३।१२।१३) **इतिहास पुराणानि अमृतस्य कुल्याः** (आपस्तम्ब गृह-सू० ४।६) **पुराणे श्लोक मुदाहरन्ति अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीविषयः** (आपस्तम्ब धर्मसूत्रे २।२३।३५) **अभूत सम्प्लवास्ते स्वर्गजितः पुनः स्वर्गे बीजार्थी भवन्ति इति** (भविष्यत पुराणे आप-स्तम्ब धर्मसूत्र २।२४।५-६)।

आपस्तम्ब सूत्रकार पाणिनि कात्यायन से प्राचीन हैं। यह बुलर साहब आदि मानते हैं।

माणवक चरकाभ्यां खञ् पा. ५।१।११ सूत्र से पाणिनि ने चरक शब्द से चारकीण शब्द सिद्ध किया है। वेद की चरकशाखा के प्रवक्ता चरक व्यास सकाक्त हैं। इस तरह आधुनिक इतिहास कीं दृष्टि से भी वेद एवं वैदिक सभ्यता तथा वैदिक समाज की प्राचीनता सिद्ध होती है। वेद मनुस्मृति पुराणादि के अनुसार तो उन सब की प्रवाह रूप से अनादिता ही विदित होती है।

नित्य इतिहास

केवल पुरानी घटनाओं एवं पुराने व्यक्तियों का पुनः पुनः स्मरण या उल्लेख करना ही इतिहास नहीं है क्योंकि वैसा करना गड़े मुर्दों के उखाड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु इन्हीं घटनाओं एवं व्यक्तियों का उल्लेख इतिहास कहा जा सकता है जिनके स्मरण से समाज को धार्मिक, आध्यात्मिक,सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में कुछ सबक सीखने को मिलता हो। इसीलिए सभी घटनाएँ एवं सभी व्यक्ति ऐतिहासिक नहीं हो सकते जिनकी दृष्टि में ६ हजार वर्ष में ही ऐतिहासिक प्रागैतिहासिक काल आ जाते हैं। उनकी दृष्टि में कथञ्चित् प्रत्येक घटनाओं का उल्लेख हो भी सके परन्तु जिस वैदिक समाज की वर्त्तमान सृष्टि भी दो अरब वर्ष की हो उनके यहाँ सबका उल्लेख कहाँ संभव है? यदि सारे संसार का एक वर्ष का इतिहास एक-एक पन्ने में लिखा जाय तो भी दो अरब पन्ने का इतिहास होगा। फिर उसे कितने दिन में कौन पढ़ेगा और कब निष्कर्ष निकालेगा और कब उससे फायदा उठायेगा। व्यावहारिक जगत् में जैसे मनुष्यों के ही जीवन-मरण का उल्लेख होता है। पशु, पक्षी, मच्छर आदि के जीवन-मरण का उल्लेख न आवश्यक ही और न संभव ही है। इसी तरह सब मनुष्यों एवं सब घटनाओं का उल्लेख भी न आवश्यक है न संभव ही है। इसीलिए मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों द्वारा उन उन प्रवाह रूप से नित्य घटनाओं एवं व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है जिनसे विविध क्षेत्रों में शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। रामायण में राम प्रसङ्ग से महाभारत में श्रीकृष्ण एवं युधिष्ठिर, अर्जुन आदि के प्रसङ्ग से शिक्षाप्रद इतिवृत्त का उल्लेख हुआ है जिनमें पुलस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र, भृगु, पुलह, क्रतु, शुक्र, बृहस्पति, मनु, इस्वाकु, मान्धाता, दिलीप, रघु, राम, पुरुरवा, भरत, नहुष, ययाति, शिवि, प्रतर्दन, रन्तिदेव, भीष्म, तुलाधार, विदुर, धर्मव्याध आदि के आदर्शों का वर्णन है। उनकी जीवन-घटनाओं से विविध उत्साह-वर्धक प्रेरणाएँ मिलती रहती हैं। ये ही वैदिक समाज के स्थायी या नित्य इतिहास हैं।

अन्य भी सामयिक ऐतिहासिक होते हैं और होने चाहिए। उनसे भी सामयिक गतिविधि के अनुसार कुछ प्रेरणाएँ प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु उनका स्थायित्व नहीं होता है।

इसी तरह व्यवहार में इतिहास प्रमाण न होकर विधान ही प्रमाण होता है क्योंकि इतिहास घटना विशेष ही होता है। वह सौभाग्यपूर्ण एवं दौर्भाग्यपूर्ण भी हो

सकता है। इतिहास में रावण भी होता है, राम भी होते हैं। विवेचक उनमें से निर्णय करता है—रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत् रामादि के समान वर्त्तना चाहिए रावणादि जैसे वर्त्ताव नहीं करना चाहिए। अतएव लोक-व्यवहार में भी संविधान (कांस्टिट्यूशन) का आदर होता है हिस्ट्री का नहीं।

वैदिक समाज के सन्दर्भ में शास्त्रीय विवेचन

वैदिक धर्म-कर्म से नियन्त्रित मनुष्य-समूह ही समाज कहलाता है। पशु-समूह को समाज न कहकर समज कहा जाता है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों के द्वारा ही अधिकारानुसार विविध श्रेणी के मनुष्यों के लिए विविध प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं। इसी प्रकार विविध उपासनायें तथा ब्रह्मात्मतत्व के अपरोक्ष साक्षात्कार का प्रतिपादन किया गया है। श्रौत सूत्रों एवं द्वादश लक्षणी पूर्व मीमांसा के द्वारा अग्नि-होत्र, दर्श पूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम, आप्तोर्याम, वाजपेय, अश्वमेध, राजसूयं आदि कर्मों का स्वरूप निरूपण किया गया है। गृह्यसूत्रों के द्वारा स्मार्त्त कर्मों का स्वरूप बतलाया गया है। व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा आदि शास्त्रों का भी उपयोग वेदाध्ययन वेदार्थ निर्णय एवं वेदार्थ के अनुष्ठान में होता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग एवं वेदान्त उत्तर मीमांसा के द्वारा वेदोक्त आत्मा अनात्मा का विवेचन परमेश्वर तथा उसकी सृष्टि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। वेदोक्त धर्म ब्रह्म के ज्ञान से यथायोग्य कर्म, उपासना एवं तत्त्वसाक्षात्कार से हिन्दू वैदिक समाज न केवल स्वर्ग, ब्रह्मलोक एवं परमात्म-प्राप्ति ही प्राप्त कराता था अपितु लोक में भी समाज, राष्ट्र तथा विश्व के संघटन समन्वय सामञ्जस्य के द्वारा व्यष्टि समष्टि अभ्युदय तथा सौभ्रातृ स्थापित करने में सफल हो सका था। मन्वादि धर्म-शास्त्र, पुराण, इतिहास, नीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, वास्तुशास्त्र, साहित्य, संगीत, अश्वशास्त्र, हस्तिशास्त्र, विमानशास्त्र, शस्त्रास्त्र शास्त्र आदि सभी का आवि-र्भाव मूलमंत्र ब्राह्मणात्मक वेदों से ही हुआ है।

हिन्दुत्व का आधार

'संघी' आधुनिक लोगों के द्वारा प्रचारित 'साम्प्रदायिकता' से घबड़ाकर हिन्दुत्व औरसाम्प्रदा यिकता, हिन्दू और साम्प्रदायिक का भेद सिद्ध करने के लिए आकाशपाताल का कुलावा भिड़ाते हैं। वे नहीं जानते कि आधुनिक लोग अनुचित दलबन्दी, नाजायज गिरोहबन्दी को ही 'सम्प्रदाय' कहते हैं। परन्तु 'सम्प्रदाय' शब्द का अर्थ ऐसा नहीं, अपितु ज्ञान, उपासना, कर्मकाण्ड आदि की अनादि अविच्छिन्न आचार्य-परंपरा को 'सम्प्रदाय' कहा जाता है। हमारे यहाँ 'साम्प्रदायिकता' गौरव की चीज है, लज्जा की बात नहीं। 'तुल्यं साम्प्रदायिकम्' (जै० सू०) के अनुसार साम्प्रदायिक होने से हो ब्राह्मणभाग की मन्त्रभागवत् अपौरुषेयता, अनादिता सिद्ध की गयी है। शुद्ध वैदिक-सम्प्रदायनिष्ठ व्यक्ति ही 'हिन्दू' होता है।

'संघी' कहते हैं कि सिन्धु से लेकर सिन्धुपर्यन्त भारतभूमि को जो पितृभू और पुण्यभू मानता है वही हिन्दू है'—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दूरितिस्मृतः॥

यह परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से पूर्ण हैं। इसके अनुसार प्राचीनकाल के वे हिन्दू, जो दूसरे द्वीपों में रहते थे, हिन्दू ही नहीं कहे जा सकते। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार तो वैदिक ही हिन्दू थे। वेदों के आधार पर परमेश्वर सृष्टि रचता है। अतः वेद अनादि हैं। कहीं भी उत्पन्न होनेवाला किसी भी देश को पितृभू और पुण्यभू मानने वाला हिन्दू हो सकता है, केवल वह वैदिक धर्मानुयायी होना चाहिए। मुसलमान, ईसाइयों ने भी धर्म के आधार पर ही जाति की कल्पना की है। इस्लाम एवं ईसाई धर्मविश्वासी कोई भी और कहीं भी हो, मुसलमान या ईसाई कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त देश की सीमाएँ अव्यवस्थित हैं। इस आधार पर यदि जाति-कल्पना करें तो, जाति भी अव्यवस्थित ही रहेगी। आज सिन्धु की कौन कहे—विपाशा, चन्द्रभागा, वितस्ता, इरावती नदी भी भारत में नहीं हैं, वे पाकिस्तान में हैं। वहाँ के निवासी को व्यावहारिक रूप से क्या कहेंगे? किसी समय ईरान, अफगानिस्तान आदि भी भारत की ही सीमा में थे, जो सिन्धु मे परे हैं। वहाँ के निवासियों और उसी भूमि को पितृभू, पुण्यभू माननेवालों को इस परिभाषा के अनुसार हिन्दू कैसे कहा जायगा? इसी तरह यदि कोई ठीक हिन्दू धर्म का विरोधी भारतभूमि में बाहर से आकर बस जाय और यहाँ अपना अभिमत धर्मस्थान बना ले और इस भूमि को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानने लग जाय, तो उसे भी 'हिन्दू' कहना पड़ेगा।

इतना ही क्यों, मुसलमान भी इस देश को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं। उनके अनेक धर्मस्थान यहाँ हैं ही, उन्हें वे पुयभूमि मानते ही हैं, फिर उनमें यह लक्षण अतिव्याप्त ही होगा। कुछ लोग कहते हैं कि 'पुण्यभूमि का अर्थ धर्म की उत्पत्ति का स्थान है।' परन्तु तब भी यह परिभाषा अनुचित होगी। वैदिकों का सनातनधर्म नित्य है, वह कहीं भी उत्पन्न नहीं हुआ। अतः यह सनातनधर्म की उत्पत्ति की भूमि नहीं है। इस दृष्टि से सनातनधर्मी ही हिन्दू न कहे जा सकेंगे। फिर प्रश्न यह होगा कि 'पितृभूमि, पुण्यभूमि, दोनों जो माने, वही हिन्दू अथवा दोनों में से एक भी माननेवाला हिन्दू है? 'कुछ लोग चीनी, जापानी बौद्धों को 'हिन्दू' सिद्ध करने के लिए एक ही पर्याप्त मानते हैं—उनकी पितृभूमि यद्यपि भारत नहीं है तथापि उनका धर्म भारत में ही उत्पन्न हुआ, अतः वे भी हिन्दू हैं। परन्तु यदि एक

एक भी लक्षण माना जाय तब तो पितृभूमि मात्र मानने से भी कोई हिन्दू हो सकेगा। मुसलमानों का धर्म भले ही यहाँ न उत्पन्न हुआ हो, तथापि उनकी भी पितृभूमि भारत है ही।

वस्तुतः ये सब निष्प्रमाण लक्षण हैं और केवल संख्या बढ़ाने की दृष्टि से ही गढ़े जाते हैं। कहा जाता है कि 'भारत के वैदिक, चार्वाक, जैन सब हिन्दू कहे जायँगे।' परन्तु यदि पुण्यभूमि माननेवाला हिन्दू है, तब चार्वाक कैसे हिन्दू होगा, जबकि उसका परलोक ही नहीं? धर्माधर्म की मान्यता नहीं, तब तीर्थ और धर्म की चर्चा ही क्या? इस दृष्टि से धार्मिकता को लेकर ही इस पक्ष में भी कैसे हिन्दुत्व की कल्पना होगी? फिर अधार्मिक चार्वाक हिन्दू कैसे होगा? इसके अतिरिक्त जब जैन, बौद्ध, चार्वाक भी हिन्दू इस नाते हैं कि वे भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, तब मुसलमान भी यदि भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानें, तो अवश्य ही वे भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। जैसे वैदिकों के पुण्य और तीर्थों को न मानते हुए भी जैन अपने तीर्थों और पुण्यों को मानने से ही हिन्दू होंगे, वैसे ही उपर्युक्त दोनों के तीर्थों और पुण्यों को न मानने पर भी स्वाभिमत पुण्य और तीर्थ मानने से मुसलमान भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। काशी आदि से भिन्न तीर्थ मानने पर भी जैन हिन्दू हैं, तो काशी आदि से भिन्न अपनी मसजिदों, बहराइच आदि स्थानों को तीर्थ मानने से भी मुसलमान हिन्दू हो सकेंगे। इसलिए कई लोगों ने तो यहाँ तक भी कहा कि 'हिन्दुस्थान में रहनेवाला हिन्दू है।' फिर तो स्पष्ट है कि प्रादेशिकता हिन्दुत्व ठहरेगा। यदि बीच में धार्मिकता भी लाना चाहेंगे, तो उसकी परम्परा भी माननी पड़ेगी और तथाकथित साम्प्रदायिकता भी आ ही जायगी। अतः ये सब लक्षण असंगत हैं।

वास्तव में 'वेदादि धर्मशास्त्र और तदाधारित निबन्धानुयायित्व' हिन्दुत्व है। यदि कोई सर्वमान्य विशेषता और प्रमाण की अपेक्षा न हो तब तो वास्तविक संग्राहक लक्षण यही है कि 'गोभक्ति, प्रणवादि नाम पूजा, पुनर्जन्मविश्वास' हिन्दुत्व के प्रयोजक हो सकते हैं। जैन, बौद्ध, सिख, हिन्दू सबमें यह लक्षण संगत हो जाता है—

> गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवादौ दृढा मतिः।
> पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दूरिति स्मृतः॥

यों जैसे जातीयता के कारण अनुचित दुराग्रह और पक्षपात को तथाकथित 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है, वैसे ही प्रादेशिकता को लेकर अनुचित दुराग्रह को भी गिरोहबंदी कहा जा सकता है। किसी एक के मतभेद के कारण दूसरों को मौत के घाट उतारने के दुराग्रह को ही तथाकथित 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है। समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि-हित का प्रयत्न अनुचित नहीं, परन्तु समष्टि-हित के विघातक व्यष्टि-समुन्नति के प्रयत्न हानिकारक होते हैं। व्यक्तिवाद, तथाकथित

सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद या राष्ट्रवाद भी उसी तरह खतरनाक होते हैं। यों हिटलर का राष्ट्रवाद विश्वशान्ति के लिए अहितकर था, इसीलिए उसका अन्त सभी चाहते थे।

अब यहाँ विचारणीय विषय यह है कि धार्मिकता व्यापक है या प्रादेशिकता? स्पष्ट है कि प्रादेशिकता बहुत ही क्षुद्र है। पहले तो भारत कितना बड़ा है, कौन है? इसका भी पूरा निर्णय नहीं हो रहा है। पुराणों में ६ हजार योजन उसका परिमाण लिखा है, जिसका अभिप्राय आजकल का सारा संसार ही भारत है। फिर तो सभी व्यक्ति भारतीय या हिन्दू हैं। ईरान, कंधार आदि तो कल तक भारत ही था। गान्धारी का खास सम्बन्ध गन्धार ही से था। यदि धार्मिकता हिन्दुत्व है, तब तो विभिन्न देशों में उसकी व्याप्ति हो सकेगी। यदि प्रादेकिता के अभिप्राय से हिन्दुत्व की व्याख्या की जाय, तो अधिक से अधिक भारत के राष्ट्रभक्त मनुष्य हिन्दू हो सकते हैं। तथा च इसकी क्षुद्रता स्पष्ट है। इस दृष्टि से विभिन्न द्वीपों और वर्षों के निवासी राजर्षिगण कथमपि हिन्दू न कहे जा सकेंगे। जो 'भारतीय राष्ट्रीय समाजवाद' को ही हिन्दुत्व मानते हैं, उनके मत से हिन्दुत्व केवल मिट्टी के कुछ टुकड़े मात्र से सम्बद्ध है। किन्तु अन्य देश, द्वीप या वर्ष का नागरिक वैदिकधर्मावलम्बी भारतीय समाज से अलग ही रहेगा। फिर क्या वह हिन्दू न रह सकेगा?

'हिन्दू अपरिभाष्य है' (वि० न० ४४–४५ पृ०) इन पृष्ठों में गोलवलकर कहते हैं कि 'जैसे सूर्यचन्द्र की परिभाषा हो सकने पर भी चरमसत्य की परिभाषा नहीं हो सकती है, वैसे ही मुसलमान, ईसाई की परिभाषा है पर हिन्दू अपरिभाष्य ही है। परन्तु यह पक्ष केवल पलायन का ही है क्योंकि जिन महाभारत गीता रामायण मनु उपनिषद् आदि के वचन आप अपने मन्तव्य-पुष्टि के लिए उपस्थित करते हैं—उन सभी ने परम सत्य परमेश्वर या ब्रह्म के लक्षण एवं परिभाषा उद्घोषित की है—

> **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,**
> **यत्प्रयन्त्याभिसंविशन्ति, तद्ब्रह्म।'**

सर्वभूत जिससे उत्पन्न होते हैं जिसमें जीवित होते हैं वही ब्रह्म है यह उसके तटस्थ लक्षण हैं। यह ब्रह्म की अव्यभिचरित परिभाषा है और **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** **'विज्ञान मानन्दं ब्रह्म'** सर्वोपप्लवरहित अनन्त एवं अत्यन्त अबाध्य स्वप्रकाश सत्य ही ब्रह्म या परम सत्यवस्तु है यह उसका स्वरूप लक्षण है। 'ईश्वर अनुच्छिष्ट है' (वि० न० ४५ पृष्ठ), उसका कभी वर्णन नहीं हो पाया। यह श्री रामकृष्ण परमहंस का कथन कोई नयी वस्तु नहीं है। किन्तु उनका कथन—**'यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तै०उ० ब्र० व० ९) इस तैत्तिरीय श्रुति का अनुवाद मात्र है। मन के साथ वाणी जिसका प्रतिपादन प्रकाशन करने में असमर्थ होकर निवृत्त हो जाती है वह अनिर्वाच्य तत्त्व ही ब्रह्म है। रामायण भी कहती है—

मन समेत जहं जाय न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी*॥

परन्तु साथ ही 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं' 'सर्ववेदायत्पदमामनन्ति' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषे पृच्छामि' 'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः' 'मनसैवानु-द्रष्टव्यम्'।

अवेदवित् परमतत्त्व को नहीं जानता। सर्ववेद उसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। परमपुरुष औपनिषद् है। जैसे चाक्षुष रूप आलोकादि सहकृत दोषरहित मनः संयुक्त चक्षु से अवश्य उपलब्ध होता है, उसी तरह साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकृत साधक द्वारा उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगों द्वारा विचार्यमाण उपनिषदों से परमपुरुष परम-सत्य अवश्य ही विदित होता है। सूक्ष्मदर्शी लोग अग्र्या बुद्धि अर्थात् पर ब्रह्माकारा-कारित बुद्धि से उस ब्रह्म का अवश्य ही अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। तभी चाक्षुष रूप के समान ही औपनिषद पुरुष कहा जाता है। इसीलिए शास्त्रों और आचार्यों ने इन वचनों का समन्वय करके निश्चित सिद्धांत का निरूपण किया है। ब्रह्म, वृत्ति व्याप्ति का विषय होता है। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति से असत्त्वा पादक अभा-नापादक आवरण की निवृत्ति होती है। इसलिए ब्रह्म का अग्र्यबुद्धि से साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से ब्रह्म को मन एवं बुद्धि से अगम्य कहा गया है—

वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्यशास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञान नाशाय वृत्ति व्याप्यत्व मिष्यते॥

इसी प्रकार शब्द द्वारा शक्तिवृत्ति से ब्रह्म का बोध नहीं होता क्योंकि स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध न होने से शब्द की प्रवृत्ति उसमें नहीं होता। डित्थ, डवित्थ आदि शब्दों की स्वरूप से, गो आदि शब्दों की जाति से, नील, गौ आदि शब्दों की गुण से, लावकः, पालकः आदि शब्दों की क्रिया से, धनो गोमान् आदि शब्दों की सम्बन्ध से प्रवृत्ति होती है। लक्षणा भी शक्यार्थ सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होती है। परन्तु ब्रह्म अनिर्देश्य एक अजाति निर्गुण निष्क्रिय असंग है। अतः शक्ति, लक्षणा आदि किसी भी वृत्ति से ब्रह्म में शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए ब्रह्म अवाच्य माना जाता है। फिर भी परब्रह्म में सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व, ईश्वरत्व, जीवत्व तथा अन्य जड़ जगत् अध्यस्त होने में आध्यासिक सम्बन्ध से रहता है। अतः तत्, त्वं शब्दों के वाच्य सर्वज्ञ ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव के संबंधी अधिष्ठान चैतन्य में उक्त शब्दों की लक्षणा मान्य होती है। अतः लक्षणा वृत्ति से उपनिषदों द्वारा ब्रह्म का प्रबोध होता है। तभी, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादि वचनों की संगति लगती है। इसी प्रकार अस्थूल अनणु—'नेति नेति

आदि वाक्यों के द्वारा अनात्म प्रपंच की बाध या निवृत्ति के द्वारा भी बाध के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का प्रतिपादन होता है।

अतद्व्यावृत्त्यायंचकितमभिधत्ते श्रुतिरपि (म० स्तो० २)।

इस तरह जब ब्रह्म की भी परिभाषा होती है तब फिर उसके दृष्टांत से हिन्दू को अपरिभाष्य कहना वैसा है जैसे किसी विवाहार्थी वर से गोत्र पूछे जाने पर उसने कहा जो तुम्हारा गोत्र है वही हमारा। परन्तु उसने यद्यपि अन्धानुकरण से अपना अज्ञान छिपाने का प्रयत्न किया, परन्तु तो भी मनोरथ पूरा नहीं हुआ क्योंकि सगोत्र में विवाह नहीं होता है। अवाच्यता का प्रयोजक निर्देश्यस्वरूप जातिगुण क्रिया सम्बन्धादि का अभाव ही होता है फिर प्रत्यक्ष एक मनुष्य समूह को जिसमें निर्देश्य-स्वरूप गुण क्रियादि सब कुछ हैं अवाच्य या अपरिभाष्य कैसे कहा जा सकता है। वस्तुतः यह भी शास्त्र प्रामाण्यवाद से पिण्ड छुड़ाने का असफल प्रयास ही है। मनुष्यत्वजाति सभी मनुष्यों में होती है। श्वेत अश्वेत पीत आदि मनुष्यत्व व्याप्य जातियां हैं। रंगभेद के समान ही देशादिकृत आकृतिभेद से भी जातिभेद का व्यवहार होता है। परन्तु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि भेद रंग भेद या आकृति भेद पर अवलंबित नहीं हैं। किन्तु धर्म भेद को लेकर ही यह भेद है। जो कुरान के अनुसार ईस्लाम धर्म के विश्वासी हैं वे मुसलमान हैं। बायबिल के अनुसार ईसाई धर्मानुयायी ईसाई हैं। वेदादि शास्त्र के अनुसार हिन्दू धर्म के अनुयायी हिन्दू हो सकते हैं। वेदादि शास्त्रों में वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, वाजपेय, राजसूय आदि कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका अनुष्ठान जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही कर सकते हैं। निषादस्थपति याग, रथकारेष्टि जैसे कुछ कर्मों का शूद्र ही अनुष्ठान कर सकते हैं। कुछ सत्य दया क्षमा अहिंसा ईश्वर-भक्ति तत्वज्ञान आदि का अनुष्ठान मनुष्य मात्र कर सकते हैं। परन्तु वे सभी वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य माननेवाले तथा अपने अधिकारानुसार वेदादि शास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वाले हिन्दू हैं। जन्मना ब्राह्मणादि का भी सब कर्मों में अधिकार नहीं है। ब्राह्मण एवं वैश्य का राजसूय में अधिकार नहीं है। ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों का वैश्यस्तोम में अधिकार नहीं है। निषादस्थपतीष्टि में उक्त तीनों का अधिकार नहीं है। विशेषतः हिन्दू शास्त्रानुसार जिनके पुनर्जन्म विश्वास दायभाग विवाह अन्त्येष्टि मृतक श्राद्धादि कर्म होते हैं वे सब हिन्दू हैं। बौद्धों, जैनों में भी यद्यपि तत्त्वज्ञान में मतभेद रहा है तथापि व्यवहार में दायभाग विवाह अन्त्येष्टि पुनर्जन्म व्यवहार आदि में भेद नहीं था। मिताक्षरादि निबन्ध ग्रंथों पर आधृत हिन्दू ला से ही सबका शासन होता है। हिन्दू कोड बनाने वालों ने भी हिन्दू ला द्वारा शिष्ट (शासित) को ही हिन्दू माना था। वस्तुतः गो में जिसकी भक्ति हो प्रणवादि ईश्वर नाम में यथाधिकार जिसकी निष्ठा हो तथा पुनर्जन्म में जिसका विश्वास हो वह हिन्दू है।

इस तरह वेदादि शास्त्र प्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वम् मिताक्षरादि निबन्धाधृत नियम-नियम्यत्वम् गोभक्तिमत्वे प्रणवादि परेश नाम निष्ठत्वे च सति पुनर्जन्म विश्वासवत्वम् यह सभी हिन्दुत्व के पुष्ट लक्षण हैं।

वस्तुतः जहाँ लक्ष्यप्रत्यक्ष होता है वहाँ तो लक्ष्य के अनुसार अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असंभवादि दोष शून्य लक्षण का निर्माण किया जाता है। जैसे गो प्रत्यक्ष है अतः सास्नादिमत्व गो का लक्षण किया जाता है। गलकम्बल गो का असाधारण लक्षण है। वह सब गो व्यक्तियों में रहता है, अश्वमहिष आदि में नहीं होता। ऐसे ही आकृतिमूलक लक्षण भी सब समान आकृतिवालों में संगत होते हैं। परन्तु शब्दों की शुद्धि अशुद्धि सर्वसाधारण के लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं है किन्तु सर्वज्ञ कल्प कवियों को ही उसका ज्ञान होता है। अतः वहाँ लक्ष्य के अनुसार लक्षण नहीं बनाया जाता किन्तु लक्षण के अनुसार ही लक्ष्य का निर्णय किया जाता है। ऋषियों को ही शब्द की साधुता असाधुता का ज्ञान होता है। अतः पाणिनि कात्यायन पतंजलि के द्वारा निर्मित लक्षणों, सूत्रों द्वारा साधुत्व असाधुत्व का ज्ञान करना आवश्यक होता है। ऋषि लक्ष्यैक चक्षुष्क एवं तद्भिन्न लक्षणैक चक्षुष्क होते हैं।

इसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्ण तथा उनके अधिकार तथा धर्म आदि प्रत्यक्षानुमान-गम्य नहीं हैं। किन्तु अपौरुषेय एवं आर्ष शब्दों के अनुसार ही उनका ज्ञान होता है। अतः उक्त विषयों में संख्या बढ़ाने की दृष्टि से रबड़ छंद वाली परिभाषा मान्य नहीं होती है।

लोक में भी किसी प्रतिष्ठित संस्था के सदस्य संबंधी स्थायी नियम होते हैं। सदस्यों को उन नियमों का पालन करना पड़ता है। जो सदस्य उनका पालन नहीं करते उनको सदस्यता से च्युत कर दिया जाता है। जो संस्था नियमोल्लंघन करने वालों को भी सदस्य संख्या वृद्धि के लोभ से सदस्य बनाये रखती है या उनके अनुरोध से नियमों में घटाव-बढ़ाव करती है वह संस्था स्थिर नहीं रह सकती। इसी तरह सदस्य संख्या वृद्धि का लोभ छोड़कर यदि वस्तुस्थिति के अनुरोध से साधर्म्य वैधर्म्य का विचार किया जाय तो अवश्य ही हिन्दू का लक्षण या परिभाषा हो सकती है। संख्यावृद्धि लोभ के अतिरिक्त ब्रह्म जैसी कोई भी ऐसी तात्त्विक बात नहीं है जिससे हिन्दू समाज को अपरिभाष्य कहा जाय। जैसे कांग्रेस ने स्वराज्य को अपरि-भाष्य बताकर लोगों को धोखे में रखा था वैसे ही आप भी हिन्दू को अपरिभाष्य सिद्ध करने की निरर्थक चेष्टा करते हैं।

"उन लोगों के सम्बन्ध में यह बात स्वाभाविक भी है जिनकी वृद्धि एवं विकास गत अनेक शताब्दियों से होता आ रहा है।" (वि० न० ४६ पृ०)

आपका यह कथन भी इसी बात की पुष्टि करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि आज ब्राह्मणादि वर्णों से अतिरिक्त अनेक जातियाँ उपजातियाँ वैदिक धर्म से अतिरिक्त अनेक धर्म उपधर्म अनेक रीति-रिवाज हिन्दू समाज में प्रविष्ट हैं। अतः पुरानी परिभाषा अव्याप्त है। यद्यपि उक्त सभी बातों को संकलन करनेवाली भी परिभाषा हो सकती है तथापि आपको डर है कि आगे कुछ दिनों में और भी अनेक धर्मों एवं जातियों का उसमें सन्निवेश संभव है। अतः आज की परिभाषा भी आगे चलकर सर्वसंग्राहक न हो सकेगी। परन्तु जब कोई एक ठोस स्थायी आधार या नियम हिन्दुत्व का मान्य नहीं है तो हिन्दुत्व नाम से भी व्यामोह अपने आपको क्यों होना चाहिए? क्योंकि आज बहुत से हिन्दू अपने आपको हिन्दू कहना भी ठीक नहीं समझते हैं। वर्तमान काल में भी बहुत से लोग आपको संस्कृति एवं आदर्श को नहीं मानते हैं। आप भी जब सभी जातियों को आत्मसात् करना चाहते हैं और ठोस अपौरुषेय एवं आर्ष धर्मग्रन्थों एवं तदुक्त वर्णाश्रम धर्म आचारविचार पर विश्वास नहीं करते हैं तो केवल अपरिभाष्य हिन्दू शब्द और तथाकथित अपरिभाष्य हिन्दू संस्कृति तथा भगवा झण्डा का ही व्यामोह क्यों?

आपके तुल्य ही कुछ लोग कहते हैं कि पाणिनि आदि ऋषियों ने व्याकरण सूत्रों के नियमों से संस्कृत भाषा को जकड़ दिया है। इसीलिये उसका विकास रुक गया। परंतु उनकी दृष्टि का यह विकास संस्कृत के शुद्ध रूप का विनाश ही होगा। इसी तरह आपका तथाकथित विकास शुद्ध हिन्दुत्व का विनाश ही है। प्रमाणहीन, परिभाषाहीन, तात्त्विक आधाररहित एवं धर्महीन गीत गानेवाला कबड्डी खेलनेवाला निःसार तथाकथित हिन्दुत्व आपको ही अभीष्ट हो सकता है, किसी प्रामाणिक हिन्दू को नहीं। विचित्रता यह कि फिर भी उसे आप अनादि कहना चाहते हैं। यदि आप इसके मूल को अनादि कहना चाहते हैं तो यह बताइये कि वह मूल क्या है? न्यायदर्शन के अनुसार तो सभी वस्तु प्रमेय एवं सभी वाच्य हैं। "फिर आपका हिन्दुत्व अप्रमेय एवं अवाच्य कैसे?

"अतएव हमारा अस्तित्व उस काल से है जब नाम की आवश्यकता नहीं थी। हम आर्यप्रबुद्ध लोग थे। प्रकृति एवं आत्मा के ज्ञाता थे। हमने एक महान् सभ्यता, महान् संस्कृति तथा एक अनुपम समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था।" (वि० न० ४६ पृ०)

यह सब कथन निःसार है क्योंकि आपकी संस्कृति सभ्यता सब कुछ प्रमाणशून्य अपरिभाष्य निराकार अतएव खपुष्पवत् है, अथवा केवल आपका मिथ्याभिमान ही है। जिनको प्रकृति पुरुष का ज्ञान था वे तो वेदादि प्रमाणित ब्राह्मणादि वर्णवाले हिन्दू थे। आपका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। पूर्व मीमांसक उत्तर मीमांसक तथा वैयाकरण आदि भारतीय दार्शनिकों से आपका सब ... भिन्न है। क्योंकि इन

सभी के मत में शब्द और अर्थ का स्वाभाविक एवं नित्य संबंध होता है। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (पू० मी० द० १।१।५) इत्यादि जैमिनीय सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि शब्द अर्थ का संबंध औत्पत्तिक अर्थात् स्वाभाविक है। बादरायण महर्षि ने भी 'अतएव च नित्यत्वम्' (उ० मी० १।३।२९) इस सूत्र से वेद को नित्य कहा है। 'वाचाविरूपनित्यम्' (ऋ० सं० ८।७५।६) इस ऋग्मंत्र में वेदवाणी को नित्य कहा गया है। वैयाकरणों के अनुसार कोई भी प्रत्यय (विचार बिना शब्द के नहीं होता। अतः विचार का भाषा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होता है। तथा च ईश्वरीय, नित्यज्ञान में अनुविद्ध शब्द नित्य ही होते हैं। "अतः शब्दों का उद्भव तो उसके पश्चात् ही हुआ है" (वि० न० पृ० ४६ यह आधुनिक पाश्चात्यों के शिष्यों का ही मत है। एक तरफ आप अन्धानुकरण का खण्डन करते हैं, दूसरी तरफ आप स्वयं ही दूसरों के विचारों का अन्धानुकरण करते हैं। आधुनिक ही कहते हैं कि पहले कोई भाषा नहीं थी। मनुष्य भी पशुओं जैसी ही बोली बोलता था। धीरे-धीरे मनुष्य सभ्य होता हुआ, भाषा का परिष्कार करता है। प्राकृत का संस्कार करने से संस्कृत भाषा बनती है। परंतु यह सब मत असंगत हैं। तथा प्राकृत व्याकरण से भी विरुद्ध है, क्योंकि उसमें प्रकृति संस्कृत को माना गया है और उस प्रकृति से उद्भव होने के कारण संस्कृत से उद्भूत को प्राकृत कहा गया है। अतः शब्दों के उद्भव से भी हम पहले के हैं, इसलिए हम हिन्दू अपरिभाष्य हैं, यह मत सर्वथा ही अशुद्ध एवं अग्राह्य है।

नैयायिकों के अनुसार भी शब्द अनित्य होने पर भी प्रवाह रूप से शब्द सामान्य एवं वेदादिशास्त्र नित्य ही हैं।

आप यह भी कहते हैं कि हम आर्य प्रवुद्ध लोग थे (पृ० ४६)। परन्तु यह भी अशुद्ध है, कारण स्वामी एवं वैश्य अर्य होते हैं आर्य नहीं। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा०सू० ३।१।१०३) यह व्याकरण सूत्र है। आर्य शब्द का प्रयोग शूद्र के लिए भी नहीं होता था। वस्तुतः इन्हीं कारणों से तो आप शास्त्र प्रामाण्य मानने से पलायन करते हैं। वही हिन्दू समाज जीवन्त सत्य है, जो प्रामाणिक आधार पर स्थिर है आपका तथाकथित अपरिभाष्य हिन्दू नहीं। आप यद्यपि हिन्दू को गैरमुस्लिम कहने का विरोध करते हैं (पृ० ४७) परन्तु जब आपका कोई भावात्मरूप परिभाष्य ही नहीं है तो अर्थतः गैर मुस्लिम शब्द ही आपके लिए उपयुक्त हो सकता है। आखिर अपरिभाष्य शब्द भी तो नकारात्मक ही हैं। आश्चर्य है कि जो हिन्दुत्व के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता, जो उसकी परिभाषा भी नहीं कर सकता, वही दुनियाँ के सामने बढ़-चढ़ कर घमण्ड की बात करता है। ऐसे समूहों की संसार में कमी नहीं जो संसार में अपने को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। ईश्वर आत्मा या परमसत्य की

अनुभूति का दावा करनेवालों की भी कमी नहीं है। वस्तुतः किसी वस्तु का साधर्म्य ज्ञान से ही निरूपण होता है। साधर्म्य ही लक्षण होता है और वही परिभाषा होती है। नित्य, एक एवं अनेक में समवेत धर्म या साधर्म्य ही जाति, लक्षण, परिभाषा होती है। यदि पुनर्जन्म हिन्दू मात्र की निजी विशेषता है तो वही उसकी परिभाषा या लक्षण हो सकती है—'नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वं सामान्यम्।'

परन्तु वहाँ भी प्रश्न होगा कि पुनर्जन्म का सिद्धांत भी किसी तर्क या प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अथवा आगम से ? तर्क तो अव्यवस्थित है। विरोधी अनुरोधी तर्क नये-नये निकलते ही रहते हैं। आप भी अन्त में यह स्वीकार करते हैं कि हमारे सभी पवित्र-ग्रन्थों तथा प्राचीन आर्वाचीन सम्प्रदायों में यही मूलभूत तत्त्व अन्तर्निहित है, (वि० न० पृ० ८४)।

परन्तु यह कहने में क्यों हिचकते हैं कि वे कौन से पवित्र ग्रंथ हैं और उनका प्रामाण्य मान्य है या नहीं, मान्य है तो कोई पुस्तक हमें नहीं मान्य है इस कथन का क्या विरोध नहीं हुआ ? यदि शास्त्र मान्य हैं तो फिर सीधे कह ही सकते हैं कि वेदादि पवित्र धर्मग्रंथों द्वारा प्रोक्त धर्म सभ्यता संस्कृति **में** विश्वास रखनेवाला हिन्दू है।

आपका यह कथन कि 'स्वार्थरहितभाव से केवल कर्त्तव्य के नाते कर्म करते हैं... तो हमारे विविध कर्म, एवं उनके फल हम पर प्रभाव नहीं डालते।' (वि० न० ४८ पृ०) तभी संगत होगा जब कार्य-अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण मानकर चला जायगा, अन्यथा शास्त्रविरुद्ध सुरामांसादि दान निष्काम होकर करने पर भी उसका दुष्परिणाम भोगना ही पड़ेगा। शास्त्र विरुद्ध रजस्वला कन्यादान सगोत्र सपिण्ड कन्या परिणयादि अवश्य ही नरकादि के हेतु होंगे।

"हमारे दार्शनिकों ने उस सत्य के बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में 'मनुष्य' को रखा है...उन्होंने घोषणा की है—हमारे समान ही प्रत्येक मनुष्य उस सत्य का एक स्फुल्लिग है (वि० न० ४९ पृ०)।"

आपका यह कथन भी निःसार ही है कारण वे कौन दार्शनिक हैं जिन्हें आप प्रमाण मानते हैं। यह स्पष्ट नहीं बताया। यदि —

> **ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः।**
> **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
> **सुख वा यदि वा दुःख स योगी परमोमतः॥'**
> **'तद्यथाग्नेर्विस्फुल्लिगाव्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मा**
> **दात्मनः सर्वे लोकाः सर्वेप्राणा व्युच्चरन्ति।**

(गीता में भगवान् कहते हैं कि 'जीव मेरा ही अंश है। जो अपने समान ही सबमें सुखदुःख का अनुभव करता है वह परमयोगी है। उपनिषद कहते हैं—जैसे

अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे परमात्मा से सब लोक एवं सब प्राण प्रादुर्भूत होते हैं) इत्यादि श्रुतिशास्त्र वचन ही आपके दर्शन हैं तो इनमें तो मनुष्य ही नहीं, किन्तु प्राणिमात्र जिसमें पशु-पक्षी देवता दानव मानव सभी उस परमात्मा के विस्फुल्लिग कहे गये हैं। इससे मनुष्यों एवं हिन्दुओं की कोई विशेषता नहीं सिद्ध होती है।

मनुष्य अकेला नहीं रहता (वि० न० ४६ पृ०)। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यह प्रसिद्ध विचार रूसो आदि के हैं। इन्हें भारतीय दर्शनों के मत्थे मढ़ना उचित नहीं है। भारतीय भावनानुसार तो मनुष्य एकाकी रहकर ही पूर्ण उन्नति कर सकता है। 'एकाकी निस्पृहः शान्तः' आपने भी अन्त में अर्धनग्न संन्यासियों की महत्ता मानी है (वि० न० ५० पृ०)।

परन्तु हृदय की विशालता मन की शुद्धता चरित्र की उदात्तता बाह्य संपदा के पीछे न भटक कर सद्गुणों का संग्रह करना (४६ पृ०) गुण अवश्य महत्वपूर्ण हैं। परन्तु यह हिन्दुओं से अतिरिक्त अन्य लोगों में भी होते हैं। यह हिन्दुत्व के परिचायक नहीं कहे जा सकते हैं।

मूलवस्तु को छोड़कर पल्लव ग्रहण से काम नहीं चल सकता है। चरित्र क्या है, उदात्तता क्या है इत्यादि का भी निर्णय शास्त्रों से ही होता है। वस्तुतः श्रुतिशास्त्रा-नुगा बुद्धि ही सब सद्गुणों का मूल है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार श्री भरत जी ने कौशल्या जी से अनेक शपथों द्वारा यह प्रमाणित किया कि राम के वनगमन में उनका कोई हाथ नहीं है। उन शपथों में सर्वप्रथम शपथ यह है कि—मातः सत्यसंघ सज्जनों में श्रेष्ठ श्री राम को जिसकी अनुमति से वनवास हुआ हो उसे कभी भी ब्रह्मचर्यादि व्रतपूर्वक आचार्य परंपरा से प्राप्त होनेवाली शास्त्रानुसारिणी बुद्धि न हो—

'कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्माभूत्तस्य कदाचन।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्यो नुमते गतः॥

(वा॰ अ० का० ७५ सर्ग २१)

यदि श्रुतिशास्त्रानुसारिणी बुद्धि होगी तभी ...धर्मपरिवर्जन ब्रह्मनिष्ठा एवं तदुपयोगी गुणों का संग्रह हो सकेगा।

आपने यह भी लिखा है कि कोई व्यक्ति या तो हिन्दू हो सकता है या कम्युनिस्ट (वि० न० ५१ पृ०)। पर जब हिन्दुत्व का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है तो फिर जैसे आपका कम्युनिस्ट विरोधी हिन्दुत्व आदर्श है वैसे ही किसी का कम्युनिज्म समन्वित हिन्दुत्व भी आदर्श हो ही सकता है क्योंकि आप दोनों प्रमाणशून्य हिन्दुत्व के ही पोषक हैं।

"यह मेरा धर्म है, यह मेरा दर्शन है, यह मेरा हिन्दू राष्ट्र है (वि० न० ५२ पृ०)।" यह सब कथन भी तभी संगत हैं, जब कल्पना की उड़ान छोड़कर किसी दर्शन की मान्यता स्वीकार की जाय।

कांग्रेस को मुस्लिम लीग से वार्ता करके अपना राष्ट्रिय आधार नहीं त्यागना चाहिए अपितु यह कार्य करने के लिए हिन्दू महासभा से कहना चाहिए (वि० न०५२ पृ०)। हिन्दू सभा के इस प्रस्ताव का तो सीधा अर्थ यही है कि कांग्रेस मुस्लिम लीग से हिन्दू हितों के सम्बन्ध में बात करके अपने राष्ट्रिय आधार को खो देगी। क्योंकि उसकी राष्ट्रियता मिली-जुली है। प्रस्ताव के शब्द पर ध्यान दिये बिना ही आपको यह भ्रान्ति हुई है कि वास्तविक राष्ट्रियता भी वही है।

आपने यह तो माना कि हमारे प्राचीन आचारों में प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठ जाना भी एक आचार है (वि० न० ५३ पृष्ठ), पर प्रातःकाल उठकर परमेश्वर का स्मरण करना, माता-पिता को प्रणाम करना, स्नान, संध्या, स्वाध्याय करना यह भी आचार है। क्या इस आचार को कार्यान्वित करना आवश्यक नहीं ? जैसे आपने अन्त्येष्टि संस्कार का केवल अग्नि में मुर्दा जलाना पकड़ा, उसी प्रकार प्रातःकृत्यों में केवल सवेरे उठ जाना पकड़ा क्योंकि कबड्डी की शाखा में जाने में शायद यह आचार उपयुक्त हो।

आपने यह भी स्वीकार किया कि शिवाजी उन आदर्शों से स्फूर्त थे जिनकी प्रतिष्ठा रामायण और महाभारत में हुई है (वि० न० ५४ पृ०) पर यह समझने में भूल की कि उन आदर्शों का ज्ञान रामायण, महाभारत से ही हुआ या स्वतंत्र ? यदि स्वतंत्र, तब फिर रामायण महाभारत का नाम लेना बेकार ही है। यदि रामायण आदि से ही आदर्श का स्वरूप एवं महत्त्व ज्ञात हुआ था तब फिर हम कोई पुस्तक प्रमाण नहीं मानते, आपकी यह उक्ति क्या संगत है ?

"राम एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भ्राता, एक आदर्श पति, एक आदर्श मित्र, एक आदर्श शिष्य······उन एक में आदर्श हिन्दू पुरुषत्व या सब कुछ समाहित था।" (वि० न० ५६ पृ०)

क्या आप का कथन भी रामायण के प्रामाण्य बिना संगत हो सकता है ? आखिर राम कौन थे, कैसे थे, उनको आदर्श क्यों माना जाय ? रावण को ही आदर्श क्यों न माना जाय ? परम्पराएँ भी संसार में अनेक तरह की हैं ही, कौन अनुकरणीय हैं कौन अननुकरणीय ? इन सब बातों को समझने के लिए क्या शास्त्र-प्रामाण्य आवश्यक नहीं ? यदि राम आदर्श हैं तो राम की शास्त्रनिष्ठा भी तो मान्य होनी चाहिए। राम की संध्या, स्वाध्यायनिष्ठा, अग्निहोत्रादि निष्ठा भी तो मान्य होनी चाहिए। "ऐसे ही श्री कृष्ण भी थे" (वि० न० ५६ पृ०) यह उक्ति भी शास्त्र-प्रामाण्य मान्य होने पर ही संगत है, अन्यथा नहीं।

उन्हीं आदर्श कृष्ण ने गीता में कहा है कि—कार्य अकार्य के निर्णय में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्र-विधि का लंघन करके कार्य करता है वह सिद्धि सुख परागति कुछ भी नहीं पाता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥

क्या आदर्श कृष्ण के ये वाक्य मान्य हैं? यदि हैं तो कोई पुस्तक प्रमाण मान्य नहीं, यह कथन क्या असंगत नहीं?

हिन्दू विद्यार्थी का सही चित्र आप कृष्ण में पाते हैं (वि० न० ५६ पृ०) अर्जुन, भीष्म का मधुर व्यवहार (वि० न० ५७ पृ०) आप महाभारतादि शास्त्रों से ले लेते हैं। यह बहुत अच्छी बात है। परन्तु गुरु-शिष्यों में जिन शास्त्रों का पठन-पाठन होता था और जो शास्त्रोक्त आचार थे, उनकी उपेक्षा करना क्या 'अर्धकुक्कुटी न्याय' नहीं है?

आपने गीता के 'स्वधर्मेनिधनं श्रेयः' (वि० न० ५८ पृ०) वचन का उद्धरण दिया और बताया कि स्वधर्म का पालन करते हुए निधन भी श्रेष्ठ है। दूसरे का धर्म-ग्रहण करने के परिणाम भयावह होते हैं। परन्तु आप श्रुति स्मृत्यादि धर्मग्रन्थों को बिना स्वीकार किये स्वधर्म परधर्म का ज्ञान कैसे प्राप्त करेंगे? आपका तो अहिंसा सत्यादि यम तथा संघटन संबंधी चातुर्य्य ही धर्म है। परन्तु वह तो सभी राष्ट्रों का धर्म है। फिर स्व-पर इन विशेषणों का उपयोग क्या होगा?

वस्तुतः किसी ग्रंथ के वाक्य का अर्थ उसके पौर्वापर्य से सम्बन्ध से ही लगाना उचित है। गीता के पौर्वापर्य की पर्यालोचना करने से यहाँ वर्णाश्रम धर्म विवक्षित है। अर्जुन ब्राह्मणधर्म, संन्यास करके युद्ध से उपरत होना चाहता था। क्षत्रिय धर्म उसका स्वधर्म है। संन्यास परधर्म है। उसे स्वधर्म में ही रहकर मरना भी श्रेष्ठ है परधर्म का पालन नहीं। यह बताकर भगवान् उसे युद्ध में ही संलग्न रहने का समर्थन करते हैं। वर्णाश्रम धर्म में भी कुछ तो जीविका निर्वाहोपयोगी याजनाध्यापन प्रतिग्रहादि शौर्य वीर्यार्जन युद्ध शासनादि, कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यादि, सेवा शिल्पादि, धर्म्य जीविकार्य कर्म हैं। परन्तु सन्ध्या अग्निहोत्र स्वाध्यायाध्ययन दान योग आदि पारलौकिक धर्म होते हैं। इन सबका परिनिष्ठित एवं तेजस्विज्ञान वैध वेदादि धर्मशास्त्राध्ययन से ही हो सकता है। उड़ती चलती बातों से या केवल दूसरों को देखकर ही अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए वैध स्वाध्यायाध्ययन द्वारा प्राप्त वेद एवं वेदार्थ ज्ञान से ही अग्निष्टोमादि कर्म फलदायक होते हैं। अन्यथा मनमानी अनुष्ठित धर्मनिरर्थक ही होता है।

सत्ता और राष्ट्र

आपने कहा कि राजसत्ता पर आधारित कोई राष्ट्रियता सुरक्षित नहीं रहती, इसीलिए फारस, यूनान, रोम आदि राष्ट्रों का भीषण पतन हुआ। हमारे राष्ट्र को यद्यपि अनेक शताब्दियों तक विविध आक्रमणों का शिकार होकर पराधीनता का अनुभव करना

पड़ा फिर भी हम जीवित हैं। इसका कारण यही था कि हमारी राष्ट्रियता के अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रही। धर्मसत्ता का प्रातिनिधित्व करने वाले सन्त-महात्मा ही हमारे आदर्श रहे हैं जो सब प्रकार के प्रलोभनों से ऊपर उठे हुए श्रेष्ठ सद्गुणों से सम्पन्न एकात्मता से उक्त समाज की स्थापना के लिए जो अपने को समभावेन समर्पित कर रखा है, ऐसे सन्त-महात्मा ही हमारे आदर्श रहे हैं। इस रहस्य को जान कर ही रावण ने ऋषियों-मुनियों के वन्य आश्रमों एवं वहाँ होने वाले यज्ञों को ही अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया था। परन्तु आध्यात्मिक शूरों ने उन आघातों का सामना किया। राम के व्यक्तित्व को उठाया गया। उस महान् परित्राता राम को विश्वामित्र वशिष्ठ अगस्त्य ने ढाला था। उन्होंने मार्ग-दर्शन किया था। राम को वह भीषण शक्ति भी महर्षि अगस्त्य से ही प्राप्त हुई थी जिससे उन्होंने रावण का बध किया...सार (वि० न० ६३ पृ०)।

निःसंदेह राजसत्ता से धर्मसत्ता का महत्व ऊँचा है। इसीलिए तो भारतीय नीतिज्ञों ने धर्मनियंत्रित राजनीति को ही सब कल्याण का मूल बतलाया है। तथापि धर्म एवं संस्कृति की रक्षा में राजसत्ता का बहुत बड़ा उपयोग भारत में सर्वदैव मान्य रहा है। शासनसत्ता विष्णु की पालनी शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। तभी तो कहा है—'नाविष्णुः पृथिवीपतिः', अविष्णु विष्णु भिन्न कोई, पृथ्वी पति (योग्य धर्म-नियंत्रित शासक) नहीं होता है। तभी तो ऋषियों ने राम जैसे योग्य शास्ता की अपेक्षा की थी। विश्वामित्र ने राम को लेने के लिए दशरथ का द्वार खटखटाया। समर्थ रामदास ने शिवा को तैयार किया था। यदि राजा अनावश्यक होता तो ऋषिगण उनकी अपेक्षा क्यों करते ?

चारित्र्य

चरित्र सर्वस्व है। (वि० न० ४१ पृ०)

चरित्र का महत्व वर्णन करते हुए आपने महाभारत के शील-संबंधी प्रह्लादीय वृत्तान्त का वर्णन किया और शील का अर्थ चरित्र किया, परन्तु आप द्वारा उद्धृत आख्यान विकृत एवं अपूर्ण है। आख्यान का सार यह है कि युधिष्ठिर का वैभव देखकर सन्तप्त हुए दुर्योधन को धृतराष्ट्र ने समझाया था। पुत्र यदि तुम युधिष्ठिर जैसी या उससे विशिष्ट श्री की इच्छा करते हो तो शीलवान् बनो। शील से त्रैलोक्य विजय संभव है। मान्धाता, जनमेजय एवं नाभाग प्रभृति राजाओं ने अतिस्वल्पकाल में पृथ्वी जीता था। धृतराष्ट्र ने नारद वर्णित वृत्तान्त बताया। प्रह्लाद ने शील के प्रभाव से त्रैलोक्य को स्वायत्त कर लिया। क्षीणशक्ति इन्द्र ने बृहस्पति से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का साधन पूछा। बृहस्पति ने उपदेश दिया। इन्द्र ने पुनः प्रश्न किया कि इससे अधिक भी उत्तम कुछ है क्या ? बृहस्पति ने कहा इससे अधिक उत्तम ज्ञान

भार्गव (शुक्राचार्य) के पास है। इन्द्र ने भार्गव के पास जाकर उनका ज्ञान ग्रहण किया और उनसे भी वैसा ही विशेष संबंधी प्रश्न किया। श्री शुक्र ने कहा कि इससे भी विशिष्ट ज्ञान प्रह्लाद के पास है। पुनश्च इन्द्र ने ब्राह्मण बनकर प्रह्लाद के पास जाकर श्रेय सम्बन्धी प्रश्न किया और प्रह्लाद का गुरुवृत्ति से पूर्ण अनुवर्तन किया। प्रह्लाद ने भी उपदेश दिया और इन्द्र की सेवा से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा, तब इन्द्र ने उनसे उनका शील माँगा। प्रह्लाद शील प्रदान करके चिन्तित हुए, उसी समय उनके अंग से एक विग्रहवान् महान् तेजस्वी पुरुष निकला। प्रह्लाद के पूछने पर उसने कहा कि मैं शील हूँ, आपने मुझे त्याग दिया, अब मैं उसी ब्राह्मण में जा रहा हूँ जिसे आपने वर प्रदान किया है। पुनः उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष प्रह्लाद के शरीर से प्रकट हुआ और उसने कहा—मैं धर्म हूँ, जहाँ शील रहता है वहीं धर्म भी। इसी प्रकार सत्य, वृत्त, बल भी प्रकट हुए। पश्चात् एक दिव्य प्रकाशमयी महालक्ष्मी देवी प्रहलाद के शरीर से प्रादुर्भूत हुई और पूछने पर उन्होंने बताया कि—मैं लक्ष्मी हूँ, जहाँ शील रहता है, वहीं धर्म रहता है। जहाँ धर्म वहीं सत्य रहता है, जहाँ सत्य वहीं वृत्त, जहाँ वृत्त वहीं बल रहता है और जहाँ बल रहता है वहीं लक्ष्मी रहती है। लक्ष्मी ने यह भी बताया कि वह ब्राह्मण जो ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करके तुम्हारा शिष्य बना था वह इन्द्र था। तुमने शील से त्रैलोक्य पर विजय द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया। यह जानकर ही उसने तुम्हारा शील दान रूप में प्राप्त करके सब कुछ ले लिया।

श्री गोलवलकर ने शील के बाद शौर्य का ही उल्लेख किया। धर्म, सत्य, वृत्त आदि का उल्लेख नहीं किया।

> **धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाऽप्यहम्।**
> **शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥**

धर्म, सत्य, वृत्त, बल तथा मैं (लक्ष्मी) सब शीलमूलक ही हैं। इसमें कोई संदेह नहीं।

श्री गोलवलकर ने चरित्र को ही शील मान लिया। वस्तुतः चरित्र वृत्त के ही अन्तर्गत है। वृत्त भी सदाचार विशेष ही है।

'चरगतिभक्षणयोः' के अनुसार चर धातु का गति और भक्षण अर्थ है। गति शब्द का ज्ञान और गमन और गमन का अर्थ हलचल है। देह इन्द्रिय मन बुद्धि के सभी व्यापार गति हैं।

शास्त्रानुसारी धर्मनियंत्रित ज्ञान तथा देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की हलचल, और धर्मनियंत्रित भक्षण, खान-पान सब चरित्र शब्द के अन्तर्गत हो जाते हैं। परन्तु आपने तो चरित्र शब्द का अर्थ शील ले लिया और शील को ही चरित्र मान लिया,

तथा च दोनों ही अस्पष्ट रह गये। परन्तु महाभारत के उसी प्रसंग में शील का स्पष्ट निरूपण कर दिया गया है—

धृतराष्ट्र उवाच

सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्ति नरेश्वर॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानंच शीलमेतत्प्रशस्यते॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन॥
तत्तुकर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि।
शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम॥
यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियःक्वचित्।
न भुंजते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते॥

शास्त्रानुसार मन, वचन, कर्म से किसी से द्रोह न करना और सब प्राणियों पर अनुग्रह करना और यथाशक्ति दान करना यह प्रशंसनीय शील है। जिससे अन्य लोगों का हित न हो ऐसे पौरुष कर्म एवं जिससे लज्जित होना पड़े ऐसे कर्म को कदापि न करना और उस शास्त्रीय कर्म को इस प्रकार सदैव करना जो संसार में श्लाघा योग्य हो, संक्षेप में यही शील है। कहीं कहीं शीलरहित राजा भी श्री प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु उसका भोग नहीं कर पाते क्योंकि वे बद्धमूल भी नहीं होते।

प्रह्लाद ने जो इन्द्र को उपदेश किया था, वह निम्न प्रकार है :

नासूयामि द्विजान् विप्र राजास्मीति कदाचन।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च॥

मैं राजा हूँ, सर्वज्ञ हूँ इस अभिमान से काव्य शुक्र प्रोक्त नीतिशास्त्र उपदेश करने वाले ब्राह्मणों को कभी असूया नहीं करता हूँ। उनके नियंत्रण को शिरसा वहन करता हूँ। शुक्र प्रोक्त नीतिशास्त्र में निरत शुश्रु एवं अनुसूयक जानकर वे विश्वस्त होकर प्रभाषण करते हैं और सदाह में नियंत्रित रखते हैं।

धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विवमक्षिकाः॥

मुझे धर्मनिष्ठ जितक्रोध संयतेन्द्रिय एवं नियंत्रित जानकर शास्ताविद्वान् लोग शास्त्रीय सिद्धान्तरूप अमृतों से मुझे इस प्रकार सिंचन करते हैं जैसे मधुमक्षिकायें विविध पुष्पों से मधु संग्रह करके मध्वपूप (मधुछत्ता) का सिंचन करती हैं।

कामन्दक का कहना है कि दण्डनीति के बिना अ॰ ॰विद्या, वार्त्तविद्या सती होती हुई भी असती हो जाती हैं। सारी विद्यायें दण्डनीति के बिना निरर्थक हो जाती हैं—

आन्विक्षिकीत्रयी वार्त्ता सतीर्विद्याः प्रचक्षते।
सत्यो पि हि न सत्यस्ताः दण्डनीतेस्तु विप्लवे ॥ (२।८)

महाभारत का स्पष्ट मत है कि सभी धर्म राजधर्म में वैसे ही आ जाते हैं जैसे हाथी के पाँव में सब के पाँव आ जाते हैं—**सर्वेधर्माराजधर्मेप्रविष्टाः।** शांतिपर्व ६३ अध्याय में कहा गया है राजा के धर्म से सर्वधर्म सफल होते हैं :—

यथाराजन् हस्तिपदेपदानि
संलीयन्ते सर्व सत्वोद्भवानि
एवं धर्मान्राजधर्मेषु सर्वान्
सर्वावस्थं सम्प्रलीनान्निबोध ॥' (म० भा० शां० प० ६३।२५)

जैसे हाथी के पाँव में सब पाद लीन हो जाते हैं। वैसे ही राजधर्म में सब धर्म लीन होते हैं। क्योंकि सभी धर्मों का पालन-प्रतिष्ठापन राजा के मुख्य कृत्य हैं।

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान्धर्मविदोवदन्ति।
महाश्रयं बहुकल्याण रूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्य्याः ॥
(म० भा० शां० प० ६३।२६)

अन्य धर्म अल्पाश्रय एवं अल्प फल हैं। क्षात्रधर्म महाश्रय एवं महाफल है।

सर्वे धर्मा राजधर्म प्रधाना सर्वे वर्णाः पाल्यमानाभवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषुराजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यंपुराणम् ॥'
(म० भा० शां० ६३।२७)

सब धर्मों में राजधर्म ही प्रधान है। सभी वर्ण राजपालित होकर ही धर्माचरण करते हैं। सभी त्यागियों के भी षड्भाग भागी होने से राजा का त्याग भी सर्वाधिक होता है। साथ ही जो प्रजाहित के लिए प्रजा के धन धर्म की रक्षा के लिए हर समय अपना रक्त बहाने, शिर कटाने को प्रस्तुत रहता है उसका त्याग भी सर्वोत्कृष्ट है ही।

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम् सर्वेधर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राज धर्मे पुराणे ॥
(म० भा० शां० प० ६३।२८)

दण्डनीति नष्ट होने पर त्रयी (वेद) एवं फले फूले भी वेदोक्त धर्म नष्ट हो जाते हैं। क्षात्र धर्म के नष्ट होने पर सभी वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो जाते हैं। किं बहुना सभी त्याग सभी दीक्षायें नष्ट हो जाती हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् ने संसार को नियंत्रित रखने के लिए क्षत्र (शासक-राजा) का निर्माण किया है। परन्तु उस विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न उग्र क्षत्र का भी नियंत्रण करने के लिए धर्म का आविर्भाव बतलाया है। इसीलिए वह धर्म क्षत्र का भी क्षत्र माना गया है। अर्थात् सर्व नियामक क्षत्र का भी नियामक धर्म ही होता है। राजा सब पर शासन कर सकता है पर धर्म पर नहीं, क्योंकि धर्म तो राजा का भी नियामक है। जैसे हस्ती पर अंकुश आवश्यक है वैसे ही राजा पर धर्म का नियंत्रण भी आवश्यक है। इसीलिए राजसत्ता का प्रतिनिधि राजा सदा ही धर्मप्रतिनिधि ऋषि-महर्षि सन्त विद्वानों का अनुगामी होता रहा है। नीति सहकृतधर्म एवं धर्म नियंत्रित नीति ही संसार को अभ्युदय निःश्रेयस् के मार्ग पर अग्रसर करते हैं।

श्री गोलवलकर ने इसी तरह बौद्धों द्वारा प्राचीन परम्परा का उच्छेद हो रहा था तब उसकी रक्षा के लिए श्री शंकराचार्य का आविर्भाव माना है (वि० न० ६४ पृ०)। परन्तु श्री गोलवलकर यह भूल जाते हैं कि शंकराचार्य ने वेदादि शास्त्रों का सर्वतो-भावेन प्रामाण्य स्थापित करके ही प्राचीन परम्परा की रक्षा की। वह उन वेदादि शास्त्रों को परमप्रमाण मानते थे जिससे गोलवलकर जी बचने का प्रयास करते हैं, अन्यथा तो बौद्धजातकों, लंकावतार सूत्र आदि ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म की कुछ भी कम प्राचीनता नहीं है। गौतम बुद्ध के पहले अमिताभ आदि अनेक बुद्धों का आविर्भाव हो चुका था। लंकापति रावण के उपदेष्टा बुद्ध की चर्चा लंकावतार सूत्र में है।

विद्यारण्य, तुलसी, सूर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामानुज, मध्व आदि भी वेदादि शास्त्र के पूर्ण अनुयायी थे। यदि आप उनके द्वारा स्वीकृत वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य नहीं मानते तो उनके महत्त्व वर्णन का कोई भी अर्थ नहीं। यदि भारतीय राष्ट्र सर्वस्व वेदादि शास्त्र एवं तदुक्त धर्म तथा संस्कृति न रहे तो राष्ट्रियता जड़ वन पहाड़ नदियों एवं भूमि को छोड़कर कुछ भी नहीं, उसी के लिए बौद्धों मुगलों एवं अंग्रेजों के हटाने की आवश्यकता थी

इसी प्रकार सत्ता भ्रष्ट करती है (वि० न० ६६ पृ०)। संपूर्ण सत्ता संपूर्ण रूपेण भ्रष्ट करती है—

> यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
> एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ ६७

यह सब बातें भी निरंकुश सत्ता के सम्बन्ध में ही कही जा सकती हैं। निरंकुश खल की ही शक्ति, सम्पत्ति अनर्थ के हेतु होती हैं धर्म नियंत्रित साधुपुरुष की नहीं।

क्या आप भी अपने संघटन का उपयोग जनसंघ द्वारा सत्ता हथियाने में नहीं कर रहे हैं ? भेद यही हो सकता है कि पहले के लोग स्पष्ट रूप से यह सब करते थे, आप परदे की ओट में वही सब कुछ कर रहे हैं।

राष्ट्र का भाव

'हिन्दू महासभा', 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ', 'जनसंघ' आदि की दृष्टि में 'समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान जाति एवं समान इतिहासवाले लोग 'एकराष्ट्रीय' कहे जा सकते हैं। ऐसे राष्ट्रिय लोगों का देश ही 'एकराष्ट्र' है, जैसे भारतवर्ष। इसमें समान धर्मादिवाले हिन्दू बसते हैं, इसीलिए यह 'एकराष्ट्र' और 'हिन्दू राष्ट्र' है। उपर्युक्त संस्थाओं के मतानुसार मुसलमान ईसाई आदि भारत-राष्ट्र के राष्ट्रिय या नागरिक नहीं हो सकते। हाँ, यदि वे हिन्दूधर्म में सम्मिलित हो जायँ, यहाँ के धर्म, संस्कृति, भाषा को अपना लें, हिन्दू हो जायँ, तभी वे इस राष्ट्र के राष्ट्रिय हो सकते हैं।"

उक्त संस्थाओं को वेदादि शास्त्रसम्मत 'जन्मना वर्णव्यवस्था' पर विश्वास नहीं है। तभी तो वे किसी को भी, भले वह 'जन्मना' मुसलमान या ईसाई हो, शुद्ध करके हिन्दू-ब्राह्मणादि-बनाने की चेष्टा करते हैं। अतएव इन्हें शास्त्रोक्त, आचार-विचार, विवाह आदि किसी में विश्वास नहीं है। वस्तुतः तो इनका 'हिन्दुत्व' 'मुसलिम-विरुद्धत्व' ही है। श्री गोलवलकरजी तो अपनी पुस्तक 'हमारी राष्ट्रीयता' में यह भी कहते हैं कि 'मुसलमान भले ही इस्लाम मजहब मानता रहे, मसजिद और 'कुरान' का अनुसरण एवं अध्ययन करता रहे, यदि वह अपने को हिन्दू कहता है, हिन्दू ढंग का नाम रखता है, हिन्दू ढंग की वेश-भूषा धारण करता है, तो वह हिन्दू है और हिन्दू राष्ट्र का राष्ट्रीय भी हो सकता है।'

परन्तु एक शास्त्रविश्वासी आस्तिक इन सब बातों को सर्वथा निराधार ही समझता है। वेदों, स्मृतियों एवं नीतिग्रन्थों में 'राष्ट्र' शब्द के जो अर्थ ग्राह्य हैं, उनसे उक्त बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदादि शास्त्रों के अनुसार कोई भी जनपद, देश या राज्य 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ होता है। वेदों में बहुत स्थलों पर 'राष्ट्र' शब्द आया है[१]। सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकार आचार्यों ने 'राष्ट्र'

---

१. ऋग्वेद-संहिता के 'यम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य' (४।४२।१), 'युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौः' (७।८४।२), 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्' (१०।१२५।३), 'राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनाम्' (७।३४।११) तथा १०।१०९।३, १०।१२४।४, १०।१७३।१-२, १०।१४३।५, १०।१७४।१, ८।१००।१०, ६।४।५। यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता-'वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे' (१०।२), 'पृष्ठीमे राष्ट्रमुदर' (२०।८)

शब्द का[1] देश, जनपद एवं कहीं राज्य अर्थ किया है। मनु आदि ने 'सप्तांग' राज्य बतलाया है[2]। उन सप्तांगों में राष्ट्र को एक अंग माना है। यहाँ 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' अर्थ किया है। मेधातिथि 'जनपद-समूह' को राष्ट्र कहते हैं। इस तरह कहीं-कहीं 'राष्ट्र' शब्द सम्पूर्ण राज्य का भी वाचक माना गया है। मनु ने राष्ट्र का अर्थ देश किया है[3]। याज्ञवल्क्य ने भी कई वचनों में राष्ट्र का उल्लेख 'देश' अर्थ में किया है[4]। महर्षि पराशर ने भी देश के अर्थ में ही 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया है[5]। 'कामन्दकीय नीतिसार' में भी मनु के अनुसार राज्य के सप्तांग का वर्णन आय: है। वहाँ भी 'राष्ट्र' राज्य का एक अंग बतलाया गया है और उसका अर्थ 'जनपद' किया है[6]।

'प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे' (२०।१०) एवं १०।३, ६।२३, १२।११ तथा अथर्व-संहिता—'ये देवा राष्ट्रभृतो' (१३।१।३५), 'आते राष्ट्रमिह रोहितो' (१३।१।५), 'आत्वागन् राष्ट्रं सहवर्चसो' (३।४।१), 'समहमेषां राष्ट्रंस्यामि' (३।१६।२), 'तद्वै राष्ट्रमास्रवति' (५।१६।८), 'ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं' (११।७।१७), 'उत्तरं राष्ट्रं प्रजयो' (१२।३।१०), 'ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च' (१२।५।८) इत्यादि।

१. 'द्विता-क्षितिस्वर्गभेदेन द्वित्वापन्नं राष्ट्रम्' (ऋ० ४।४२।१); 'राष्ट्रं राज्यम्' (ऋ० ७।८४।२), 'राष्ट्रे स्वकीये देशे' (महीधर यजु:० ६।२३), 'राष्ट्रं जनपद:' (उव्वट-महीधर यजु० १०।२), 'राष्ट्रं जनपदसमूह:' (उव्वट यजु० १२।११), 'राष्ट्रदा देशदात्र:' (महीधर यजु: १०।३), 'राष्ट्रं राज्यम्' (अथर्व० ३।४।१), 'राष्ट्रं जनपदम्' (अथर्व० ३।३६।२), इत्यादि।

२. 'स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्तप्रकृतयो ह्येता: सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥' (मनु० ६।२९४)। अत्र कुल्लूकभट्ट: 'राष्ट्रं देश:।' मेधातिथि:—'राष्ट्रं जनपदा:।'

३. 'उपरुद्ध्यारिमासीत् राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।' (म० ७।१९५) अत्र टीका—'अस्य च देशमुत्सादयेदिति।'

४. 'ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम्।' साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् ॥' (राजधर्म० १।३३८) 'अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशंयोभिवर्द्धयेत्। सो चिराद्विगत श्रीकोनाशमेति सबान्धव: ॥ (१।३४०)।

५. 'जारेण जनयेद्गर्भं मृते व्यक्ते गते पतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम् ॥' (अ० १०)। माधवटीका—'अतएव पतितां तादृशीं स्वराष्ट्रादुत्सार्य परराष्ट्रे प्रेषयेत्।'

६. 'स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥' (कामंदकीय० ४।१)। वहाँ श्लोक ४८ से ५४ तक राष्ट्र का निरूपण किया गया है। 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' अर्थ लिया गया है।

'राज दीप्तौ' इस दीप्ति अर्थवाले 'राजृ' धातु से कर्म में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने से 'राष्ट्र' शब्द बनता है। अतः विविध सामग्रियों से दीप्त देश ही 'राष्ट्र' है[1]। करण प्रत्यय करने से उस देश को 'राष्ट्र' कहा जाता है, जिस देश से राजा या राज्य दीप्त हो[2]। देश की दीप्ति के सम्पादनार्थ ही धार्मिक, सांस्कृतिक, उच्चजातीय, उच्च-भाषा-भाषी जनसमूह भी उपयुक्त हो सकता है। ऐसे जनसमूह से अलंकृत एवं दीप्त देश ही 'राष्ट्र' है।

कहा जा सकता है कि 'जैसे रंग-विरंगे फूल एवं मणियों से माला शोभित होती है, वैसे ही विविध जातियों, विविध धर्मों, विविध संस्कृतियों एवं विविध भाषाओं से अलंकृत देश ही राष्ट्र माना जाय।' अन्य प्रमाणों के आधार पर भले ही इस प्रकार की खिचड़ी को हानिकर सिद्ध किया जाय, परन्तु केवल 'राष्ट्र' शब्द के आधार पर ऐसा करना सम्भव नहीं क्योंकि आखिर परमेश्वर का विराट् रूप तो अनन्त रंगविरंगे पदार्थों एवं देशों से राजमान है ही तभी तो वह विविध रूपों से राजमान होने के कारण ही 'विराट्' है।

कौटल्य तथा कामन्दक के अनुसार धार्मिक जनता एवं बुद्धिमान् स्वामी, राजा आदि भी राष्ट्र के अन्तर्गत मान्य हैं। कौटल्य के अनेक वचनों में 'राष्ट्र' शब्द देश अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[3] राष्ट्र में जिन-जिन वस्तुओं का होना अनिवार्य है,

---

१. 'राजृ दीप्तौ' (राष्ट्रम्। ष्ट्रन्निति ष्ट्रन्। तितुत्रेति इण्निषेधः') इति माधवीय-धातुवृत्तिः।

२. 'ष्ट्रन् प्रत्ययो धः' 'कर्मणि ष्ट्रन्' तथा 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपत-दंशनहः करणे' इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां भवति। अतो न्यत् ष्ट्रन् प्रत्ययविधायकं सूत्रं नास्ति। अतो 'राजते शोभतेऽनेन' इति विग्रहे रात्रधातोः करणे ष्ट्रनि अनुबंधलोपे सेट्त्वात् प्राप्तस्येटः 'तितुत्रथसिसुसरकसेषु च' इत्यनेन निषेधे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना जस्य ष्टुत्वे राष्ट्रमिति सिद्धम्। स्त्रियां षत्वात् ङीपि राष्ट्री स्वामिनीत्यर्थः। अत्र राजते द्योततेऽनेन देशेनेति राष्ट्रम्। राजते शोभतेऽनया स्वामिन्या इति राष्ट्री। अत्रोभयत्र ष्ट्रन्निति योगविभागेन करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः।'

३. "ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः, सबन्धुराष्ट्रो विननाश। सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः। कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे राष्ट्रान्ते व्रजवासिनः॥ (राष्ट्रान्ते राष्ट्रसीमायाम्)। पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेद्। दुर्गराष्ट्र प्रमाणम् (दुर्गराष्ट्रयो-रियत्ताम्)। चतुर्दण्डान्तरा रथ्या। अष्टदण्डो राष्ट्रपथः। न च बाहिरिकान् कुर्यात्पर-राष्ट्रोपघातकान् (कितव-वंचक-नट-नर्तकादीन्...पौरान् जानपदांश्च कापथं प्रवर्तयन्)। पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेदनुग्रहार्थम्। राष्ट्रविवीतपथं साहसः सर्वज्ञख्यापनं राज्ञः कारयन् राष्ट्रवासिषु। दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकम्। राष्ट्रपालयन्तपालं वा स्थापयितुम्"। (प्रकरण १६२)।

उनका उल्लेख करके कौटल्य ने उन्हें भी गौणी वृत्ति से 'राष्ट्र' शब्दवाच्य कहा है। उन वस्तुओं में कृषि, धान्य, उपहार, कर, वाणिज्यलाभ, नदी-तीर्थादिलाभ एवं पत्तनादिजन्य लाभ, सब राष्ट्र के लिए आवश्यक बतलाये गये हैं।[1] राष्ट्र में जिन-जिन वस्तुओं का होना आवश्यक है, जिन विशेषणों से विशिष्ट होने से देश 'राष्ट्र' हो सकता है, उनका निर्देश भी कौटल्य ने किया है। जिस देश की रक्षा सीमावर्ती पर्वत, अरण्य, नदी, समुद्र आदि भौगोलिक साधनों से सुगम हो, वह देश 'स्वारक्ष' होकर राष्ट्र है। जिस देश की सुखपूर्वक जीविका या जीवनयात्रा चल सके, वह 'स्वाजीव' है। शत्रुद्वेषी सामन्तवर्ग जिसके वशवर्ती हों, वैसे राजा तथा प्रजा से युक्त देश 'शक्यसामन्त' राष्ट्र है। इसी तरह वह देश राष्ट्र है, जो अनिष्ट पंक, पाषाण, ऊषर, विषम, कण्टक, श्रेणी, व्याल, मृगाटवी आदि से रहित हो, जो कमनीय हो। जो देश कृषि, खनिद्रव्य, हस्ती, अरण्य आदि से युक्त, गोवंश के लिए अनुकूल, पुरुषों को हितावह, सुरक्षित गोचरभूमि से युक्त, विविध पशुओं से सम्पन्न, यथासमय जिसमें वर्षा हो एवं जो जल स्थल के विविध मार्गों से युक्त हो, वह 'राष्ट्र' है। सारभूत, आश्चर्यपूर्ण, अत्यन्त पवित्र तीर्थादि से युक्त, दण्ड एवं कर आदि को सहन कर सकनेवाला, कर्मशील शिल्पी एवं किसानों से युक्त, बुद्धिमान् गम्भीर धार्मिक स्वामी से युक्त, वैश्य-शूद्रादि वर्ण के लोग जिस देश में पर्याप्त हों, जहाँ राजाक्त, पवित्र, निष्कपट एवं धार्मिक जन निवास करते हों, ऐसी जनपद-सम्पत् से युक्त देश राष्ट्र है।[2] कामन्दक आदि नीतिशास्त्रज्ञों ने भी इन्हीं बातों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है।[3]

---

१. "सीता (कृषिः), भागो (धान्यषड्भागः), बलिः (उपहारो भिक्षा वा), करः (फलवृक्षादिसम्बद्धं राजदेयम्), वणिक् , (वणिग्द्वारेणादेयम्), नदीपाल (तीर्थरक्षकद्वारेणादेयम्), तरः (नदीतरणवेतनम्), नावः (नावध्यक्षद्वारलभ्यम्), पट्टनं (अल्पनगरलभ्यम्), विनीतं (विनीताध्यक्षद्वारेणादेयम्), वर्तनी (अन्तपालद्वारलभ्यम्), रज्जूः (विषयपालादेयम्), चोररज्जूश्च (चोरग्राहकाय ग्रामदेयम्), राष्ट्रम् । पिण्डकरः, षड्भागः, सेनाभक्तम् , बलिः, करः, उत्सर्गः, पार्श्वम् , पारिहीणकम् , औपायनिकम् , कौष्ठेयकंच राष्ट्रम्" (अ० ३६)।

२. "मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः परधारणश्चापादि स्वारक्षः स्वाजीवः शत्रुद्वेषी शक्यसामन्तः पंकपाषाणोषरविषमकण्टकश्रेणी व्यालमृगाटवीहीनः कान्तः सीता-खनिद्रव्यहस्तिवनवसन् गव्यः पौरुषेयो गुप्तगोचरः पशुमान् अदेवमातृकः वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः सारचित्रबहुपण्यः दण्डकरसहः कर्मशीलकर्षकः अबालिशस्वामी अवरवर्णप्रायो भक्तशुचि मनुष्य इति जनपदसम्पत्" (कौटलीय अर्थशास्त्र, प्रकरण ९६)।

३. "भू गुणैर्वर्द्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्नृपवृद्धये। तस्माद्गुणवतीं भूमिं भूत्यै नृपतिरावसेत् ॥ ४८ ॥ शस्याकरवती पण्यखनिद्रव्यसमन्विता। गोहिता भूरिसलिला

एतावता सप्तांग राज्य ही 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है। यों तो 'वाल्मीकीय-रामायण' में ग्रामादि के अर्थ में भी 'राष्ट्र' शब्द आया है।[१] कई स्थलों में 'उपावर्त या उपद्रव अर्थ में भी 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अमरकोष' में राजा के साले को 'राष्ट्रिय' कहा गया है।[२] फिर भी वेदों, उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों में 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद देश एवं राज्य' अर्थ किया गया है। उसी राज्य आदि के विशेषण रूप से जनता, राजा आदि भी गृहीत होते हैं।

परन्तु राष्ट्र या जनपद के नाम पर किसी जाति विशेष या धर्म-विशेष का बहिष्कार अथवा निष्कासन सिद्ध नहीं। अतः 'मुसलमान, ईसाई जब हिन्दू नाम धारण करें, तभी वे राष्ट्रीय हो सकते हैं, अन्यथा नहीं' इत्यादि बातें सिद्ध नहीं होतीं।' एक भाषा-भाषी या समान भाषाभाषी होने से यदि एक राष्ट्रियता का सिद्धान्त माना जायगा, तब तो बिहारी, बंगला, उड़िया, तेलगु, तमिल, कन्नड़-भाषाभाषी लोग भी एक राष्ट्रिय न हो सकेंगे, क्योंकि उनकी भाषाएँ न तो समान हैं और न एक ही हैं। इसी तरह 'एक धर्मवाले एक राष्ट्रीय हैं' यह भी नहीं कहा जा सकता। जैन, बौद्ध, वैदिक आदि धर्म माननेवालों में महान् मतभेद स्पष्ट ही है। शास्त्रोक्त ब्राह्मणादि जातियों में भी भेद है, अतः एक जातीयता भी नहीं कही जा सकती।

शास्त्रों में इस देश का नाम 'भारतवर्ष', अजनाभवर्ष' आया है। इसके अन्तर्गत ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, काश्मीर, कुरु, कोशल, पांचाल, मद्र, वाल्हीक, आनर्त आदि अनेक नाम वाले प्रदेश आते हैं। भारतवर्ष का पुराणोक्त परिमाण ९ हजार योजन है। इस दृष्टि से इस समय उपलब्ध समस्त पृथ्वी ही 'भारतवर्ष' है। उसके अन्तर्गत भरतखण्ड-प्रदेश ही आजकल 'भारत' नाम से प्रसिद्ध है। सुतरां इस देश में रहने वाला कोई भी व्यक्ति 'भारतीय' या 'राष्ट्रिय' कहा जा सकता है। हाँ, प्राचीनकाल से इस देश में वर्णाश्रमी ब्राह्मण आदि, जो आजकल 'हिन्दू' कहे जाते हैं, यहाँ रहते थे। अतः यह देश उनका है। इस देश में उनका स्वत्व, उनके देवता तथा तीर्थस्थल थे। उनके पूर्वजों के ऐतिहासिक संस्कारों से ओतप्रोत यह देश उनकी बपौती,

---

पुण्यैर्जनपदैर्वृताः ॥ ४९ ॥ रम्या सकुंजरवना वारिस्थलपथान्विता। अदेवमातृका चेति शस्यते चेति शस्यते भूर्विभूतये ॥ ५० ॥ स्वाजीवो भूगुणैर्युक्तः सानूपः पर्वताश्रयः। शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भ कृषीवलः ॥ ५२ ॥ सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः। नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी ॥ ५३ ॥ ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्ख-व्यसनिनायकः। तं वर्द्धयेत्प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्द्धते ॥ ५४ ॥ (कामन्दकीय नीतिसार, स० ४)।

१. 'राष्ट्राणि नगराणि च' (वाल्मीकि-रामायण)।

२. 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' (अमर०)।

मिल्कियत है। भले ही 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के सिद्धान्तानुसार जिसने युद्ध करके इस इस देश को अपने अधिकार में कर लिया, उसका भी इस देश पर कभी-कभी स्वत्व हो गया हो।

भुक्तिप्रमाण के आधार पर भी १२ वर्ष पर्यन्त जिस भूमि अथवा संपत्ति पर जिसका अक्षुण्ण अधिकार होता है, वह उसकी हो जाती है, परंतु यह बात व्यक्तिगत अधिकार में सम्बन्ध में ही हो सकती है। किसी बड़ी जाति के अधिकार का प्रश्न उक्त सिद्धान्त से ऊँचा होता है, क्योंकि जातिगत संघर्ष तो प्रायः सदा ही बना रहता है। यद्यपि आज भी कितने ही ग्रामों के नाम पर महाराष्ट्रिय, सरयूपारीण, गुर्जर आदि ब्राह्मणों एवं मारवाड़ी आदि वैश्यों की जातियाँ' प्रसिद्ध हैं जैसे कोंकणस्थ, देशस्थ, कह्लाड़े, भोपटकर, पुणताम्बेकर, लोणकर, बड़नगरा, बिसनगरा, डूगरपुरा आदि एवं करुआ, चमड़िया, डीडवाना, देसवाली, सेकसरिया, राजगढ़िया आदि। फिर भी आज उनका अधिकार उन-उन गाँवों पर नहीं है, और संघर्ष भी नहीं। परन्तु भारत पर तो भले ही कभी मुसलमानों का अधिकार हो गया हो, फिर भी संघर्ष सदा ही बना था। हिन्दु सदा ही अपनी मातृभूमि, अपने देश की रक्षा के लिए संघर्षरत रहे हैं। किसी के मकान या संपत्ति पर भले ही लुटेरे कुछ समय तक बलात् अधिकार करलें और उस भूमि या संपत्ति के स्वामी को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ कर, मुँह बन्द कर ताला जकड़ दें, फिर भी एक अविकृत-मस्तिष्क, अलुप्त-स्मृति, पुंस्त्वसम्पन्न व्यक्ति अवश्य सोचता है कि 'जब भी मुझे अवसर एवं सामर्थ्य मिलेगा, डाकू को मार भगाकर अपनी मिल्कियत पर अधिकार कर ही लूंगा।'

इस दृष्टि से जिस प्रकार किसी साधारण जाति का स्वत्व किसी ग्राम या किसी गृह में होता है, उसी प्रकार किसी बड़ी जाति का स्वत्व किसी देश पर होता है। जैसे इंगलैण्ड की भूमि पर अंग्रेजों का है, फ्रांस पर फ्रांसीसियों का, जर्मनी पर जर्मनों का, अरब पर अरबों का स्वत्व है, वैसे ही हिन्दुस्तान पर हिन्दुओं का स्वत्व है, भारत में वर्णाश्रमियों का स्वत्व है। इसी अभिप्राय से यह देश हिन्दुओं का कहा जा सकता है। उनके तीर्थ, उनके देव-मंदिर, उनके पूर्वजों के ऐतिहासिक स्थान इस देश के कोने-कोने में विद्यमान हैं। अतः यह देश विशिष्ट रूप से हिन्दुओं का है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यहाँ अन्य देशों के लोग रह ही नहीं सकते या इस देश के नागरिक नहीं हो सकते। 'वस्तुतः प्रतीत हो रहा है कि 'संघ' के नेताओं के मस्तिष्क पर हिटलर या उसकी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। इन्होंने उसी ढंग का घमण्ड, उसी ढंग की राष्ट्रियता को अपनाया हो, ऐसा मालूम पड़ता है।

वस्तुतः आधुनिक राष्ट्रवाद एक अन्धविश्वास और प्रतिक्रिया मात्र है। जैसा कि अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था—'मैं स्वशासित राज्य पर वर्षों से व्याख्यान देता आ रहा हूँ, किन्तु वह क्या है, यह कह नहीं सकता।' इसी प्रकार पश्चिमी राष्ट्रवादियों की भी बात हैं। राष्ट्र के विषय में मुख्यतः पाँच विचार हैं :—

१. परम्परावादी, २. उदारवादी, ३. जनवादी, ४. साम्यवादी और ५. उग्र-राष्ट्रवादी।

परंपरावादी 'बर्क' ने राष्ट्र की परम्पराओं को, जिनमें पूर्वजों की बुद्धिमानी सन्निविष्ट हो, आदर की दृष्टि से देखा। उदारवादी विचारकों में 'बेन्थम' तथा 'मैजिनी' मुख्य हैं। बेन्थम ने कहा था–'एक राष्ट्र के अंतर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता होनी चाहिए। मनुष्य के प्रकृतिदत्त अधिकारों की सुरक्षा होनी चाहिए। 'विधिशासन' अंताराष्ट्रियता की तरफ झुका हो। एक राष्ट्र में अनेक धर्म, भाषा और जाति के लोग रह सकते हैं। आगे उसने कहा कि "देशभक्ति विश्वबंधुत्व से मुझे शत्रु बनाती है, तो मैं देशभक्त नहीं हूँ।" मेजिनी का भी कहना था–'राष्ट्रवाद का अर्थ अन्ताराष्ट्रिय शत्रुता नहीं है।' जनवादी विचारधारा फ्रांसीसी राज्यक्रांति से प्रारंभ होती है, जब जनता का "दैवी सिद्धांत" उदित हुआ। ओटो बीवर ने कहा है—"वह राष्ट्र नहीं, जहाँ पर जनता को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार न हो।" साम्यवादियों ने तो राष्ट्रवाद की भरपेट निन्दा की है। उनके अनुसार यह एक 'पूँजीवादी नारा' है। पाँचवा है, उग्र राष्ट्रवाद। इसके दो रूप हैं—राष्ट्रराज्य (नेशन स्टेट) तथा सांस्कृतिक राज्य। प्रथम का प्रचार ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन आदि में और दूसरे का प्रचार मध्य-यूरोपीय देशों में हुआ। इसके प्रवर्तक हिटलर ने कहा है कि "एक जाति, एक राष्ट्र। जहाँ-जहाँ जर्मन, वहाँ-वहाँ जर्मन राष्ट्र।" मुसोलिनी और जिन्ना ने भी इसी बात को दुहराया। 'बार्कर' ने 'लार्ड ऐक्टन' के बहुराष्ट्रिय विचार का खण्डन करते हुए लिखा था कि "एक राज्य में एक ही राष्ट्र सम्भव है।"

भारत के जनसंघी जैसे राष्ट्रवादी भी उसी उग्र राष्ट्रवाद के अनुयायी हैं। अन्तर यही है कि हिटलर रक्त की प्रधानता स्वीकार करता था और ये निराधार हैं। हिटलर का यहूदियों के प्रति जैसा भीषण द्वेष था, वैसा ही भाव इन लोगों का मुसलिम जाति पर होना प्रतीत होता है। हिटलर ने जैसे सैनिक ढंग के स्वयंसेवकों के प्रदर्शन द्वारा लोगों पर अपनी धाक जमायी थी, वैसे ही ये लोग भी सैनिक ढंग के स्वयंसेवकों के संघटनों से जनता पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। हिटलर की दृष्टि में जैसे जर्मनजाति के लोग ही जर्मनी के नागरिक हो सकते थे, वैसे ही इन नेताओं की दृष्टि में हिंदू-जाति के लोग ही भारत के नागरिक होने के अधि—

कारी हो सकते हैं। इनकी दृष्टि में मुसलमान, ईसाई भी अपने को हिंदू मान लें, हिंदू नाम, हिंदू वेश-भूषा स्वीकार कर लें तो वे भी हिंदू हो सकते हैं।

शास्त्रीय सिद्धांत तो यह है कि समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि-अभिमान करना लाभदायक होता है। परंतु समष्टि हित विरुद्ध होने पर वही व्यष्टि अभिमान हानिकारक हो जाता है। जैसे व्यक्तिवाद, जातिवाद समष्टिविरोधी होने पर खतरनाक होते हैं, वैसे ही समष्टि विरुद्ध राष्ट्रवाद 'हिटलरी राष्ट्रवाद' की तरह ही भयानक होता है। वस्तु-स्थिति यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण होते हुए मानव भी है और मानव होते हुए परमेश्वर की संतान या उसका अंश जीव भी है, वैसे ही उसी परमेश्वर की संतान होने के नाते सभी के साथ समानता एवं भ्रातृता का सम्बन्ध है।

श्री गोलवलकर जी कहते हैं कि हिन्दू राष्ट्र की हमारी कल्पना राजनीतिक अधिकारों का गट्ठर मात्र नहीं, वह तत्त्वतः सांस्कृतिक है। हमारे प्राचीन एवं उदात्त सांस्कृतिक जीवन मूल्यों से उसके प्राणों की रचना हुई और हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है। प्राचीन पूर्वग्रहों, मूढ़ विश्वासों अथवा समाजविरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है। कारण उसका परिणाम पाषाणीकरण हो सकता है किन्तु शाश्वत एवं उत्कर्षकारी जीवनमूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता—संस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुनः जीवन में उतारने से है, जिन्होंने सहस्रों वर्षों तक हमारे राष्ट्रीय जीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान किया (२३ पृ०)।

परन्तु आपका यह सब कथन प्रमाणशून्य प्रतिज्ञामात्र ही है। वे कौन से उदात्त सांस्कृतिक जीवन मूल्य हैं, आपने यह नहीं बतलाया। कौन पूर्वग्रह एवं मूढ़ विश्वास हैं ? और कौन समाजविरोधी रीतियाँ हैं ? और कौन शाश्वत उत्कर्षकारी जीवनमूल्य हैं ? सिद्धांततस्तु यही कहना पड़ेगा कि प्रमाणहीन निर्णय, विश्वास एवं रीतियाँ पूर्वाग्रह अन्धविश्वास या पतन हेतु कुरीतियाँ कही जा सकती हैं। शास्त्र या तर्कसंगत जीवनमूल्य ही शाश्वत एवं उत्कर्षकारी हैं। परन्तु यह सब निर्णय तो तब हो सकता है जब किसी प्रमाण को मानते हैं। जो विचार-व्यवहार आपको अभीष्ट नहीं हैं वे शाश्वत होने पर भी आपकी दृष्टि में अन्धविश्वास या पूर्वाग्रह मात्र हैं जो अभीष्ट है उन्हें शाश्वत एवं उत्कर्षकारी कह देंगे। परंतु जब प्रमाण की कसौटी पर वे खरे उतरें तभी कोई विचार या आचार शाश्वत एवं उत्कर्षकारी कहा जा सकता है। वे कौन से जीवनादर्श हैं जिन्होंने राष्ट्र जीवन को पोषण एवं अमरता प्रदान किया। क्या अमरता मिलने पर भी राष्ट्रजीवन में दुर्बलता या मृत्यु का भय रहता है ? यदि नहीं तो फिर नया प्रयास किस लिए ?

वस्तुतस्तु किसी भी राष्ट्र के अनेक प्रकार के विश्वास एवं अनेक प्रकार के रहन-सहन चाल-चलन होते हैं। अनेक आभाणक एवं कहानियाँ प्रचलित होती हैं। उनमें से जो प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा आगम की कसौटी पर खरी उतरें वही आदरणीय होती हैं, अन्य त्याज्य होती हैं। इतिहास भी प्रामाणिक अप्रामाणिक दोनों प्रकार के होते हैं। अतः शास्त्रीय भावनाओं के पोषक इतिहास ही अनुकूल प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, अन्य नहीं। फलतः शास्त्र प्रामाण्य न माननेवाला कोई भी यह नहीं निर्धारण कर सकता कि कौन आचार-विचार शाश्वत एवं उत्कर्षकारी है तथा कौन मूढ़ग्रह एवं पतन का मूल है? फिर आप स्वयं भी कहते हैं कि हम हिन्दू संस्कृति की परिभाषा नहीं कर सकते हैं (वि० न० २४ पृ०)

क्या आपके राष्ट्र का यही आदर्श रहा है कि जिसे सर्वोत्कृष्ट एवं राष्ट्र का प्राण माना जाता हो उसका लक्षण परिभाषा एवं प्रमाण से निरूपण नहीं किया जाय?

आप कहते हैं कि जीवन क्या है, यह बताने में आधुनिकतम वैज्ञानिक भी असमर्थ हैं। तब भी चिकित्साशास्त्र की उपयोगिता में कोई बाधा नहीं उत्पन्न हुई। (वि० न० २४ पृ०)

परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि भारत में तो जीव प्राणधारणे धातु से ही जीवन शब्द की निष्पत्ति होतो है। फलतः प्राणधारण ही जीवन है। मनुष्य पश्वादि में जब तक प्राण रहता है तभी तक उनमें ज्ञानशक्ति, क्रिया-शक्ति का उपलम्भ होता है। उपनिषदों में आख्यान भी हैं। प्रजापति ने देहवासी इन्द्रियों प्राण, मन आदि को यही कहा कि तुममें से जिसके निकल जाने से देह बेकाम हो जायगा वही श्रेष्ठ है। नेत्र, श्रोत्र आदि सबके जाने पर भी देह का काम चलता रहा, जब प्राण जाने को प्रस्तुत हुआ तब सबने कहा, बस आपके बिना हम सब नष्ट हो जायेंगे, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं।

शास्त्रों के अनुसार सप्तदश तत्त्वमय लिंग शरीर विशिष्ट चेतन तत्त्व को ही जीव कहते हैं। वह जब तक प्राणों को धारण करता है तभी तक जीव का जीवन रहता है। जब वह लिंग विशिष्ट चेतन निकल जाता है तब जीवन समाप्त हो जाता है। कि बहुना धर्म ब्रह्म जैसी सूक्ष्म वस्तुओं की परिभाषा होती है और उसका होना अनिवार्य भी है। अतएव 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' लक्षण एवं प्रमाणों से ही वस्तु की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं। लक्षण द्वारा संभावित वस्तु की ही हेतु से सिद्धि होती है, जिसकी संभावना ही नहीं हेतु से उसका त्राण नहीं होता—

'न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः'।

हमारी भावनाएं आदर्श एवं आकांक्षाएं भी अपनी निजी सत्यता रखती हैं। हमारे जीवन में उनका महत्वपूर्ण कार्य है। (वि० न० २४ पृ०)

पर ऐसी भावनायें आपकी ही नहीं और लोगों की भी होती हैं और वे प्रामाणिक अप्रामाणिक हेय एवं ग्राह्य दोनों ही प्रकार की होती हैं। इसीलिए ईश्वरीय एवं आप्त आर्ष वाक्यों तथा अन्य प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा उनका विवेचन करके ही ग्रहण या त्याग करना होता है।

वास्तव में ऐसी स्थूल वस्तुओं की अपेक्षा जो नापी जा सकें जिनकी परिभाषा की जा सके ऐसे सूक्ष्मतत्व ही सच्चे मानव व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। (वि० न० २४ पृ०)

यह कथन नितांत भ्रामक है क्योंकि लक्षण प्रमाणशून्य वस्तु की जब सत्यता ही असंभव है, तब उसे सूक्ष्म या मानव व्यक्तितत्व का निर्माण कैसे कहा जा सकता है ? लक्ष्य को पहचानने के लिए लक्षण और परिभाषा अपेक्षित होती है।

आपने कहा कि श्री नेहरू की दृष्टि में ईश्वर, धर्म, आत्मा, पुनर्जन्म जाति आदि का कोई अर्थ नहीं था। उनकी पत्नी का विदेश में देहान्त होने पर अपनी ही रीति के अनुसार उनके शरीर का अग्नि संस्कार किया, गाड़ा नहीं गया और उनकी मुट्ठी भर राख को किसी खेत में नहीं डाला—तू मिट्टी है और मिट्टी में लौट गयी—किन्तु उनके पुरातन हिन्दू रक्त की पुकार थी कि अपनी प्यारी पत्नी के अवशेषों को ले चलो और गंगा माता की गोद में उन्हें समर्पित कर दो। अन्त में पुरातन संस्कारों की विजय हुई और वह पवित्र गंगा यमुना तथा अदृश्य सरस्वती के संगम में गिरायी गयी। (वि० न० पृ० २५)

पर इतना ही क्यों श्री नेहरू ने अपनी राख को भी गंगा में डालने के लिए वसीयत में लिख रखा था, पर साथ ही यह भी कहा था कि हम किसी धार्मिक या पारलौकिक विश्वास के आधार पर ऐसा नहीं सोच रहे हैं किन्तु गंगा के प्राकृतिक सौंदर्य में मेरा जीवन पला है, उससे प्रेम है इसलिए। परन्तु क्या दूसरे लोग इसको मूढग्राह या पूर्वग्रह का संस्कार नहीं कह सकते हैं। महान् हिन्दू कहे जाने वाले सावरकर ने तो विद्युत् शवदाह द्वारा ही अपने देह की अंतिम समाप्ति की आज्ञा दी थी। इनमें कौन संस्कार शाश्वत हैं, कौन मूढ़ग्राह इसका कैसे निर्णय हो ? केवल प्राचीन परंपरा प्राप्त संस्कार ही शाश्वत नहीं होते, बहुत सी रूढ़ियाँ, कुरीतियां भी बद्धमूल होती हैं। उनका छूटना मुश्किल होता है। भौतिकवादी इसे नेहरू की कमजोरी ही कहेगा। कई लोगों में खान-पान, विवाह, स्पर्शास्पर्श आदि संबन्धी परंपरा प्राप्त संस्कार बद्धमूल हैं उन्हें आप मूढ़ग्राह और समाजविरोधी कहेंगे फिर कौन विचार सही, कौन गलत है, इसका निर्णय कैसे हो ? प्रामाण्यवादी तो प्रमाण की कसौटी पर खरे उतरने वाले संस्कारों को शाश्वत कहेंगे, तद्भिन्न को अंधविश्वास कहेंगे, ऐसे विषयों में प्रत्यक्ष अनुमान की प्रवृत्ति हो नहीं सकती। शास्त्र का प्रामाण्य आप मानते ही नही, प्रमाणहीन परंपरा भी अन्धपरंपरा ही है, फिर कौन संस्कार महत्त्वपूर्ण

पूर्ण कौन तुच्छ इसका निर्णय कैसे हो ? इसीलिए तो गीता ने 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं-ते' का उद्घोष करके कर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण माना है ।

शास्त्रानुसार ही गंगा यमुना का महत्व है । अन्यथा अन्य नदी या गंगा में क्या भेद है ? शंख और अन्य अस्थियों में क्या भेद है ? अन्त्येष्टि भी शास्त्रानुसार ही संस्कारपद वाच्य होती है । केवल अग्नि में जला देना मात्र नहीं । जो शास्त्र नहीं मानता उसकी दृष्टि में मिट्टी के तेल में बिजली में जला दिया जाय या चन्दन की चिता पर मंत्रों के साथ जला दिया जाय सब समान ही है । अतः केवल जलाने और भस्म गंगा में डालने को संस्कृति समझना भारी भूल है ।

आगे आप अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का प्रकार बताते हुए कहते हैं कि सत्य की अनुभूति या ईश्वर का साक्षात्कार करना सर्वाधिक मूलभूत पहलू है...पर उसका यह वर्णन कि वह निराकार निर्गुण है, हमारी समस्याओं को सुलझाता नहीं । कई लोग मन्दिरों में सर्वशक्तिमान का प्रतीक मान मूर्तियों पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु...हमें यह सब संतुष्ट नहीं करता । हम एक प्राणधारी ईश्वर चाहते हैं जो हमें कर्म में व्यस्त रखकर हमारे अन्दर निवास करनेवाली सभी शक्तियों का आह्वान करें । अतः हमारे पूर्वजों ने कहा है—हमारा समाज ही ईश्वर है । श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है— मनुष्य की सेवा करो । श्री विवेकानंद ने भी बल देकर यही कहा है किन्तु संपूर्ण मानवता के भाव से 'मनुष्य' अत्यन्त व्यापक कल्पना है, उसको सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता । अतएव हमारे पूर्वजों ने कहा कि हिंदू समाज वह विराट् पुरुष है......पुरुषसूक्त में सर्वशक्तिमान के वर्णन में कहा गया है—सूर्यचन्द्रमा उसकी आँखें हैं, नक्षत्र और आकाश उसकी नाभि हैं तथा **ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः । उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत ॥** ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय भुजायें, वैश्य उसकी जंघायें, शूद्र पैर हैं, इसका अर्थ है कि समाज जिसमें चतुर्विध व्यवस्था है अर्थात् हिन्दू समाज हमारा ईश्वर है । (वि० न० २५–२६ पृष्ठ)

वस्तुतः यह भी एक आश्चर्य ही है कि किसी शास्त्र को तो प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की जीवनी को आप प्रमाण मानते हैं और उसी के साथ वेदादि शास्त्रों को न मानते हुए भी पुरुषसूक्त को जोड़कर मनमानी बे सिर पैर की कल्पना करते हैं । स्पष्ट है कि मनुष्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नहीं, अतः संपूर्ण मनुष्य समुदाय भी सर्वशक्तिमान् नहीं । जैसे एक-एक मनुष्य उत्पन्न होता है, मरता है, वैसे संपूर्ण मनुष्य भी उत्पन्न होते हैं, मरते हैं । एक-एक वृक्षों के जो स्वभाव होते हैं, वन का भी वही स्वभाव होता है । वृक्ष जड़ है तो वन भी जड़ ही है, चेतन नहीं । किं बहुना यदि भावना या कल्पना मात्र का महत्त्व है तब तो भावना

के अनुसार कोई मूर्ति को कोई कब्र को कोई अपने ऊँट को ईश्वर मानेगा ही। मूर्ति-पूजा तो शास्त्र विधान के अनुसार होती है, उसमें शास्त्रानुसार सर्वशक्तिमान् का आह्वान प्रतिष्ठापन किया जाता है। फिर आप हिन्दू समाज को ईश्वर मानेंगे, दूसरे ईसाई समाज को अन्य मुस्लिम समाज को सर्वशक्तिमान् क्यों न मानेंगे ? आप पुरुष-सूक्त की दुहाई देंगे, दूसरे अपने मान्य ग्रन्थों की दुहाई देंगे इस मान्यता का क्या मूल्य है ? पुनश्च आप क्या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातिभेद मानते हैं ? मानते हैं तो क्या जन्मना या कर्मणा ? यदि जन्मना मानते हैं तो मुसलमानों, ईसाइयों को कैसे आत्मसात् करेंगे ? यदि कर्मणा वर्ण मानते हैं तो वे कौन से कर्म हैं ? शास्त्रीय कर्म या लौकिक कर्म ? यदि शास्त्र ही नहीं मान्य है तो शास्त्रीय कर्म आप को कैसे मान्य होंगे ? यदि लौकिक कर्म अर्थात् उपदेशक शासक व्यापारी शिल्पी आदि के आधार पर ही आप का ब्राह्मणादि वर्ण हैं तो ऐसा वर्णभेद तो हर एक देश एवं जाति में भी है ही, फिर आप के हिंदू राष्ट्र की क्या विशेषता है ?

वस्तुतः पुरुष सूक्त का वह अर्थ ही नहीं है जो आप लिख रहे हैं। पुरुषसूक्त में सूर्य को विराट् पुरुष की आँख कहा गया चन्द्र को नहीं, चन्द्र को तो उसका मन बतलाया गया है। पुरुषसूक्त का विराट् पुरुष आपका मुट्ठी भर हिन्दू समाज ही नहीं है, किन्तु अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक संपूर्ण स्थूल प्रपंच विशिष्ट व्यापक चेतन है। उसे सहस्रशीर्ष सहस्राक्ष कहा गया है। यहाँ सहस्र शब्द बहुल या अनन्त का बोधक है। संसार के अनन्त प्राणियों के शिर ही उसके शिर हैं, सबकी आँखें उसकी आँखें हैं। वह विराट् पुरुष संपूर्ण ब्रह्माण्ड भूमि को ऊपर नीचे अगल बगल सब ओर से व्याप्त होकर अथवा माया भूमि को आवृत्त करके उससे दशांगुल अतिक्रमण करके या नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय में रहता है। अधिक बड़ा है अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी फैला है अथवा भूमि प्रभृति पंचभूतों को व्याप्त होकर उनसे बाहर भी है :—

सहस्र शीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिं सर्वतः स्पृत्वा (वृत्वा) त्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

उपर्युक्त मंत्र में दशांगुल शब्द इस बात का उपलक्षक है कि वह पुरुष संपूर्ण जगत प्रपंच से भी बहुत बड़ा है। इसका स्पष्टीकरण अगले मंत्र में है :—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

यह सब कुछ दृश्य वर्तमान, भूत एवं भविष्य में होने वाला सब जगत्-प्रपंच पुरुष ही है, केवल हिन्दू या भारत ही नहीं। वही अमृतत्व मोक्ष का भी नियामक है, क्योंकि अन्न अमृत से सबका अतिरोधान रक्षण करता है। अथवा वही प्राणि

कर्म फल भोग अन्न रूप निमित्त से कारणावस्था अतिक्रमण करके कार्यरूप जगद-वस्था को प्राप्त होता है।

प्राणिकर्म फल भोग के लिए ही भगवान् जगदवस्था को प्राप्त होते हैं :—

एतावानस्य महिमा तो ज्यायांश्चपूरुषः ।
पादोस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत न्दिवि ॥ ३ ॥

अतीतानागत वर्तमान जितना भी जगत् है एतावान् सब पुरुष की महिमा सामर्थ्य या विभूति मात्र है। यह उसका वास्तव रूप नहीं है। वस्तुभूत तो इस जगज्जाल से ज्यायान् अतिशयेन अधिक है। क्योंकि सर्व देश कालवर्त्ती संपूर्णभूत उस पुरुष का पाद अर्थात् चतुर्थांश मात्र है। पुरुष का त्रिपाद स्वरूप सर्वथा अमृत एवं दिवि द्योतनात्मक प्रकाश भूतस्वरूप में ही स्थित है। अनन्त ब्रह्मांडात्मक विश्वप्रपंच से त्रिपाद् अर्थात् तीन गुना ब्रह्म अधिक है। इस कथन में भी मंत्र का तात्पर्य न होकर प्रपंच उसके एक अंश में ही है, ब्रह्म उससे बहुत अधिक बड़ा है। अतः ब्रह्म के आनन्त्य प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। तभी—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्म को भी इयत्तारहित अनन्त ज्ञानरूप कहती है। विराट् परमेश्वर का देह है। तभी उसकी उत्पत्ति कही गयी :—

ततो विराटजायत विराजोऽधिपूरुषः ।
सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः ॥

उस परमेश्वर आदि पुरुष से विराट् समष्टि स्थूल प्रपंच रूप देह उत्पन्न होता है। **विविधानिराजन्ते वस्तूनि यत्रेति विराट्** विविध वस्तुएँ जिसमें दीप्यमान होती हैं वही अनन्त ब्रह्माण्डात्मक समष्टि महाब्रह्माण्ड ही विराट् है। उस विराट् देह के ऊपर उसी अधिकरण में समष्टि महाब्रह्माण्डाभिमानी पुरुष होता है। अर्थात् सर्व वेदान्त वेद्य परमात्मा अपनी माया से ब्रह्माण्ड देह की रचना करके ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा (जीव) होता है। वही विराट् पुरुष उत्पन्न होकर विराट् से अतिरिक्त देव, तिर्यक्, मनुष्यादि जीवरूप धारण करता है। पश्चात् वही भूमि एवं पुरों जीव शरीरों की रचना करता है, उसी से विविध यज्ञ सामग्रियाँ ऋक्, साम, यजु आदि वेदों का आविर्भाव होता है। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् यह १३ वाँ मंत्र है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मण विराट् का मुख है, क्षत्रिय बाहु है किन्तु यहाँ सृष्टि का प्रसंग है, अतः विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए, बाहु से क्षत्रिय उरु से वैश्य एवं पाद से शूद्र उत्पन्न हुए, तभी **'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'** इस वाक्य में अजायत क्रिया पद से उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश किया गया है। यही नहीं मंत्र के पूर्व मंत्रों में 'ऋचः सामानिजज्ञिरे' 'अजायत' अश्वा अजायन्त' गावोह जज्ञिरे' और उत्तर के मंत्रों में भी 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। -मुखादग्निरजायत' आदि

से उत्पत्ति का ही वर्णन है। अतः इस मंत्र में ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। किसी समाज का वर्णन नहीं। वैसे तो संपूर्ण विश्वप्रपंच परमेश्वर का स्थूल देह है अतः प्रत्येक तत्त्व उसके अवयव हैं किसी रूप में उसकी आराधना हो सकती है। तभी तो सनातन धर्मानुसार तुलसी, अश्वत्थ, गो, ब्राह्मण, गंगा, माता, पिता, गुरु सभी परमेश्वर की भावना से पूज्य एवं आदरणीय होते हैं। समष्टि ब्रह्माण्ड एकैक ब्रह्माण्ड एक एक लोक एक एक जाति कुटुम्ब सभी परमेश्वर रूप से पूज्य हैं। परंतु 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' 'ब्राह्मणोस्यमुख' इत्यादि मंत्रों से हिन्दू समाज या हिंदू राष्ट्र को सर्वशक्तिमान् ईश्वरसिद्ध करना अत्यन्त असंगत विरुद्ध एवं उपहासास्पद है। आपने शास्त्रों का न अध्ययन ही किया है, न उनका प्रामाण्य ही माना है, फिर आप की यह सर्वथा अनधिकार चेष्टा ही है। उसी प्रसंग में विराट् के मन से चंद्रमा, नेत्र से सूर्य, श्रोत्र से वायु की उत्पत्ति कही गयी है। क्या आपके तथाकथित हिंदू राष्ट्र विराट् से सूर्यादि की उत्पत्ति होती है ?

आप कहते हैं कि—'सभी व्यक्ति समान भाव से पवित्र एवं हमारी सेवा के योग्य हैं। उनमें भेदभाव का कोई विचार निन्दनीय है' (२६ पृष्ठ)। परन्तु पूर्व में आपने समाज में ब्राह्मणको मुख, क्षत्रिय को बाहु, शूद्र को पैर कहा है। यदि ये भेद नहीं तो पृथक् पृथक् नाम क्यों ? और किसी को मुख, किसी को पैर क्यों कहा ? क्या मुख पैर सब अंग एक ही हैं उन सबमें समान ही व्यवहार होता है ?

इसी तरह 'ईशावास्यमिदं सर्वं' 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' (ई०वा०उ० १) इस मंत्र का भी अर्थ वह नहीं है जो आपने लिखा है। क्या आप बतायेंगे कि उसे अर्पण करने के पश्चात् (पृ० २७) यह किन शब्दों का अर्थ है ?

वास्तविक मंत्रार्थ यह है कि ईश सर्व नियामक अधिष्ठान ब्रह्म चेतन के साक्षात्कार से मायाभूमि के संपूर्ण जगत् को आच्छादन अर्थात् बाधित कर देना चाहिए। जैसे रज्जु साक्षात्कार से रज्जु के द्वारा रज्जु में कल्पित सर्प धारा मालादि कल्पित वस्तुएँ आच्छादितया बाधित हो जाती हैं वैसे ही ब्रह्म में कल्पित जगत् ब्रह्म साक्षात्कार से बाधित हो जाता है। अतः उस बाध रूप त्याग से अथवा पुत्रैषणा लोकैषणादि त्याग से आत्मा का पालन करो अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा प्रपंच को बाधित करके त्याग द्वारा ब्रह्मनिष्ठा सुदृढ़ करके आत्मा को जन्ममरण प्रवाह में पड़ने से बचाकर मोक्ष प्राप्त करो।

इसी तरह आप कहते हैं—मनु ने घोषित किया है—'यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं यो भिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति' (पृ० २७)। परंतु यह अत्यन्त मिथ्या है, उक्त श्लोक मनुस्मृति में है ही नहीं। कम से कम मनु का नाम देने के पहले मनुस्मृति देख तो लेना चाहिए था। उक्त श्लोक श्रीमद्भागवत्

(७।१४।८) का है। पर आप तो कोई भी पुस्तक न मानने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। फिर इन उद्धरणों से आप दूसरों के गले शास्त्र-वचनों को क्यों उतारना चाहते हैं। उक्त वचन में धन से ममत्वाभिमान हटाया गया है, वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धांत का निराकरण नहीं, अन्यथा दान, यज्ञ आदि कार्यों में भी उनका उपयोग कैसे हो सकेगा ?

इस प्रकार **'एकं सद्विप्राबहुधा वदन्ति'** इस मंत्र का भी अर्थ भाव आपने उल्टा ही किया है—हमारी शिक्षा अन्य विश्वासों एवं दृष्टिकोणों को इस रूप में सम्मान करने की भी रही है कि वे सब एक सत्य तक पहुँचने के लिए अनेक मार्ग हैं। (वि० न० पृ० २८)।

संपूर्ण मंत्र इस प्रकार है—**'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः ॥** (ऋग्वेद १।१६ ४।४६)। यहाँ विभिन्न अवैदिक मार्गों की एकता नहीं कही गयी है किन्तु वैदिक विभिन्न देवतत्त्वों की एकता कही गयी है। एक सत् अर्थात् वेद वेदान्त वेद्य स्वप्रकाश अखण्ड सदानन्द घन ब्रह्म को ही ब्रह्मविद् विप्र लोग इन्द्र मित्र वरुण अग्नि अनेक रूप में कहते हैं। वही तत्त्व दिव्य सुपर्ण गुरुत्मान् है। उसी को अग्नि यम एवं मातरिश्वा वायु भी कहते हैं। मंत्र में **इन्द्रं—विप्रा—**इन शब्दों से वक्ता एवं वक्तव्य दोनों का स्पष्ट उल्लेख है। शास्त्रानुसार यह सिद्ध है कि एक ही तत्त्व उपासना के लिए अनेक रूप में व्यक्त होता है। अतः यह नहीं हो सकता कि इस मंत्र के बल पर आप सभी प्रचलित मजहबों, पन्थों को एक ही सत्य की प्राप्ति का मार्ग सिद्ध कर दें। क्या सभी सत्य प्राप्ति के मार्ग हैं, इसका और **'नान्यः पन्था'** का विरोध नहीं विदित होता ?

यह भी आश्चर्य है कि अवैदिक विविध दृष्टिकोणों और विश्वासों को सत्य प्राप्ति का मार्ग मानते हैं। परंतु भारतीय वैदिक जन्मना वर्णव्यवस्था एवं तदनुसारी वेदादि शास्त्रोक्त संध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम, श्राद्ध, तर्पणादि आचारों स्पर्शास्पर्शादि आचारों उपनयन विवाहादि शास्त्रीय संस्कारों की उपेक्षा ही नहीं किन्तु सक्रिय विरोध भी करते हैं। आप के अनुयायी उनके विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ने को तैयार होते हैं।

हिन्दू समाज को ईश्वर मानने की बात करते हैं पर आपके स्वयंसेवक माता-पिता एवं गुरुओं को भी ईश्वर मानने में हिचकते हैं, उनकी आज्ञा ठुकराते हैं।

यदि नैरात्म्यवादियों, आत्मवादियों, पुनर्जन्मवादियों एवं अपुनर्जन्मवादियों, गोरक्षकों, गोभक्षकों, मूर्त्तिभंजकों, मूर्त्तिपूजकों, हिंसावादियों, अहिंसावादियों आदि

सभी का मार्ग सत्य प्राप्ति का मार्ग है तो फिर वही वेद ऐसा क्यों कहता है कि—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८)। मृत्यु अतिक्रमण का वेदोक्त ब्रह्मज्ञान छोड़कर अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।

आपके सिद्धांत में कल्पना के महल सबके सब केवल प्रमाणाभासों पर ही अवलंबित हैं। वस्तुतः आपकी संस्कृति और उसके वैशिष्ट्य सब निष्प्राण कल्पना के महल मात्र हैं, न उनका कोई आधार है, न रूपरेखा।

आपको विदित होना चाहिए कि संस्कृति लक्षण प्रमाण हीन नहीं प्रत्यक्षानुमान तथा अपौरुषेय एवं आर्ष वेद धर्मशास्त्रादि प्रमाणों पर आधारित परंपराप्राप्त लौकिक पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस के अनुकूल वर्णाश्रमानुसारी संस्कार आचार विचार एवं जीवनयापन प्रकार ही हमारी संस्कृति है। इसी में धर्म, दर्शन, सदाचार, इतिहास, कला, भाषा आदि का अन्तर्भाव है। उक्त सभी अंशों में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम एवं परंपरा का सम्बन्ध अनिवार्य है। उसके बिना सब निराधार रूढ़ि या अन्ध परंपरा कोटि प्रविष्ट समझे जायेंगे।

वैयक्तिक पारिवारिक उत्थान के प्रयत्न के साथ सामाजिक उत्थान का प्रयत्न उचित है। तत्संबंधी विचार संकीर्ण नहीं। अतएव संकीर्ण विचारों के वेष्ठन से बाहर आ कर चारित्र्य सेवा एवं बलिदान भावना (वि० न० २६ पृ०) की बात भी सही नहीं।

शास्त्रानुसारिणी शिक्षा एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के अनुसार ही धर्म, कर्म, तप, त्याग एवं ज्ञान, विज्ञान से जीवनस्तर उन्नत होता है। कबड्डी या खेलकूद का प्रचारक बनने के लिए पारिवारिक वेष्टन से बाहर निकलने की जरूरत नहीं।

इसीलिए तो राजा-प्रजा दोनों ही के ऊपर शास्त्र एवं धर्म का नियंत्रण मान्य होता है। धर्म नियंत्रण शून्य शासक ही स्वयं पान परायण होकर भी मद्यपान के विरुद्ध कानून बनाने का साहस कर सकता है।

सत्ता पर अंकुश की बात ठीक ही है। इसीलिए तो मत्त गजेंद्र को अंकुश, ऊँट को नकेल, और घोड़े को लगाम से नियंत्रित किया जाता है। साइकिल एवं मोटर को भी ब्रेक द्वारा नियंत्रित करना आवश्यक होता है। जनतंत्रवादी भी शासन पर जनता का अंकुश मानते हैं। फिर भी शास्त्र एवं धर्म ही सर्वोत्कृष्ट राजसत्ता का अंकुश होता है, इसीलिए धर्म को क्षत्र का भी क्षत्र अर्थात् शासक का भी शासक माना गया है। शास्त्र एवं धर्म के ही बल पर योग्य प्रजा एवं योग्य शासक सम्पन्न होते हैं।

मातृभूमि की पुरातन भावना (वि० न० पृ० १८) अवश्य मान्य है, परन्तु वह उसी तरह उसी रूप में सर्वत्र है, यह हम कह चुके हैं।

"पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्" (वि० न० पृ० १९) यह वेदमंत्र केवल भारत का ही नहीं किन्तु समुद्रवसना-पर्वतस्तनमण्डला समग्र माधवी पृथिवी के शासक अखण्ड भूमण्डलाधिपति का ही वर्णन करता है, अतएव वैदिक ट् केवल भारत के ही नहीं किन्तु अखण्ड भूमण्डल के ही सम्राट् होते थे।

भारतवर्ष "उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्"। वर्षं तद् भारत नाम भारती यत्र संततिः।। "समुद्र के उत्तर हिमाद्रि के दक्षिण का संपूर्ण देश-भारतवर्ष है, उसमें भारतीय सन्तति रहती है। हिमालय उसके बाहर नहीं है किन्तु विविध पर्व।शिखरों से समन्वित संपूर्ण हिमालय भी भारत के ही अन्तर्गत है "हिमवत्समुद्रान्तरमुदोचीन, योजनसहस्र, परिमाणम्" (कौटल्य) त्रिविष्टम तिब्बत, कैलास, मानसरोवर, सब हमारे पवित्र भारतीय स्थान हैं, भारत का महाचित्र (वि० न० ८० पृ०) ठीक ही है।

आपने ठीक ही लिखा है कि "गंगेच यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि, जलेऽस्मिन् सन्निधिकुरु ॥" यह भी अनुभूति करायी गई है कि इन पवित्र नदियों के एक बूंद जल में भी हमारे समस्त पापों को धो डालने की शक्ति है (वि न० ८१ पृ०)।

परन्तु क्या पाप एवं उसके धो डालने की शक्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से हो सकता है? यदि उसके लिए उपर्युक्त शास्त्रवचन मान्य हैं तब तो फिर आपको कोई न कोई पुस्तक माननी ही पड़ेगी।

इसी प्रकार "समुद्र इव गाम्भीर्येधैर्येणहिमवानिव।"

श्री रामचन्द्र समुद्र को तरह गम्भीर थे, हिमालय की तरह धैर्यवान् थे (८१ पृ०)। इसका भी ज्ञान बिना रामायण का प्रामाण्य माने कैसे हो सकेगा?

आप कहते हैं तप, व्रत, यज्ञ, करने के हेतु कौन सा देश शुद्ध एवं पवित्र है, चरम सत्य की अनुभूति के लिए आदर्श स्थान कौन सा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जहाँ कृष्ण सार हरिण मिलते हैं (८१ पृ०)। आपने यह भी कहा है, संसार में यही एक ऐसा पवित्र देश है, जहाँ छोटा सा सत्कर्म भी सैकड़ों, हजारों गुना अधिक फलदायी होता है। संसार में जिसे मंगलदायिनी पुण्यभूमि कहा जाता है, जहाँ ईश्वर की ओर अग्रसर होने वाली प्रत्येक आत्मा को अपना अंतिम आश्रय स्थल प्राप्त करने के लिए जाना ही पड़ता है (वि० न० ८२)।

परन्तु जहाँ कृष्ण-मृग मिलते हों वह शुद्ध पवित्र देश है, उसमें तप, व्रत, यज्ञ एवं चरम तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है, यह भी क्या "यत्रयत्र स्वभावेन कृष्णसारोमृगस्तदा, चरते तत्र दोक्ता धर्मो भवितुमर्हति ॥' (व्या० स्मृ० १।३) इसे शास्त्र के बिना आप किसी प्रमाण से बतला सकते हैं? इस तरह जब आपकी उपास्य मातृभूमि

का ही समस्त महत्त्व शास्त्रों पर ही निर्भर है, फिर आप कैसे कहते हैं कि हमारे संगठन का आधार कोई पुस्तक नहीं है। किसी सत्कर्म का भारत में हजारों गुना अधिक फलदायी होना भी यदि निष्प्रमाण एवं मनमानी ही है तब कोई भी किसी देश के संबंध में ऐसा ही कह सकता है। आप यदि शास्त्र-प्रमाण के आधार पर उक्त कथन को प्रामाणिक मानते हैं, फिर तो शास्त्र और पुस्तक आपके गले पतित होंगी, किं बहुना शास्त्र प्रामाण्य स्वीकार किये बिना आपकी पुस्तक का अधिकांश भाग निष्प्रमाण एवं निराधार ही हो जायेगा।

आप कहते हैं—निःसंशय रूप से ईश्वरानुभूति के हेतु निर्धारित यही देश है। यह भावनाओं का उद्रेक नहीं वरन् हमारा अटल विश्वास है, (८२ पृ०)। परन्तु प्रमाणहीन अटल विश्वास भी अन्धविश्वास ही माना जाता है। कब्र में रूहें कयामत के दिन तक पड़ी रहती हैं, यह भी किन्हीं लोगों का अटल विश्वास ही तो है। आपने वृत्तपत्रों में प्रकाशित एक जर्मन गाथा की चर्चा की है, जिसमें उसके संन्यासग्रहण करने के लिए उग्र तपस्या करने पर भी असफलता के कारण भारत में पुनर्जन्म का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए हरिद्वार की गंगा में अपने शरीर को अर्पित करने की बात कही गयी है (८२ पृ०)। परन्तु जब आप व्यास वशिष्ठादि ऋषियों के ग्रन्थों का भी प्रामाण्य नहीं मानते तो फिर वृत्तपत्र की गाथा पर कैसे विश्वास कर लेंगे? शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार किये बिना क्या गंगा में देह-त्याग का कोई महत्त्व हो सकता है? क्या यह अन्ध विश्वास नहीं?

आपने लिखा है कि ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म के संस्थापक को ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं मिला। यह वरदान तो केवल इसी भूमि के पुत्रों के लिए है कि वे ईश्वर का उसकी पूर्ण आभा के साथ साक्षात्कार करें, अनुभव करें। जब और जातियाँ पर्वत-कन्दराओं और वनों के बाहर नहीं निकल पायीं थीं, तब वैदिक ऋषियों ने मानव को अमृत पुत्र के नाम से संबोधित किया था। "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" और धीर-गम्भीर वाणी से उद्घोष किया। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति, मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ मैं उस महिमावान पुरुष को जानता हूँ, जो सूर्य के वर्ण का है, और अन्धकार से परे है, उसको जानने के बाद जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं रह जाता। इसके सिवाय मोक्ष की प्राप्ति का अन्य रास्ता नहीं है। कितना स्पष्ट और संशयरहित भाव हैं, इन शब्दों में। परम विश्वास एवं आत्मानुभूति की उपर्युक्त अभिव्यक्तियों के समक्ष विश्ववाङ्मय में अन्य कोई अभिव्यक्ति ऐसी नहीं है, श्री कृष्ण जी के समक्ष दूसरा विश्व में कहाँ मिलेगा, जो आत्मजागरण के मानवता के लिए अमर संदेश भगवद्गीता में स्वयं को उत्तम पुरुष (मैं) में ही परमेश्वर घोषित करते हैं, (८२।८३ पृ०)।" परन्तु उक्त

वचन भी तो वेद शास्त्रों के ही हैं। उनका प्रामाण्य मानेंगे तभी उनका उद्धरण एवं आपके अभीप्सितार्थ का प्रतिपादन हो सकेगा। साथ ही उन्हीं वेदादि शास्त्रों के आचार-विचार संबन्धी वर्णाश्रम संबन्धी अन्य विषयों का भी मानना अनिवार्य हो जायेगा। यह नहीं हो सकता कि आप उन्हीं वेदादि शास्त्रों के कुछ अंशों का प्रामाण्य मान लें कुछ अंशों की उपेक्षा कर दें। शुद्ध मन्त्रार्थ यह है, मैं इस प्रत्यक् चेतन से अभिन्न महान् पुरुष परमेश्वर का साक्षात्कार कर रहा हूँ, जो कि आदित्य के समान स्वप्रकाश हैं, यद्यपि आदित्य स्व विजातीय चक्षु, मन एवं साक्षी रूप प्रकाश की अपेक्षा रखते हुए भी स्व सजातीय प्रकाश निरपेक्ष होने से स्व प्रकाश कहा जाता है। परन्तु प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमेश्वर तो सजातीय विजातीय सर्वविध प्रकाश निरपेक्ष होने के कारण निरपेक्ष रूप से ही स्व प्रकाश है, इसका यह अर्थ नहीं है कि जैसे आदित्य का रूप मय प्रकाश है, वैसे परमेश्वर का भी रूप मय प्रकाश है। ऐसा होने पर तो वह भी दृश्य होने से अन्य दृश्य साधारण ही हो जायेगा, फिर, 'अदेश्यम् अग्राह्यम्' इत्यादि श्रुतिविरोध भी अनिवार्य हो जायगा। इसीलिए कहा गया है कि वह परमेश्वर तम अर्थात् अज्ञान एवं तत्कार्य जगत् प्रपंच से परे और उससे उत्कृष्ट है, उसको जानने से ही मृत्यु का अतितरण होता है। मृत्यु तरण पूर्वक मोक्ष पद प्राप्ति का उक्त तत्त्व साक्षात्कार से भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है। वेद प्रामाण्य मानने पर ही प्रामाणिक ब्रह्म दर्शन की बात सिद्ध हो सकती है, अन्यथा हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद की बात तो दूर की है, आज तो अनेक ऐसे तथाकथित अवतार हैं जो कि अपने को तत्त्व साक्षात्कार सम्पन्न ही नहीं स्वयं तत्त्व स्वरूप ही मानते हैं। "राधास्वामी, हंस, निरंकारियों, ब्रह्मा कुमारियों" की कथा सुननेवालों को स्पष्टरूप से यह सब विदित ही है। DR. HEMANT 9460574427

शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणपति, सुब्रह्मण्यादि देवस्थानों तथा पवित्र सरित् सरोवर धर्मारण्य नैमिषारण्यादि तीर्थों के सम्बन्ध से भी स्वतः भी रामेश्वर कन्या कुमारी, बद्रिकाश्रम, काश्मीर, अमरनाथ, कामाक्षा, हिंगलाज, आदि आदि, संपूर्ण भारतवर्ष धर्मभूमि मोक्षभूमि है, उसका जल पाषाण वृक्ष किम्बहुना कण-कण वन्द्य एवं पूज्य हैं, यह सही हैं, (२४ पृ०)। परन्तु शास्त्र प्रामाण्य बिना यह सब निराधार अन्ध श्रद्धा मात्र ही रह जायेगा।

तीर्थों, नदियों, गो आदि की पूज्यता विकासक्रम के आधार पर ही निर्भर नहीं हो सकती, क्योंकि विकासक्रम के अनुसार पुण्यपाप स्वर्ग-मोक्ष नहीं सिद्ध होता, अन्यथा विकासवादी वैज्ञानिकों की भी इन वस्तुओं में पूज्य बुद्धि होनी चाहिए।

आपने लिखा है केवल बुद्धि अपर्याप्त है, सर्वज्ञता का दावा करनेवाले कुछ लोग कहते हैं, तथाकथित मातृभूमि पत्थर और मिट्टी के अतिरिक्त और है ही क्या, ऐसे लोग समझते हैं कि बुद्धि ही सब कुछ है, बौद्धिक तर्क के आधार पर यह देश अचेतन फैला हुआ भूखण्ड मात्र है। किन्तु बौद्धिक तर्क की भी कुछ सीमायें हैं, मनुष्य का शरीर भी तो भौतिक ही है, अपनी माता का शरीर भी तो उतना ही भौतिक है, जितना अन्य किसी का। तब क्यों किसी व्यक्ति को अपनी माँ और अन्य स्त्रियों से भिन्न समझना चाहिए, उसके लिए क्यों भक्ति होनी चाहिए, बुद्धिवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं है (८७ पृ०)। शरीर पोषण के लिए माड़सा—(प्रोटीन) चिकनाई और जल की आवश्यकता होती है, और यह खाद्यतत्त्व मनुष्य के मांस में आवश्यक मात्रा में प्राप्त होते हैं, अन्ततः जीव शास्त्र के अनुसार मनुष्य भी मांस, रक्त और अस्थियों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः क्यों न पड़ोसी का मांस खाया जाय, परंतु ऐसा कहने वाले को कोई तर्कशास्त्री भले कह लें, परन्तु उसे सभ्य तो नहीं कहा जायगा (८७ पृ०)।

यह बिलकुल ठीक है, परन्तु आपही कहियें कि जब तर्क और बुद्धि मान्य नहीं है, तब फिर किस आधार पर किसी व्यक्ति को मां और पूज्य माना जाय? किस आधार पर मनुष्य मांस भक्षण को असभ्यता और पाप माना जाय? आस्तिकों का तो स्पष्ट उत्तर है, तर्क अप्रतिष्ठित अनवस्थित होता है, उसकी कोई सीमा नहीं है, अतः तर्क न स्वयं प्रमाण है, न किसी प्रमाण के अन्तर्गत आता है। वह तो प्रमाणों का अनुग्राहक मात्र है, प्रमाणहीन बुद्धि भी भ्रांति मात्र है, वही बुद्धिमान्य है, जो प्रमाण की कसौटी पर खरी उतरती है। इसीलिए अनादि अपौरुषेय वेदादिशास्त्रों के आधार पर धार्मिक आध्यात्मिक तत्त्वों का निर्णय किया जाता है। **'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव'** आदि शास्त्रों के आधार पर माता पिता गुरु पूज्य होते हैं, तदनुसार ही भौतिक देह से पृथक् आत्मा एवं परमात्मा का निर्णय होता है। शास्त्रों के अनुसार ही स्थूल पृथिवी को अधिष्ठात्री महाशक्ति विष्णुपत्नी माधवी, मान्य एवं पूज्य होती है, उसी का वंदन—

"समुद्रवसनेदेवि, पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥"

इत्यादि रूप से किया जाता है, परन्तु आप तो किसी शास्त्रग्रंथ या पुस्तक को अपने मन्तव्यों के आधार रूप में मानते ही नहीं, फिर आपके पास आपके ही प्रश्नों का क्या उत्तर है?

आप मातृभावना के विकास की बात भी करते हैं, कहते हैं विकासक्रम के अनुसार—स्तनपायी प्राणियों में तथा चिड़ियों में माँ के बच्चों को दूध पिलाने,

अण्डा सेने की बात चलती है, परन्तु अन्त में उपयोगिता का अधिक अनुभव न होने से बच्चे मां को भूल जाते हैं, एक दूसरे से नितान्त अनजान हो जाते हैं। विकासक्रम में मनुष्य चरम अवस्था पर है, अतः सुसंस्कृत मनुष्य नितांत अनुपयोगी होने पर भी मां का सम्मान करता है। अंत में जिनका ऋण उस पर है, वह उन्हें भी मां के रूप में देखता है। वह नदियों को देखता है, जो उसे जल तथा भोजन देती हैं, उन्हें माँ कहकर पुकारता है। गौ की ओर देखता है, जो जीवन भर अपने दूध से उसका पोषण करती है, उसे भी मां कहने लगता है। ज्ञान की और उच्च अवस्था में पहुँचने पर वह देखता है कि पृथिवी माता है, जो उसका पोषण और रक्षण करती है। मृत्यु के पश्चात् उसे अपने हृदय में स्थान देती है, (८८ पृष्ठ)। परन्तु यदि इस विकासक्रम के अनुसार ही मां की, गौ की, पृथिवी की पूज्यता हो तो जहाँ विकासवादी सिद्धांतों का खूब विकास हुआ है; तदनुसार ही बड़ी से बड़ी औद्योगिक क्रांति हुई है, वहाँ भी गो के प्रति नदियों के प्रति ऐसी पूज्य बुद्धि क्यों नहीं हुई? विकासवाद का अंश ही उपयोगितावाद भी है, जिसके अनुसार गाय का दूध भी पिया जा सकता है, मार कर भी खाया जा सकता है, उसके अनुसार योग्य का जीना अयोग्य का मरना ही अनिवार्य है। तब क्या यह विकास सिद्धांत भी आपको मान्य है? अतः शास्त्रों के आधार पर भी भूमि माता, गोमाता और जन्मदात्री माता का महत्त्व समझा जा सकता है, विकासक्रम के अनुसार नहीं। भारतभूमि माता परम पवित्र है। उसकी शास्त्रानुसारिणी उपासना से भोग, मोक्ष दोनों ही सुलभ हो सकते हैं।

आपको हिन्दू समाज में भी विकास के लक्षण दिखायी देते हैं। आप कहते हैं— जैसे एक वृक्ष जिसमें पत्तियाँ, फूल और फूल के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं। तने में शाखाओं में अन्तर होता है। शाखाओं, पत्तियों में एक दूसरे से नितान्त विभिन्नता है। किन्तु हम जानते हैं कि ये सब दिखनेवाली विविधतायें केवल मात्र उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं। जबकि उसके सभी अंगों को पोषित करता हुआ उसमें एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के सम्बन्ध में भी है। जो इन सहस्र वर्षों में विकासित हुई है। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसका विभेद नहीं, उसी प्रकार हिन्दू समाज की विविधतायें भी आपसी विघटन नहीं। प्राणी अपनी अवस्था में आकारहीन दशा में रहता है जिसे अमीबा कहा जाता है। यह एक सेल का कोशीय सावयव शरीर होता है, यह दो समान रूपों में विभक्त किया जा सकता है। जीवपदार्थ की यह प्राथमिक अवस्था होती है, जो विकास के निम्नतम सोपान पर स्थित होता है। जैसे-जैसे विकास में प्रगति होती है। भाँति-भाँति के जीवों की जातियाँ बनने लगती हैं। बढ़ती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिए

उनके विविध अंग होते हैं। अन्त में मनुष्य शरीर बनता है। जो अनेक अंगों से संघटित एक अन्यत्र संश्लिष्ट यन्त्र है। जिसका प्रत्येक अंग अपनो विशिष्ट क्रिया से युक्त है। किन्तु फिर भी वे सभी एक सामान्य जीवनधारा के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। पृथ्वी पर जीव का उच्चतम विकसित आकार यही है। इसी प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न अंग अथवा विविधतायें, अपरिपक्वता अथवा विभेद के लक्षण नहीं हैं, वरन् अति विकसित अवस्था के कारण हैं। सभी अंग यद्यपि प्रत्यक्षरूपेण विविध आकारों के होते हैं, किन्तु सभी शरीर के कल्याण के हेतु कार्य करते हैं। इस प्रकार उसकी वृद्धि तथा शक्ति में योगदान करते हैं। (६७ पृ० वि० न०)।

परन्तु हिन्दू समाज में ही क्यों; यह विकास लक्षण अन्य समाजों में भी तो घटाया जा सकता है। उपनिषदों एवं गीता आदि भारतीय शास्त्रों में तो संपूर्ण विश्व को ही एक वृक्ष माना है। "द्वासुपर्णा सयुजासखाया समानंवृक्षं परिषस्वजाते तयारेकः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्यो अमि चाकशीति ॥" (ऋ० सं० १।१६४।२०)।

संसार रूपी वृक्ष पर जीव एवं ईश्वर रूप दो सुपर्ण पक्षी रहते हैं। उनमें से एक अर्थात् जीव स्वादयुक्त कर्म-फल का भोग करता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर फल निरपेक्ष होकर सर्व का प्रकाशन करता है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

(गीता० १५।१)

ऊर्ध्व अर्थात् सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म जिस संसार वृक्ष का मूल है, अधः अर्थात् महदादि सप्त प्रकृति विकृतियाँ जिसकी शाखायें हैं। छन्द, वेद, जिसके पत्ते हैं। जैसे पत्तों से वृक्ष की रक्षा होती है वैसे ही वेदों तथा वेदोक्त कर्मों के द्वारा ही संसार का रक्षण होता है। जो उस अश्वत्थ अर्थात् क्षणभंगुर परन्तु तत्वज्ञान बिना अनाद्य-नन्त समूल संसार वृक्ष को जानता है वही वेदवित् है :—

'एकायनोऽसौद्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पंचविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्ट विटपोनवाक्षोदशच्छदी द्विखगोह्यादि वृक्षः' ॥

(श्रीमद्भागवत १०।२।२७)

इस संसार वृक्ष का एक मूल प्रकृति ही आधार है। सुख-दुःख दो फल हैं। सत्व, रज, तम, तीनों गुण इसके मूल हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ अथवा चारों वर्ण या चारों आश्रम उसके रस हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होने वाले पंचप्रकार के ज्ञान ही इसके विभिन्न प्रकार हैं। जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति ये षड्विध भाव विकार अथवा बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह,

जरा, मृत्यु, रूप, ऊर्मियाँ, अथवा त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि आदि षट् धातु इस संसार वृक्ष के स्वभाव हैं।

रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, रूप अथवा पंच तन्मात्रा एवं मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ उसकी शाखायें हैं। शरीर के श्रोतादि नव छिद्र ही उसके कोटर हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय यह दश प्राण ही उसके पत्र हैं। और जीव तथा ईश्वर दो उस पर रहने वाले पक्षी हैं। इस प्रकार समष्टि सूक्ष्म स्थूल शरीर को ही यहाँ वृक्ष कहा गया है।

यह ठीक है कि उस माता की सक्रिय भक्ति होनी चाहिए। उसकी स्वतंत्रता की रक्षा होनी चाहिए, और अब भी उसकी अखण्डता के लिए समुचित प्रयास होना चाहिए। आक्रमणकारियों द्वारा किसी कालखण्ड में किसी भूभाग पर कब्जा कर लेने पर भी वह उनका नहीं हो सकता।

हिन्दू नाम वेदों के 'सिन्धवः' से ही सकार स्थान में हकार होने से निष्पन्न हुआ है, कालिका पुराण, मेरुतन्त्र, मेदिनी कोश आदि में हिन्दू शब्द आता है। और वह सर्वसंग्राहक भी है। आर्य आदिनाम व्याकरण के अनुसार सर्व ग्राहक नहीं हो सकते। विभिन्न वर्ण एवं आश्रमों के तथा अन्य लोगों का भी संग्रह इसमें हो जाता है। यह सब अनादि वेदादि शास्त्रों के अनुसार ही सिद्ध होता है, विकासक्रम के अनुसार तो ब्राह्मणादि वर्णों एवं आश्रमों की सिद्धि की आशा दुराशा ही है।

"एकं सद्विप्राः बहुधावदन्ति" (ऋ० सं० १।१६४।४६) का यह अर्थ नहीं कि सभी मतवादियों के द्वारा स्वीकृत तत्त्व एक ही हैं, प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल आध्यात्मिक भोजन चुनने का स्वातंत्र्य है (९९ पृ०)। क्योंकि उपनिषदों में शून्यवाद आदि अवैदिक मतों का समारोह के साथ खण्डन किया गया है। "कथमसतः सज्जायेत्" बृहदारण्कोपनिषद्। किन्तु उक्त वचन का यह अर्थ है कि वेद शास्त्र सम्मत शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश, सूर्य, मित्र, वरुण आदि रूपेण एक स्वप्रकाश ब्रह्म ही सर्वत्र पूज्य होता है। जितने दृष्टिकोण हैं, उतने मार्ग (१०० पृ०) भले हों परन्तु वे ग्राह्य मार्ग नहीं हैं, तभी तो "नान्यः पन्थाः विद्यते यनाय" (वा० सं० ३१।१८) इस वेद मंत्र की संगति लगेगी, शास्त्रसम्मत मार्गों में ही रुचि का भी आदर किया जाता है, स्वतंत्ररुचि का नहीं। अतएव **"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रिय मात्मनः"** इस मनुस्मृति (२।१२) में कहा गया है कि श्रुति के अनुकूल स्मृति एवं श्रुति स्मृति के अनुकूल सदाचार तथा श्रुति स्मृति सदाचार के अनुसार ही स्वरुचि भी आदरणीय है, श्रुतिविरुद्ध स्मृति, श्रुति स्मृति विरुद्ध सदाचार, श्रुति स्मृति सदाचार विरुद्ध स्वरुचि सर्वथा ही त्याज्य होती है।

आपका यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि में एक धर्म, एक पुस्तक, एक ईश्वर की मान्यता मूर्खतापूर्ण है (१०१ पृ०) यह कहना असंगत है क्योंकि किसी भी धर्म में ऐसा विचार स्वभाविक ही है। वैदिक धर्म में भी ईश्वर एकही मान्य है, उसकी अनेक रूप में अभिव्यक्ति हो, यह पृथक् वस्तु है। अनादि अपौरुषेय वेद ही, एक मुख्य पुस्तक वैदिकों में मान्य है, मंत्र ब्राह्मण उसी के विभाग हैं, स्मृति, इतिहास, पुराण, तंत्र, आगम सब वेदानुसारी वेद व्याख्यान मात्र हैं, वेदोक्त धर्म एक ही धर्म वैदिकों को मान्य है, वर्णाश्रम धर्म सब उसी एक के प्रभेद हैं, अन्य धर्मों में असहिष्णुता, विद्वेष, घृणा अलग वस्तु है, अपने धर्म में निष्ठा अलग वस्तु है, यदि सभी धर्म एक ही हैं, तो फिर क्या आप ईसाई धर्म इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेंगे। यदि नहीं तब तो यह मान्य है कि किसी एक धर्म में अखण्डनिष्ठा ही कल्याण का हेतु है, ढुलमुल पंथ नहीं। आजकल सहिष्णुता एवं उदारता के नाम पर ही हिंदू, कांग्रेसी राष्ट्रहित का बलिदान करता है, आप राष्ट्रियता के नाम पर अपने धर्मशास्त्र वर्णव्यवस्था की तिलांजलि देने को प्रस्तुत हैं, कांग्रेसी को अपने आपको हिंदू कहने में लज्जा लगती है। आपको ब्राह्मण कहने में, अपने वेद शास्त्रादि पुस्तकों के प्रामाण्य मानने में, लज्जा प्रतीत होती है। क्या भगवान् मनु भी असहिष्णुता एवं द्वेष या घृणा के कारण वेद-निंदन को नास्तिक कहते हैं। **"नास्तिको वेद निन्दकः"** (म० २।११) या वेद **बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्यतमो निष्ठाहि ताःस्मृताः"** (म० १२।९५)। ऐसी अनेक स्मृतियाँ वेदबाह्य स्मृतियों के निष्फल एवं तमोनिष्ठ कहती हैं, यह द्वेष नहीं घृणा नहीं किन्तु वस्तुस्थिति है। रूपादि के संबंध में चक्षुरादि के तुल्य अतीन्द्रिय धर्म ब्रह्म के संबंध में अपौरुषेय वेद ही पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमाद विप्रलिप्सा करणापाटवादि दोषों से शून्य होने से परम प्रमाण है। प्रत्यक्षानुमान से या स्वतंत्र मानव बुद्धि से धर्म ब्रह्म के संबंध में कोई भी निर्णय तात्त्विक या विश्वसनीय नहीं हो सकता। असहिष्णुता जैनों, बौद्धों तथा उनके परस्परदिगम्बर, श्वेताम्बर, हीनयान, महायान, लोगों में कुछ कम नहीं। द्वैत, अद्वैत, शैव, वैष्णव, आदि की भी असहिष्णुता उनके ग्रंथों व्यवहारों से स्पष्ट विदित है, ऐसी असहिष्णुता एवं द्वेष, घृणा आदि जहाँ भी हैं, वहीं निन्द्य हैं त्याज्य हैं, यह अविवेक अज्ञान का ही परिणाम है। आप कहेंगे यह सब पाश्चात्य देशों का प्रभाव हम लोगों पर पड़ा है, परन्तु यह कहना असंगत है, क्योंकि शैव, वैष्णव, द्वैत, अद्वैत आदि बहुत पुराने सिद्धांत हैं। जैन, बौद्ध मत भी ईसा, मोहम्मद आदि से बहुत पुराने हैं। इन्हीं संकीर्णताओं के कारण भले सिक्खों का आविर्भाव हिन्दुत्व की रक्षा के लिए ही हुआ है (१०० पृ०)।

तथापि आज सिक्ख-हिन्दू संघर्ष भी हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के तुल्य ही वृद्धिगत हुआ है। यदि कहीं सिक्खस्तान बन गया तो वह भी पाकिस्तान से कम खतरनाक न

होगा। आपके ही शब्दों में आज कुछ सिक्ख जैन लिंगायत आर्यसमाजी अपने को हिन्दुओं से पृथक् घोषित करते हैं (१०२ पृ०) कुछ तो अलग सिक्खराज बनाने के लिए अलग मुस्लिम राज्य अर्थात् पाकिस्तान का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे हैं। पाकिस्तान को सहानुभूति एवं सहायता भी चाहने लगे हैं। (१०२ पृ०), परन्तु यह सब अज्ञान मूलक हैं, ईसाई, मुस्लिम प्रभाव नहीं। इतना ही क्यों? भारतीय मुसलमानों में जितनी धर्मान्धता है, उतनी अरब के मुसलमानों में नहीं है। अफगानिस्तान, ईरान तथा अरब के मुसलमान हिंदुस्तान के मित्र हैं, परंतु भारत एवं पाकिस्तान के नहीं। यह संकीर्णता धर्ममूलक नहीं स्वार्थमूलक है। सर्वत्र ही ईमानदार लोगों में अपने धर्म में निष्ठा होने पर भी अन्यत्र घृणा एवं द्वेष नहीं होता, अच्छे लोग मुसलमानों, ईसाइयों, शैवों, वैष्णवों, जैनों, बौद्धों में सर्वत्र ही मिलेंगे। DR. HEMANT PALIWAL

बहुत से लोगों का कहना है कि धर्म विश्वास के सिद्धांत में लचीलापन होना अच्छा है, परंतु उन्हें समझना चाहिए कि सिद्धांतों में लचीलापन भी समझौतावादी मनोवृत्ति है। आमतौर पर काम-क्रोधादि दुर्गुणों से भी ऐसे लोग समझौता कर लेते हैं, समझौते के कारण ऐसे लोग दुर्गुणों को भी प्रश्रय देते हैं। जैसे अपनी मातृभूमि एवं अपना देश सौदे की वस्तु नहीं, (वि० न० ९१ पृ०) उसी प्रकार धर्म एवं शास्त्र भी सौदे की वस्तु नहीं। **यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्त्तेति नैयायिकाः। अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोयं वो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।** (म० ना० १) इस श्लोक में विभिन्न स्तरों का स्वरैक्य नहीं किन्तु श्री हरि में ही सबका समावेश किया गया है अर्थात् जिसकी शैव शिव रूप से, वेदान्तिब्रह्म रूप से, बौद्ध क्षणिक विज्ञानरूप से, नैयायिक विश्वकर्त्ता एवं जैन अर्हन् रूप से, मीमांसक कर्मरूप से उपासना करते हैं, वह त्रैलोक्यनाथ भगवान हरि आपलोगों की वांछा पूरी करें। स्वरैक्य तो तब समझा जाय जब ऐसा ही जैन एवं बौद्ध आदि भी मानें; परन्तु उनलोगों से यहाँ तो विश्वकर्त्ता किसी ईश्वर को मानना मूर्खता के अनेक लक्षणों में से एक है, यहाँ तक की अद्वैतियों के निर्विशेष ब्रह्म, को ही वैष्णव लोग त्रैलोक्यनाथ हरि नहीं मानते हैं। Atchpce. paliwAL@gmail.com

"त्रयीसांख्ययोगाः पशुपतिमतं वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिद मदः पथ्यमिति च। रुचीनां वैचत्र्या दजु कुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" । (म० स्तो० ८) इस श्लोक का भी आप द्वारा वर्णित अर्थ अशुद्ध है, कारण "वेद, सांख्य, योग, शैव, वैष्णव के विश्वासों में वही श्रेष्ठ है, या पूर्ण है।" इस ग्रंथ की श्लोक के अक्षरों के साथ कोई भी संगति नहीं है। श्लोक का शुद्ध अर्थ यह है:—

9460574427
992807329

"विभिन्न ऋजु कुटिलगामिनी नदियों के जलों का गन्तव्य स्थान समुद्र ही है, वैसे ही वेद (त्रयी) सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव इन प्रभिन्न प्रस्थानों में प्राप्य तत्त्व एक आप ही हैं, रुचियों की विचित्रता से यह उत्कृष्ट है, वह पथ्य है, इस प्रकार ऋजु कुटिल नाना मार्गों के अनुसरण करने वाले लोगों के लिए एक आप ही गम्य हैं।" यहाँ भी शिव तत्त्व की ही सर्वोत्कृष्टता दिखलाते हुए उसी में सबका सामंजस्य दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इस समन्वय को क्या साम्प्रदायिक वैष्णव स्वीकार करेगा ? यदि नहीं तो स्वरैक्य कैसा ?

दक्षिण के दार्शनिक सिद्धांतों के साम्राज्यवाद से उत्तर का कुचला जाना (वि० न० १०१ पृ०) इसीलिए नहीं माना जाता है कि दक्षिण के आचार्य जिन दर्शनों के भाष्यकार हुए हैं, वे दर्शन उत्तर के ही हैं, अथवा वेदादि शास्त्र एवं तन्मूलक दर्शन उत्तर-दक्षिण सभी के ही हैं, परन्तु आप तो किसी भी पुरुष, ग्रन्थ या पुस्तक को अपना आदर्श या आधार मानते ही नहीं। तब आप कैसे समन्वय करेंगे ? आप शास्त्र एवं धर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में पन्थगत विरोध की संकुचित भावनाओं (वि० न० १०१ पृ०) की शिकायत करते हैं।

कांग्रेसी आप की राष्ट्रगत विरोध की संकुचित भावनाओं की शिकायत करते हैं, गंगा, कावेरी, हिमालय, अमरनाथ, रामेश्वरम् (१०२ पृ०) की मान्यता भी शास्त्रों पर निर्भर है। जो भौतिकवादी है धर्म एवं शास्त्र का सम्मान नहीं करता है, उसकी दृष्टि में उपर्युक्त स्थानों का कुछ भी महत्त्व नहीं। आप कहते हैं लोग अपने को हिन्दू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं, इस प्रकार वह स्वर्णिम सूत्र जिसमें विविध आभायुक्त आध्यात्मिक मोती पिरोये हुए हैं, छिन्न-भिन्न हो गया है, विभिन्न मत एवं अपने ही नाम पर गर्व करने लगे, (वि० न० १०२ पृ०)। यह सब इसीलिए कि हिन्दुत्व एवं धर्म के मूलभूत शास्त्रों का पठन-पाठन लुप्त प्राय हो गया। शास्त्र विश्वास धर्मनिष्ठा क्षीण हो गयी, आप को भी तो किसी शास्त्र को मान्यता देने में लज्जा का अनुभव होता है। ब्राह्मण, हरिजन, भेद की उपेक्षा आपको भी उचित ही प्रतीत होती है। फिर किन्हीं लोगों को हिन्दुत्व की भी उपेक्षा क्यों न हो ? आखिर ब्राह्मण क्षत्रियादि से भिन्न हिन्दुत्व है भी क्या ?

जहाँ शास्त्र एवं तदुक्त धर्म गौण हो जाता है, शास्त्रानुगाबुद्धि लोप हो जाती है, वहाँ स्वार्थ प्रधान व्यक्तियों को यदि अपने को अहिन्दू कहने या प्रतिपादन करने में (वि० न० १०४ पृ०) लाभ दिखेगा, तो वे वैसा क्यों न करेंगे ? हिन्दू विरोधी प्रशासन में भी (१०३ पृ०) हिन्दुओं का ही तो बाहुल्य है, परन्तु यह सब क्यों ? इसीलिए कि निराधार हिन्दुत्व का कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु शास्त्र का पठन-पाठन होने, शास्त्रोक्त धर्म का आचरण प्रचारण होने से ही हिन्दुत्व के प्रति निष्ठा हो सकती है,

अन्यथा नहीं। ईसाई, मुसलमान आदि अपने धर्मग्रन्थ का एवं तदाधारित धर्म का प्रचार करते हैं, निष्ठा बनाते हैं, पर आप तो शिखा यज्ञोपवीत को भी एक छोटा सा चिह्न मानते हैं और शास्त्र प्रामाण्य के लिए स्वीकार-नकार दोनों से बचना चाहते हैं। आपने पूर्वकालीन गौरव के रूप में वर्णव्यवस्था को माना, और जातिवाद कहकर उसकी भर्त्सना करनेवालों को बतलाया कि वर्णव्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना का प्रवेश तुलनात्मक दृष्टि से सांप्रतिक ही है, अपने मूल रूप में उस समाज-व्यवस्था में घटकों के मध्य बड़े छोटे अथवा ऊँच नीच की भावना को कोई स्थान नहीं। गीता बताती है कि जो व्यक्ति नित्य कर्त्तव्यों का पालन निःस्वार्थ भाव से करता है वह अपने कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करता है।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (वि० न० १०४।१०५ पृ०)

इससे यह भी मालूम होता है कि आप जन्मना वर्णव्यवस्था मानते हैं। यह ठीक है, यद्यपि घृणा की दृष्टि शास्त्रीय वर्णव्यवस्था में कभी नहीं रही है, तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि में शास्त्रीय उत्कर्ष अपकर्ष एवं तदनुसार ही पूज्य-पूजक भावना तो है ही। ब्राह्मणादि की कन्याओं के साथ क्षत्रियादि के साथ विवाह पाप एवं प्रतिलोम सांकर्य का कारण कहा गया है। ब्राह्मण द्वारा क्षत्रियादि को प्रणाम करने से ब्राह्मण का तेज नष्ट होता है। क्षत्रियादि को पाप लगता है। क्षत्रियादि द्वारा ब्राह्मण को प्रणाम करने से ब्राह्मण का तो कोई लाभ नहीं, किन्तु क्षत्रियादि को पुण्य होता है। अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करने से सभी का महत्त्व है, यदि याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह द्वारा ब्राह्मण का महत्त्व है तो समाज के धन धर्म रक्षण के लिए अपना शिर कटाने खून बहानेवाले क्षत्रिय का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। इसीलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण भी उस अभिषिक्त क्षत्रिय की स्तुति करता है। कृषि-वाणिज्य द्वारा सबका भरण-पोषण करने के कारण वैश्य का तथा अपनी सेवा एवं शिल्पादि के द्वारा सबकी प्रतिष्ठा का हेतु होने से शूद्र का महत्त्व भी कम नहीं है। इतना ही नहीं स्वधर्म विमुख ब्राह्मण नरकगामी एवं स्वधर्मनिष्ठ शूद्र दिव्य सद्गति का भागी होता है। यह कहना बिलकुल ठीक है कि जातियाँ तो उस प्राचीन काल में भी थीं, और भारी वैभवशाली राष्ट्र-जीवन के सहस्रों वर्षों में बराबर रहीं हैं, एक भी उदाहरण नहीं है कि उन्होंने समाज की एकता और प्रगति में बाधा डाली हो। प्रत्युत् उन्होंने हमारे सामाजिक ऐक्य सम्पादन में महान् योगदान किया है। (वि० न० १०६ पृ०)

विधर्मियों के धर्मान्तरण सम्बन्धी अभियानों में तो वर्णव्यवस्था ने महान् शक्ति-शाली दुर्ग का काम किया था। यह ईसाई मिश्नरियों ने भी माना है। यह भी ठीक है कि जिनमें जाति-व्यवस्था नहीं थी, ऐसे ईरान, मिस्र, रोम, योरोप, चीन, के अनेकों साम्राज्य तथा उनकी यशस्विता धर्मान्ध मुसलमानों के विनाशकारी आक्रमण की

आँधी की धूल में मिल गयी। परन्तु जातियों वाले भारत के लोगों ने उन भीषण आक्रमणों का दृढ़ता एवं वीरता से सतत एक हजार वर्ष तक सामना किया। इन शताब्दियों के लम्बे काल में भी जातियों का अस्तित्व बना हुआ था। यह भी ठीक है कि जहाँ बौद्ध प्रभाव से जाति-व्यवस्था भंग हुई थी, हमारे देश के पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भाग ही मुसलमानों के भीषण आक्रमण के शिकार सरलता से हो गये। वहाँ अधिकाधिक धर्म-परिवर्तन हुए, दिल्ली, उत्तर प्रदेश जहाँ जाति-पाँति की मर्यादाओं का कठोरता से पालन होता है, जो पुरातनवादी माने जाते थे, मुस्लिम-शक्ति एवं धर्मान्धता के कई शताब्दियों तक गढ़ रहते हुए भी हिन्दूबहुल बने रहे (वि० न० १०६ पृ०)।

यह भी ठीक है कि निम्न जाति के लोगों ने भी देश को पुनर्जीवन प्रदान करने में महान् पराक्रम किया था, मेवाड़ी राजपूतों के साथ ही मेवाड़ी भीलों का इतिहास तो प्रसिद्ध ही है। आज तो जो जातिवाद की भर्त्सना करते-करते अघाते नहीं वही जातिवाद को प्रोत्साहन देकर निर्वाचन जीतने का घृणित प्रयास करते हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी ब्राह्मणादि जातियों तथा उनका महत्त्व तभी रहा और रह सकता है, जब कि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों का आचरण एवं सम्मान हो, उसकी उपेक्षा से ही यह सब अनर्थ हुए हैं, और होते रहेंगे, आश्चर्य है कि फिर भी आप उन शास्त्रों एवं धर्मों की उपेक्षा करके अपने संगठन के आचरणों द्वारा उसी जाति-पाँति को मिटाने का प्रयास कर रहे हैं। शास्त्रीय परम्पराओं के कारण ही विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी उसी अखण्ड वैदिक सभ्यता, संस्कृति का प्रकाश होता रहा है, भारतीय, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मराठी, गुजराती, बंगला, सभी साहित्यों का विकास कल्याणकारी है, अतएव भले इनमें से कोई राष्ट्रभाषा हो, परन्तु अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा के पद पर बिठलाना और उसके लिए भारतीयों का प्रयत्न करना सचमुच एक महान् आश्चर्य है।

आर्य-अनार्य भेद वनवासी आदिवासी आदि सभी भेद शास्त्र विमुखता के कारण उद्भूत हुए हैं। आपका यह तो कहना ठीक है कि हमारे समाज पुरुष की सभी धमनियों में एक बार यह एकता का जीवन-स्रोत प्रवाहित होना चाहिए (११४ पृ०) परन्तु इसी एकता की स्थापना एवं सुरक्षा के लिए उन्हीं शास्त्रों को ही सरपंच मानकर चलना चाहिए, जिनके प्रति हमारे, आपके, सभी के पूर्वजों का पूर्ण सम्मान था। अतएव यह कहना सर्वथा असंगत है कि इस प्रकार का जीवित और वर्तमान समाज अपनी प्राचीन रीतियों एवं प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है, और जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर करनेवाला है, उसे सुरक्षित रखेगा, तथा शेष को जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा।

किसी को भी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है, और न नवीन व्यवस्था के स्वागत में पीछे हटने की आवश्यकता है (वि० न० ११५ पृष्ठ)।

यही है सुधारवादियों का वह विकासवादी भूत, जिसके आवेश में कांग्रेसी, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, जनसंघी भारतीय जातिपाँति को सड़ियल बनाकर प्राचीन धर्म-कर्म सबको समाप्त करके नयी व्यवस्था लाने का भिन्न-भिन्न, स्वप्न देखते हैं। जब एकबार प्राणी अपने धर्म-कर्म, सभ्यता, संस्कृति के आधारस्तम्भ शास्त्रों से विमुख होता है तो फिर उसका कितना पतन होता है, इसका ठिकाना नहीं रहता है। प्रमाणहीन कल्पनाओं में फिर इतना ही क्यों, ऐसा ही क्यों, इसकी सीमा नहीं रहती। आप कहते हैं, 'ज्यों ज्यों वृक्ष बढ़ता है पक्की पत्तियाँ सूखी टहनियाँ झड़ जाती हैं, उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं', परन्तु यही तो मार्क्स का भी कहना है कि संसार में निर्वाण एवं निर्माण होता ही रहता है, निर्वाण के लिए आँसू बहाना व्यर्थ है, इसी दृष्टिकोण से पुराने वेद, पुराणों, धर्मशास्त्रों को छोड़कर प्राचीन व्यवस्था विध्वंसक हिन्दू कोड निर्माण की बात चली थी, कहना न होगा कि यह सब निस्सार है और धर्म कर्म सभ्यता संस्कृति सबके मूल पर कुठाराघात है।

आत्मा शाश्वत है, ईश्वर शाश्वत है, ईश्वर का संविधान वेदादिशास्त्र शाश्वत है, उसके नियम शाश्वत हैं, उसके देश कालानुसारी यदि किंचित् परिवर्तन भी हैं तो वे शाश्वत शास्त्र सापेक्ष ही हैं, यह युक्ति तर्क एवं शास्त्र से सिद्ध है। सुधारक भी सत्य, न्याय, सदाचार, सच्चरित्रता आदि को शाश्वत मानते हैं, परन्तु मार्क्स तो परिस्थिति के अनुसार सत्य, न्याय, सदाचार में भी पूरा परिवर्तन मानता है। ऐसी स्थिति में किन्हीं लोगों की दृष्टि में निराधार निष्प्रमाण आपका हिन्दुत्व एकत्व, संस्कृति, सदाचार भी स्वार्थी एवं अपरिवर्तनीय नहीं रह सकता है। जैसे आप बूंद के तुल्य व्यक्ति के अशाश्वत होने पर भी प्रवाह के तुल्य समाज को शाश्वत मानते हैं, वैसे ही यह भी क्यों नहीं समझते कि कुछ लौकिक व्यवस्थाओं में हेर-फेर होने पर भी शास्त्रीय धर्म, संस्कृति तथा सभ्यतायें शाश्वत ही रहती हैं। यदि उनका बदलना सम्भव है तब फिर समाज के उलट-फेर में हो क्या अड़चन हो सकती है, फिर खानपान वेशभूषा रीति-रिवाज त्यौहार आदि के ही अपरिवर्तन में कठमुल्लापन क्यों दिखाया जाय?

आप कहते हैं कि एकता हमारे रक्त में जन्मजात एवं दृढ़ निविष्ट है, क्योंकि हम सभी ने हिन्दू के रूप में जन्म लिया है (११५ पृष्ठ) परन्तु जब हिन्दुत्व का कोई आधार नहीं तो वह भी अपरिवर्तनीय क्यों? फिर तो लोग ठीक ही कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान अथवा ईसाई के रूप में पैदा नहीं होता किन्तु

सभी केवल मानव हीं के रूप में पैदा होते हैं । पर आप कहते हैं, यह दूसरों के लिए चाहे सत्य हो पर हिन्दू के लिए नहीं । क्योंकि उसका प्रथम संस्कार तभी होता है, जब वह अपनी माता के गर्भ में रहता है और अंतिम संस्कार तब होता है जब उसका शरीर अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। हिन्दू के लिए जो कुछ हिन्दुत्व है उसका निर्माण करने के लिए १६ सोलह संस्कार होते हैं (११५ पृष्ठ)। परन्तु यदि आप संस्कार विधायक शास्त्रों का प्रामाण्य ही नहीं मानते तो आपका संस्कार भी क्या है ? यदि शास्त्रों को फेंक सकते हैं तो क्या संस्कारों को नहीं फेंका जा सकता है ? शास्त्रीय विधानों को छोड़कर गर्भाधान संस्कार क्या है ? हिन्दू मुसलमान में गर्भाधान में उससे क्या भेद हैं ? अग्नि में शरीर को जला देने या विद्युत् द्वारा शवदाह में क्या अन्तर है ?

सभी संस्कार पारस्कर गोभिल आदि गृह्यसूत्रों एवं कात्यायन आपस्तम्ब आदि कल्पसूत्रों तथा वेदों के बिना हो ही नहीं सकते, अतः वेद कल्प गृह्यसूत्रादि ग्रन्थों का प्रामाण्य हिन्दू बनने के लिए अनिवार्य है। अतः हम किसी पुस्तक या धर्मग्रन्थ को अपना मार्गदर्शक नहीं मानते यह आपका कहना सर्वथा असंगत ही है। क्योंकि जिन संस्कारों का होना हिन्दुत्व के लिए, आप अनिवार्य मानते हैं, उनकी सिद्धि बिना शास्त्रों के हो ही नहीं सकती यह कहा जा चुका है ।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि चूड़ाकर्म (शिखा) और उपनयन (यज्ञोपवीत) भी षोडश संस्कारों में ही परिगणित हैं। ये दोनों ही संस्कार प्रमुख संस्कार हैं। इनके बिना वेदाध्ययन एवं तदुक्त सप्त पाक यज्ञ संस्थ, सप्त हविर्यज्ञ संस्थ, सप्त-सोमयज्ञ संस्था संस्कार हो ही नहीं सकेंगे। परन्तु आप तो कहते हैं कि 'हमारे देश में कुछ सूत्र, यज्ञोपवीत शिखा धारण करते हैं कुछ नहीं। ये वस्तुएँ उनके लिए अर्थ रखती हैं जो उन्हें मानते हैं" अर्थात् जो नहीं मानते उनके लिए उनका कुछ भी अर्थ नहीं है। यहाँ आप भूल गये कि आपने सोलह संस्कारों को हिन्दुत्व का मुख्य आधार माना है। उन्हीं के बल पर अपने को पैदा होने से पहले हिन्दू कहने का दावा करते हैं। जब उक्त दोनों वस्तुएँ हिन्दू के सोलह संस्कार हैं, तब किसी भी हिन्दू के लिए उसकी अर्थ शून्यता कैसी ? आपकी दृष्टि में इतना ही नहीं जो चोटी जनेऊ न रखते हैं जिनके लिए चोटी जनेऊ न कुछ अर्थ रखते हैं उनके लिए भी आप कहते हैं कि वे हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षण मात्र हैं। उन्हीं को धर्म समझ लेने का भ्रम नहीं होना चाहिये।

यदि उनको धर्म समझना भ्रम है तो कोई क्यों धर्म बुद्धि से उन्हें धारण करेगा ? फिर तो आपके ये विचार ईसाइयों के उस अभियान में जान या अनजान से सहायक हो रहे हैं, जिसमें वर्णाश्रम धर्म एवं शिखा यज्ञोपवीत को समाप्त करने का

प्रयत्न चल रहा है। आनन्द मार्ग आदि अनेक संस्थाएँ ईसाइयों की सहायता से वर्णाश्रम धर्म के उन्मूलन में लग रही हैं।

आप शास्त्रों से विमुख होकर विकास प्रणाली को अपनाना चाहते हैं परन्तु विकास प्रणाली के अनुसार तो यही अधिक अच्छी विकसित प्रणाली वैद्युतदाह ही है। फिर क्या सावरकर के समान आप भी वैद्युतदाह को ही अन्त्येष्टि संस्कार मानेंगे? इसके अतिरिक्त यदि जन्मजात हिन्दू हैं, तो फिर जन्मजात ब्राह्मणादि भी तो होना चाहिए, क्योंकि संस्कार तो शास्त्रों में ब्राह्मणादि के ही नाम से विहित है, फिर तो अवश्य ही जन्मना वर्णव्यवस्था और वर्णानुसार धर्म भी मान्य होने ही चाहिए। क्या जन्मना हिन्दू हो सकता है, जन्मना ब्राह्मण नहीं, ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि आप जन्मना अहिन्दू को हिन्दू बना सकते हैं, या नहीं? यदि हाँ तब तो हिन्दू जन्मना होता है, यह आपका मन्तव्य खण्डित हो जायगा। यदि नहीं तो फिर यह कैसे कहते हैं कि पहले हमारे पूर्वजों में पचाने की शक्ति थी, शक, हूण, तातार, आदि आक्रामक जातियों को अपने में विलीन कर लिया, अब भी हमको वैसा ही होना चाहिए, और यही मुस्लिम समस्या का समाधान है। इसी आशयवाले नेहरू के भाषण का भी उद्धरण (१३१ पृ०) देकर आपने अपनी बात का समर्थन किया है, परन्तु, क्या जन्मना हिन्दू माननेवाले सिद्धांत की उक्त कथन से संगति बैठ सकती है?

आपका तथोक्त हिन्दू समाज शक हूण तातार आदि को अपने में विलीन कर उन सबसे रोटी बेटी का व्यवहार कर क्या सांकर्य दोष दुष्ट नहीं हो गया?

आपके भगवान् श्रीकृष्ण तो "संकरोनरकायैवकुलघ्नानांकुलस्य च" जब वर्ण-सांकर्य की ही निन्दा करते हैं तब फिर विधर्मि सांकर्यम्लेच्छसांकर्य का तो कहना ही क्या है? मनु और कौटल्य भी वर्णसांकर्य को राष्ट्रविप्लव का ही हेतु मानते हैं।

निम्बतैल परिपूर्ण घट में कुछ सुगंधित इत्र डाल देने से क्या इत्र निम्बतैल को पचा लेता है? अथवा क्या निम्बतैल ही इत्र को पचा जाता है? ब्राह्मण हिन्दू के पानी पीने के मृण्मय घट को यदि मुस्लिम के बधना (वह मृण्मय पात्र जिससे वह मुसलमान पानी भी पीता है, शौचालय का भी काम करता है) से मिला दिया जाय तो कौन पवित्र होगा, कौन अपवित्र होगा, इस पर आपने कभी विचार किया है? फिर उस बधने को गंगाजल में भी प्रक्षालन क्यों न कर लें पर हिन्दू का पवित्र घट बधने की अपवित्रता को पचा लेगा? या उसकी पवित्रता स्वयं बधने की अपवित्रता में पच जायेगी? क्या गंगा जल मिला देने से मद्यपी पवित्र हो जायेगा? यदि आपका तथाकथित हिंदुत्व अपनी पाचनशक्ति को उत्तेजित कर लेगा तब भी उसके भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रहेगा या नहीं?

क्या पाचनशक्ति का यही महत्त्व है कि पथ्य अपथ्य खाद्य-अखाद्य भक्ष्य अभक्ष्य का सब विवेक ही मिट जाय ? वस्तुतः यह सब सुधारकों की सनक मात्र है। हिंदू धर्मशास्त्र जैसे पहले थे वैसे अब भी हैं। पहले भी भोजन, विवाह में शास्त्रीय नियमों का आदरण सदा ही होता था और होना भी चाहिए, कभी भी किसी विजातीय को मिलाकर रोटी बेटी एक करके पचा जाने की पद्धति भारत में नहीं थी। विभिन्न विधर्मी जातियाँ या तो नष्ट हो गयीं, या बौद्ध बनकर अंत में मुस्लिम बन गयीं थीं। यहाँ की पद्धति के अनुसार तो जो मार्ग भ्रष्ट हिंदू प्रायश्चित्तार्ह होते थे उनसे प्रायश्चित करा कर उन्हें समाज में ले लिया जाता था परंतु प्रायश्चित्तानर्ह पातित्य में तो उनकी भी पृथक श्रेणी निर्मित कर दी जाती थी। उनका सर्वथा समाज में सांकर्य नहीं होने पाता था।

शिखा (चूड़ाकर्म) जनेऊ (उपनयन) संस्कार को आप एक छोटा सा चिह्न मात्र मानते हैं। यदि शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है तो अन्य संस्कारों का भी कोई महत्त्व नहीं है, फिर इस अधकचड़े हिन्दुत्व और संस्कारादि की अपेक्षा तो अप्टूडेट पूर्ण परिवर्तनवादी कम्युनिस्ट ही अच्छे हैं। आश्चर्य है आप एकतरफ शास्त्रों का प्रामाण्य नहीं मानते, प्राचीन किसी भी व्यवस्था की उपयोगिता समाप्त हो जाने पर फेंक देना उचित मानते हैं, और दूसरी तरफ शास्त्रैकसमधिगम्य संस्कारों के बल पर हिन्दुत्व की बात करते हैं। क्या आज की आधुनिक प्रजनन पद्धति एवं वैद्युतशवदाह के जमाने में प्राचीन गर्भाधान एवं अन्त्येष्टि की उपयोगिता समाप्त नहीं हो गयी? यह अर्ध कुक्कुटी न्याय कभी भी विचारकों के सामने टिक नहीं सकता।

"सहजं कर्म कौन्तेय, सदोषमपि न त्यजेत्" के अनुसार (११६ पृ०) क्या समाजरूपी वृक्ष की सहज कर्मरूपपत्तियां या टहनियां सूख या झड़ नहीं जायेंगी? जब वृक्ष की टहनियां-पत्तियां सहज नहीं होंगी ? जब वृक्ष की टहनियां-पत्तियां सहज नहीं हैं तो क्या कोई भी कर्म सहज हो सकता है ? फिर जब वह सदोष हो गया तब वह भी क्यों न त्याज्य होगा ? फिर यहाँ भी उक्त गीता वचन पर अन्ध विश्वास क्यों ? क्या आप रक्त का अमिश्रण मानते हैं ? शास्त्रीय वर्णव्यवस्था के अनुसार विवाह व्यवस्था मानते हैं ? क्या आज की विकसित पद्धति के अनुसार उसे त्याग कर मुसलमानों अँगरेजों से शादी विवाह करेंगे ? यदि यह मान्य है तो रक्त मिश्रण के साथ क्या जन्मजात हिन्दू रह जायेगा ? और मिश्रण होने पर क्या अहिन्दुत्व का भी मिश्रण न होगा ? आगे आप ध्रुव एवं अध्रुव की बात करते हैं, और अध्रुव को त्याग कर ध्रुव के सेवन की सलाह देते हैं, अध्रुव राजनीति को छोड़कर ध्रुव समाज के आदर का उपदेश करते हैं (११६ पृष्ठ)। पर क्या कोई भी कर्म ध्रुवरूप से मान्य है, कर्म तो सभी क्षणभंगुर ही हो जाते हैं, यदि प्रवाह रूप से संस्कारादि सहज कर्म ध्रुव हैं तो फिर शास्त्रोक्त सभी प्राचीन व्यवस्थाएं क्या प्रवाह रूप से ध्रुव नहीं हैं?

आगे आपने लिखा है कि एकात्मक हिन्दू समाज को भक्ति का केन्द्र बनाना चाहिए,–समाजभक्ति के मार्ग में अन्य कोई विचार चाहे वह जाति, वंश, भाषा अथवा दल का हो, नहीं आने देना चाहिए, यही सच्ची भक्ति की कसौटी है। इसी प्रसंग में आपने मीरा के लिए लिखे गये–तुलसीदास जी के—

जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये तिनहिं कोटि वैरी सम, यद्यपि परमसनेही।"

इस पद्य की चर्चा करते हुए लिखा है। इसका आशय यही है कि जो राम को अर्थात् जो भक्त का इष्ट हो उसे प्यार नहीं करते, और बाधा के रूप में आ जाते हैं, उन्हें कोटि शत्रु के रूप में त्याग देना चाहिए, चाहे वे अत्यंत निकट प्रिय सम्बन्धी क्यों न रहे हों, पश्चात् उन्होंने (तुलसीदास) उदाहरण दिये हैं:- जिनमें इष्ट की भक्ति के लिए माता पिता तथा अन्य संबंधियों को त्याग दिया गया है, अतएव इस प्रत्यक्ष देवता हिन्दू समाज की भक्ति में विघ्न उपस्थित करनेवाले मन के सभी अन्तर वर्गों को त्यागना होगा, क्योंकि वे अपने समाज की आन्तरिक एकता को खड़ा करने और सशक्त बनाने के लिए अत्यावश्यक एवं प्रमुख कर्तव्य के मार्ग में बाधा रूप में आते हैं। (वि० न० ११७ पृ०)।

जहाँ तक समाज की भक्ति की बात है वह ठीक है, परन्तु तुलसीदास जी के पद्य के राम शब्द का अर्थ वेदान्त वेद्य निर्गुण निराकार या सगुण सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही हैं। हिन्दू समाज मुस्लिम समाज या ईसाई समाज नहीं, अतएव किसी समाज के लिए माता, पिता, गुरु या पति को कोटि-कोटि शत्रु के तुल्य नहीं त्यागा जा सकता है, वैसा अर्थ कहना इस पद्य का दुरुपयोग करना है, ऐसा ही दुरुपयोग इस पद्य का आज हो भी रहा है।

माता-पिता गुरु पति का त्याग करके अपने अभिमत संघटन या व्यक्तित्व के भजन का उपदेश करनेवालों की आज बाढ़ सी आ रही है। परंतु शास्त्र एवं शास्त्रों की वर्णाश्रम-मर्यादाओं के रक्षण का उपदेश दुर्लभ हो रहा है।

वस्तुतः जैसे नदी पार कर लेने पर नाव का त्याग किया जा सकता है, वैसे ही धर्मादि द्वारा संसाररूपी मृत्यु को पार कर परमेश्वर को प्राप्त कर लेने के बाद फिर साधन के मूलभूत वस्तुओं का त्याग हो सकता है। तभी तो गीता में कहा है—**'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**।

अर्थात् सब धर्मों को त्याग कर परमात्मा की शरण ग्रहण करो।

अन्य वस्तुओं के लिए धर्म एवं धर्म साधनों का परित्याग नहीं किया जा सकता। आत्मा के लिए तो समाज ही क्या संपूर्ण पृथ्वी का भी त्याग करना कहा गया है।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत् ॥

कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को छोड़ देना ठीक है, ग्राम के लिए एक कुल का त्याग करना ही उचित है। जनपद का अर्थ देश है। देश के लिए ग्राम का भी त्याग उचित है। आत्मा के लिए तो संपूर्ण पृथ्वी का भी परित्याग करना उचित हैं।

वस्तुतः आपकी राष्ट्र कल्पना का आधार कोई भारतीय शास्त्र एवं विचार नहीं किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के विचार हैं। आप कहते हैं, सर्वप्रथम विविध जनसमुदायों ने अपने आपको किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत मर्यादित कर लिया। किसी विशिष्ट प्रदेश के रहनेवाले जनों में यह भावना उदय हुई कि वे उस भूमि के पुत्र हैं, उनकी अपनी एक जीवन-पद्धति है जिसको उन्हें सुरक्षित रखना है। तथा वे इसी प्रकार के अन्य जन समुदायों से भिन्न हैं। संक्षेप में उनका एक अलग विशिष्ट अस्तित्व है। इस प्रकार वे एक सुसंगठित एवं अविभाज्य समुदाय बन गये। समय-समय पर और विभिन्न देशों में विचारवान अग्रणी पुरुषों ने इन समुदायों का परिचय देने के लिए राष्ट्र की भावना को अभिव्यक्त किया है। (वि० न० १२० पृ०)।

इन्हीं अभिव्यक्तियों एवं परिभाषाओं का सार संकलित करके आप कहते हैं कि "किसी राष्ट्र के लिए अपरिहार्य वस्तु एक वह भूखण्ड है जो यथासम्भव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि एवं समृद्धि के लिए आधार रूप में काम दे"।

"द्वितीय आवश्यकता है उस विशिष्ट भू प्रदेश में रहनेवाला समाज जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में प्रेम एवं पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। संक्षेप में वह समाज उस भूमि के पुत्र के रूप में स्वयं को अनुभव करे" (वि० न० १२० पृ०)।

इस परिभाषा के अनुसार आप कहते हैं कि "केवल हिन्दू ही इस भूमि की संतान के रूप में यहाँ रहता आ रहा है।" मातृभूमि की इस संयुक्त उपासना ने हमारे संपूर्ण समाज में काशी से कन्याकुमारी तक बनवासी से नगरवासी तक एक रक्त सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। ये सभी अनेक जातियां ईश्वर की उपासना के विविध मार्ग तथा विभिन्न भाषायें एक महान् सजातीय ठोस हिन्दू समाज की अभिव्यक्तियां हैं, जो इस मातृभूमि की संतान हैं। (वि०न० १२१पृ०)। आपके कथनानुसार भी विचार करने से यह स्पष्ट विदित होगा कि अनन्त ब्रह्माण्ड मेंयह एक ब्राह्माण्ड है एवं उस चतुर्दश भुवनमय ब्रह्माण्ड में यह एक मर्त्य लोक है। उस मर्त्य लोक में अनन्त

प्राणी हैं। उनमें एक मानव समुदाय है। उस मानव समुदाय के अपरिगणित समाजों में एक हिन्दू समाज है। फिर उसी को प्रत्यक्ष ईश्वर मानना एवं उसकी भक्ति करना और उसकी भक्ति में बाधक होने से उन माता पिता गुरु पति का भी परित्याग कर देना जिनकी भक्ति और अनुसरण करना शाश्वत भारतीय अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों में उल्लिखित है, कहाँ तक ठीक है? यह आप स्वयं सोचें। पाश्चात्य कल्पना प्रसूत तथाकथित राष्ट्र की अपेक्षा भारतीय अपौरुषेय वेदादिशास्त्रों में स्पष्ट ही ईश्वर एवं धर्म का महत्त्व बहुत अधिक रूप में वर्णित है। स्पष्ट बात यह है कि हमारे यहाँ पाश्चात्य या पौरस्त्य निराधार कल्पनाओं का कोई भी महत्त्व मान्य नहीं है। दृष्ट विषयों में प्रत्यक्ष एवं अनुमान की भी मान्यता होती है परन्तु धर्म ब्रह्म जैसे अतीन्द्रिय विषयों में तो शाश्वत अनादि अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों की ही मान्यता होती है। चरमसत्य की प्राप्ति के मार्गों या धर्मों, संस्कृतियों में मनमानी अनुभूतियों का कुछ भी महत्त्व नहीं है। आप की संस्कृति एवं हिन्दुत्व यदि उक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होता तो फिर उसे कितने ही अति उदात्त गुण पवित्रता, चारित्र्य, धैर्य एवं बलिदान (पृ० १२२) आदि विशेषणों से विशेषित कर दें, परन्तु आकाश कुसुम से अधिक उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है।

वस्तुतः उक्त सभी गुण प्रामाणिक शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों से ही व्यक्त होते हैं। नारीमात्र में मातृत्व भावना भी **'मातृवत् परदारेषु'** इस शास्त्र वचन पर ही आधारित थी, उन्हीं शास्त्रों के अनुसार ही सहस्रों नहीं करोड़ों वर्षों से असंख्य सन्त, महात्मा और शूरवीर उद्धारक समय-समय पर होते आये हैं। **'अमृतस्य पुत्राः'** (अ० सं० १०।१३।१) इत्यादि शास्त्रोक्त सद्भावनाओं के आधार पर ही परस्पर भ्रातृता का भाव पैदा होता है। उसके भूलने से ही फूट, कलह, अराजकता और पतन होता है।

आपने लिखा कि स्टैलिन ने कहा है कि एक भू-प्रदेश में रहनेवाले जनों का केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक सामान्य हितों के आधार पर ही राष्ट्र नहीं बन जाता वरन् वह तो एक अभौतिक भावनाओं की सजातीयता है (पृ० १२४) परन्तु आपको यह भी मालूम होना चाहिए कि मार्क्सवादी स्टैलिन की दृष्टि में कोई अभौतिक तत्त्व होता ही नहीं। अगर कोई अलौकिक ईश्वर आत्मा या धर्म मान्य हो तब तो फिर अलौकिक नियम भी मान्य किया जा सकता है। और फिर उसी आधार पर संपत्ति संबंधी नियम भी मानने पड़ेंगे। और तब व्यक्तिगत भूमि संपत्ति का हरण भी नहीं बन सकेगा। इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि 'कोई अभौतिक तत्त्व या शाश्वत धर्म सिद्ध नहीं होता। उत्पादन साधनों में रद्दोबदल होने से ही माली हालतें बदलती हैं। उनके बदलते ही पुराने सब नियम बदल जाते हैं।'

आगे आपने भारत के ईसाई, मुसलमानों के सम्बन्ध में लिखा है कि क्या वे यहाँ उत्पन्न नहीं हुए ? तथा यहीं पर उनका-पालन पोषण नहीं हुआ ? वे धर्म परिवर्तन से परकीय कैसे हो गये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आप कहते हैं कि 'क्या उन्हें स्मरण है कि वे इस भूमि की सन्तान हैं' केवल हमारे स्मरण से ही क्या लाभ ? यह अनुभूति एवं स्मृति उन्हें पोषित करनी चाहिए।

हम इतने क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति उस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिन्दू हैं। इसीलिए हममें प्रत्येक पन्थ और सभी विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो अन्य पन्थों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिन्दू नहीं हो सकता। किन्तु जो मुसलमान ईसाई हो गए हैं उनका भाव क्या है ?

निःसन्देह वे इसी देश में पैदा हुए हैं। किन्तु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं कि वे इस मिट्टी के ऋणी हैं ? क्या वे इस देश के प्रति जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ है, कृतज्ञ हैं, क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और परम्पराओं की सन्तान हैं। इसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है ? नहीं। धर्म परिवर्तन के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं भक्ति समाप्त हो गयी है (१२४–२५। पृ०)।

यही नहीं उनमें इस देश के शत्रुओं के साथ अभिन्नता की अनुभूति विकसित हो गयी है। वे अन्य भूमि की ओर देखते हैं। अपने को शेख सैयद कहते हैं। राष्ट्र को संकट में छोड़कर शत्रु से मिल जाना राष्ट्रद्रोह नहीं तो और क्या है ? जो यहाँ रहते हुए देश के समान परम्पराओं के विरोध में कार्य करते हैं, राष्ट्रिय पुरुषों एवं राष्ट्रिय श्रद्धा का अपमान करते हैं, उन्हें राष्ट्रिय कैसे कहा जाए ? (वि० न० १२५–१२६। पृ०)।

परन्तु यहां प्रश्न यह हो सकता है कि यदि ईसाई और मुसलमान अपने को इस देश का पुत्र मानने लगें, देशद्रोह करना बन्द कर दें, किन्तु अपने इस्लाम धर्म के अनुसार कुरान का आदर करते हुए मुसलमान रहें, तो आप उन्हें राष्ट्रिय या हिन्दू मानने लग जायेंगे ? इसी तरह कोई हिन्दू कहलानेवाला व्यक्ति हो आपके हिन्दुत्व की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो क्या आप उसे अहिन्दू कहने लग जायेंगे ? यदि दोनों प्रश्नों का उत्तर हाँ के रूप में देते हैं तो 'हम जन्मजात हिन्दू हैं' आपके इस कथन का क्या विरोध नहीं होगा ? क्या जो जन्मजात सिंह या शृगाल है, वह किसी भी शर्त पर गैर शृगाल या गैर सिंह हो सकता है ? या कोई गैर सिंह कभी भी सिंह हो सकता है ? आपलोग यह भी कहते हैं कि उनको हिन्दू जैसा रामदत्त, कृष्णदत्त नाम रखना चाहिए और हिन्दू जैसी वेश-भूषा धारण करना चाहिए। परन्तु क्या उस हिन्दू को जो अमेरिका या इंगलैण्ड का नागरिक बन गया

हो, आप यही सलाह देंगे कि वह भारतीय नाम और वेश-भूषा छोड़कर अब्राहम लिंकन, एटली, चर्चिल जैसे अपना नाम रखे। विवाहोत्सव उस देश के अनुसार करे, मृत्यु संस्कार में दाह, अग्नि में जलाना बन्द करके कब्र बनाना शुरू कर दे। और अपनी परिधान रीतियाँ, भवन निर्माण अमरीकी ढंग से करने लगे। परन्तु विवाह, मृत्यु संस्कार आदि सोलह संस्कारों में ही परिगणित हैं, यदि विदेशों में रहनेवाले हिन्दू के संस्कार भी बदल जायँगे तब वह हिन्दू ही कैसे रह जायगा ? क्या आपकी विश्व हिन्दू परिषद् का भी यही मत होगा ? और विदेश के रहनेवाले हिन्दुओं को अपनी देश-भूषा, संस्कार सब कुछ गँवाकर ईसाई, मुसलमान बनना पड़ेगा ? वस्तुतः आपका उक्त कथन विदेशी हिन्दुओं के लिए खतरनाक ही है। क्योंकि मुसलमानों को आपने सलाह दी है कि वे परिधान रीतियां, भवन-निर्माण एवं मृत्यु संस्कार आदि सभी बातों में हिन्दू जीवन-पद्धति के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करें। (वि० न० १२८ पृ०)

यदि इसका भी उत्तर हाँ के रूप में दें तो इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि कोई जन्मजात हिन्दू भी देश बदल जाने से अहिन्दू हो जायगा एवं जन्मजात अहिन्दू अंग्रेज, अरब, फ्रेंच भी भारतवासी एवं भारत का हो जाने से हिन्दू हो जायगा ? फिर तो आपके जन्मजात हिन्दू की वरिष्ठता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही आपने एक तरफ यह भी कहा कि 'पैदा होने से पहले हमारा गर्भाधान संस्कार होता है, इसलिए हम हिन्दू हैं।" "सोलह संस्कार जिसका होता है वह हिन्दू है।" तब क्या मुसलमानों, अंग्रेजों व फ्रेंचों का भी सोलह संस्कार होने लगे तो आप उन्हें भी जन्मजात हिन्दू मानने लगेंगे ? परन्तु फिर भी कृत्रिमता ही हुई। क्या ऐसी कृत्रिम वस्तु को भी जन्मजात या सहज कहा जा सकता है ? फिर साथ ही आप यह भी तो कहते हैं कि हम ऐसे क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि पूजा का प्रकार बदल जाने मात्र से कोई व्यक्ति भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं (१२५ पृ०)।

जब ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं तो कोई यदि अपने को या अपने बच्चे को किसी नाम से पुकारे, तब आपको क्या आपत्ति हो सकती है ? सचमुच आप हिन्दू की परिभाषा नहीं कर सकते। इसी तरह संस्कृति का निरूपण भी आप लोगों के वश की बात नहीं है। आपके ऐसे ही निष्प्रमाण सार शून्य उपदेशों से प्रभावित हो कोई कहता है : मुसलमान भी कबीरपन्थी, नानकपंथी, जैसा मुहम्मद पन्थी या मुहम्मदी हिन्दू ही है। कोई कहता है, आओ जातिपांति की झूठी भेदभाव की दीवारों पर वज्रपात करें। तो कोई कहता है कि आपलोगों ने रामकृष्ण को भगवान की कोटि में ढकेल दिया है। पूर्वापर का विरोध भी आप नहीं देखते हैं। तभी तो आपने सियार के बच्चे का दृष्टान्त दे डाला, सिंहनी एक सियार के बच्चे को

अपनी गुफा में ले गयी, और अपने बच्चों के साथ शृगाल शिशु को अपना दूध पिलाकर पाला, बड़े होने पर वे सब भाई-भाई की भाँति खेलने लगे। एक बार जब सिंह-शावकों ने एक विशालकाय महामत्तगजेन्द्र पर आक्रमण किया तो वह शृगाल-शिशु चिल्लाकर भागा, और उन्हें भाग चलने को कहा। सिंह के बच्चे उसकी उपेक्षा कर अपने शिकार पर टूट पड़े, सियार के बच्चे ने जाकर सिंहनी से भाइयों के साहसपूर्ण कार्य की शिकायत की। सिंहनी ने मुस्कराकर कहा, निःसंदेह तुम हमारा दूध पीकर खड़े हुए हो किन्तु तब भी तुम अपनी प्रकृति से भिन्न कैसे हो सकते हो ?

"शूरोसिकृतविद्योसि दर्शनीयोसिपुत्रक ।
यस्मिन्कुलेत्वमुत्पन्नोगजस्तत्र न हन्यते ॥'

अर्थात् पुत्र निस्संदेह तुम शूर हो, चतुर और विद्वान् हो, दर्शनीय हो, परन्तु जिस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो, उस कुल के लोग हाथी का शिकार नहीं कर सकते हैं। यही बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में लागू होती है। किसी विशिष्ट देश में साधारण रूप से निवास मात्र, समान चरित्र एवं गुणों से सम्पन्न एकात्म राष्ट्रीय समाज का निर्माण नहीं कर सकता।

नवागतों को अपने जीवन में आमूल परिवर्तन करना चाहिए, मानों प्राचीन राष्ट्रिय कुल परंपरा में उनका पुनर्जन्म हुआ हो (पृ० १२६।१२७)। साथ ही आवदासता को उतार फेंकने का आह्वान भी करते हैं।

मुट्ठी भर मुसलमान यहाँ आक्रामक के रूप में आये थे। ऐसे ही थोड़े से ईसाई धर्म-प्रचारक यहाँ आय थे, यह संख्या वृद्धि प्रजननरीति से नहीं हुई किन्तु स्थानीय जनों के धर्म-परिवर्तन से उनकी संख्या बढ़ी है।

भय, बलात्कार या सत्ता प्रतिष्ठा आदि प्रलोभनों से यह धर्म परिवर्तन हुआ है, छल-छद्म से भी धर्म-परिवर्तन किया गया है।

हमारा कर्त्तव्य है कि इन परित्यक्त भाइयों को जो शताब्दियों से धार्मिक दास्य के क्लेश को भोग रहे हैं, अपने पूर्वजों के घरों में बुला लायें, और ईमानदार स्वतंत्रता प्रिय मनुष्यों की भाँति दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नों को उतार फेंकें, और वंश-परम्परानुगत राष्ट्रिय जीवन की रीतियों का अनुसरण करते हुए भटके हुए इन पुत्रों के पुनरागमन पर हम महान् दीपावली पर्व मनायें।

अन्त में आप कहते हैं कि हम तो सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता भी चाहते हैं। हम अपने घरों के पवित्र स्थानों और देवालयों की अपनी युगों प्राचीन सांस्कृतिक एवं पैतृक निधियों के द्वार खोल दें। निःसंशय यही व्यापक दृष्टिकोण है। (वि०न० १२९पृ०)

आपने अपने इन कथनों में पूर्वापर विरोध का कुछ भी ध्यान नहीं रखा है, अतएव एक तरफ तो शृगाल के बच्चे एवं सिंह के बच्चों का दृष्टांत दे डाला और उसके द्वारा यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि जो लोग हिन्दुओं से भिन्न हैं उनकी

प्रकृति हिन्दुओं की प्रकृति से भिन्न है। दूसरी तरफ सबके लिए अपने घरों, देवालयों, सांस्कृतिक एवं पैतृक निधियों का द्वार खोल रहे हैं। "क्या? हजारों प्रयत्नों से भी आप शृगाल शिशुओं को सिंह शिशु बनाने में सफल हो सकेंगे?

यदि कहें कि नहीं, वे तो हमारे ही बिछुड़े हुए भाई हैं, तब फिर सियार के बच्चे के दृष्टांत का क्या अर्थ है? फिर जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, उस कुल के लोग हाथी नहीं मार सकते, इस कथन की संगति कैसे लगेगी? जब वे आपके ही कुल के हैं। और आप सिंह हैं तो वे शृगाल कुल के कैसे? इसके अतिरिक्त माना कि मुट्ठी भर ईसाई या मुसलमान बाहर से आये हैं, पर वे सब भी तो मिल-जुल कर एक हो गये, उनका विवेचन आप किस आधार पर करेंगे, उनका परस्पर खानपान, शादी विवाह से एक मिश्रण नहीं हो गया? यदि हाँ तो क्या आप शुद्ध सिंह कहे जा सकते हैं क्या सिंह शृगाल के सांकर्य से निकृष्ट प्रतिलोम संकरों की उत्पत्ति नहीं हो गयी?

शास्त्रों में ब्राह्मणकन्या में शूद्र से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल मानी जाती है। फिर म्लेच्छ से उत्पन्न सन्तान क्या होगी? इस पर भी कभी आपने विचार किया है? फिर यदि अपने बिछुड़े भाइयों को ही गले लगाने की बात है, तब तो सिंह एवं शृगाल की कहानी न उठाकर उस सिंह की कहानी कहनी चाहिए थी, जिसमें कोई सिंह-शावक दुर्दैववशात् भेड़ बकड़ियों में रहने लगा हो, और उसके संसर्ग से वैसा ही बन गया हो, पर जब किसी सिंह से उसके सिंहत्व का बोध कराया गया तब वह शुद्ध सिंह हो गया। वस्तुतः शास्त्र विश्वास एवं शास्त्र ज्ञान न होने से ही आपने ऐसी असंगतियों का समुच्चय संगृहीत कर रखा है। वस्तुतः जन्मना वर्णव्यवस्था मान्य होने पर ही शृगाल एवं सिंह का दृष्टान्त संगत होता है। जन्मना ब्राह्मण होने का संस्कार आपके उक्त दृष्टांत पर दृष्टि ले जाता है और शास्त्रविमुख सुधारक होने का संस्कार आपको उससे सर्वथा विपरीत कार्य संपादन के लिए प्रेरित करता है। उसी के अनुसार कहीं आप अपने को जन्मजात हिन्दू कहते हैं, कहीं विदेशी गैर हिन्दू, ईसाई, मुसलमान तथा उनसे मिले जुले संकीर्ण ईसाई मुसलमानों के लिए भी अपना घर और मंदिर खोल देते हैं। अर्थात् उनके साथ रोटी बेटी तक का सम्बन्ध करने को प्रस्तुत हैं।

कभी आप कहते हैं कि हम धर्मपरिवर्तन या पूजा प्रकार बदल देने मात्र से मुसलमान, ईसाई आदि को अराष्ट्रीय, अहिंदू नहीं कह सकते, और फिर कभी कहते हैं कि हम सांस्कृतिक और धार्मिक एकता भी चाहते हैं।

आगे आपने श्री जवाहरलाल नेहरू की उक्ति का उद्धरण दिया है। सांस्कृतिक इतिहास की प्रथम अवस्था में हूण तथा शकों जैसी जातियाँ जो आक्रान्ता के रूप में यहाँ आयीं, अपनी मूल रीतियों तथा धर्मों को छोड़ दिया, और अपने को राजपूत

कहना आरम्भ कर दिया, वे सभी प्रसन्नतापूर्वक हममें विलीन हो गयीं। उस समय हममें आत्मसात् करने का साहस और शक्ति थी। हमने उन्हें अपने राष्ट्र-जीवन की सांस्कृतिक धारा में पूर्ण रूप से विलीन कर लिया।

द्वितीय अवस्था में जब हमारे देश पर अत्यन्त उग्र चरित्रवाले आक्रान्ताओं ने आक्रमण किया, तथा हमारे लोगों ने अपनी समाज-रचना में ही सुरक्षा प्राप्त करने के लिए विधि-निषेध के नियमों में अपने को बन्द कर दिया। इस प्रकार अपने को पृथक् करते हुए संकुचित हो गये। उनकी दृष्टि से संकुचितता को त्याग कर एक बार पुनः आत्मसात् करने के प्राचीन विचारों को उज्जीवित करना चाहिए।

अन्त में आपने भी उसी आत्मसात् करनेवाले पराक्रमवाद को पुनरुज्जीवित करने की नेहरूवाली बात का समर्थन किया है और फिर आपने नेहरू की बात का उद्धरण भी दिया है। "कोई कारण नहीं कि हम मुसलमानों को अपने में न मिला सकें, जबकि हम पूर्वकाल के हूण एवं शकों को आत्मसात कर चुके हैं।" (वि० न० १३१ पृ०)

फिर आप अपनी तरफ से कहते हैं कि निर्विवाद रूप से हमारे राष्ट्रिय जीवन की एकात्मता के लिए यही और केवल यही शुद्ध मार्ग है। इससे अधिक संगत व्यावहारिक एवं उचित समाधान अन्य कुछ हो ही नहीं सकता है। (वि न० १३१ पृ०)

उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि नेहरू जी की विचारधारा से आप भी पूर्ण सहमत हैं। परन्तु आपको विदित होना चाहिए कि आपकी और श्री नेहरू की तथाकथित संस्कृति हिन्दू संस्कृति नहीं, किन्तु, वह एक खिचड़ी संस्कृति है। ऐसा हिन्दुत्व या हिन्दू संस्कृति शास्त्रीय तथा शाश्वत नहीं हैं। किन्तु आप जैसे सुधारकों का हिन्दुत्व मनः प्रसूत ही है। शास्त्रीय दृष्टि से तो सनातन परमात्मा ने, सनातन जीवात्माओं के सनातन कल्याण या अभ्युदय निःश्रेयस के लिए अपने निःश्वासभूत सनातन वेदादि शास्त्रों द्वारा जो विधान या मार्ग बनाया है, वही सनातन हिन्दू की सनातन शाश्वत धर्म एवं संस्कृति है, वह गिरगिट की तरह समय समय पर रंग बदलती नहीं रहती है, शास्त्रविरुद्ध इतिहास सर्वथा भ्रमात्मक एवं अप्रामाणिक है।

तातार, हूण, शकादि जातियाँ या तो सर्वथा नष्ट हो गयीं, अथवा हिन्दुओं की अन्त्यजादि जातियों, बौद्धों में घुल मिल गयीं एवं अन्ततः मुसलमान हो गयीं। इसी कारण हिन्दू जाति के व्यवस्थापक अनादि अपौरुषेय वेद एवं तदनुसार आर्ष धर्मग्रन्थ ही हैं। उनमें ब्राह्मण क्षत्रियों के सभी संस्कारों का विधान एवं विशेषतः प्रतिलोम सांकर्यों का घोर निषेध है।

जिस चाणक्य की आपने भूरि भूरि प्रशंसा की हैं, उसका भी यही मत है, यह हम बता चुके हैं। तद्विरुद्ध आप लोगों की सब कल्पनायें सर्वथा मिथ्या एवं अप्रमाण हैं।

हिन्दू जाति के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार व्यवस्थित शुद्ध जातियाँ हैं, इनके सांकर्य से तथा अन्य लोगों के सांकर्य से अनेक जातियाँ एवं उपजातियां हो गयीं। शुद्ध ब्राह्मणादि एवं अनुलोम त्रिवर्णों में वेदादिशास्त्र के अध्ययन तदर्थानुष्ठान का विधान है। अन्य सबके लिए भी वेदमूलक तन्त्रागम, पुराणादि प्रतिपादित भक्ति ज्ञान आदि धर्म का विधान है। अन्ततः वेदादि शास्त्रानुसार अपने अपने अधिकारानुसार चलने वाले कर्म, उपासना सभी हिंदू हो सकते हैं। यही मानव धर्म भी है। मानवता भी धर्म के ही आधार पर स्थिर होती है। अन्यथा भोजन, पान, सन्तान उत्पादनादि कार्य तो पशुओं में भी मनुष्यों के तुल्य ही है। इसीलिए कहा गया है:—

> आहार निद्राभय मैथुनंच सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मोहितेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥

इस तरह अंग्रेज, फ्रेंच, अरब आदि के मानव मात्र पहले अनादि शास्त्रोक्त धर्म का अधिकारानुसार पालन करते थे, अतः सभी हिन्दू थे। नवीन धर्मों के अपनाने से वे अन्य हो गये।

श्री भागवत में मानव मात्र के ये तीस धर्मों का निर्देश है—

> सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षा शमो दमः।
> अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥ ८॥
> सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहो परमः शनैः।
> नृणाम् विपर्ययेहेक्षा मौनमात्म विमर्शनम्॥ ९॥
> अन्नद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः,।
> तेष्वात्म देवता बुद्धिः सुतराम् नृषु पाण्डव॥ १०॥
> श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतांगतेः।
> सेवेज्यवनतिर्दास्यं सख्यमात्म समर्पणम्॥ ११॥
> नृणामयम् परोधर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
> त्रिंशल्लक्षणवान् राजन्सर्वात्मायेन्नतुष्यति॥ १२॥
>
> (भा० ७ स्क० अ० ११॥)

१—सत्य—यथार्थ भाषण, २—दया, पर दुःख मिटाने की भावना, ३—तप—एकादशी आदि शास्त्रविहित व्रत-उपवास करना, ४—शौचस्नानादि जन्य शुद्धि रखना, ५—तितिक्षा, शीत उष्णादि का सहन करना, ६—ईक्षायुक्त अयुक्त का विवेक रखना, ७—शम-मन का संयम करना, ८—दम बाह्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त

करना, ९—अहिंसा–सर्वथा पर पीड़ा का वर्जन करना, १०—ब्रह्मचर्य—परस्त्री वर्जन तथा निषिद्ध देशकालों में स्वस्त्रीवर्जन, ११—त्याग दान करना, १२-स्वाध्याय, अधिकारानुसार मन्त्र एवं भगवन्नामादि का जप करना, १३–आर्जव–मन से कुटिलता का त्याग करना, १४–सन्तोष–दैववशात् प्राप्त वस्तु से ही तृप्त रहना, १५–समदृक्सेवा, समदर्शी भगवद्भक्तों की सेवा करना, १६–शनैः ग्राम्येहोपरमः अर्थात् धीरे धीरे प्रवृत्ति कर्मों से निवृत्त होना अथवा भोगेच्छा से निवृत्त होना, १७-नृणाम् विपर्ययेहेक्षा मनुष्यों की निषिद्ध निष्फल क्रियाओं के विपरीत होने का विचार करना, १८–मौनवृथा–वार्तालाप से निवृत्त होना, १९–आत्म विमर्शन–देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदि से पृथक् शुद्ध चेतन आत्मा का विचार करना, २० अन्नाद्य आदि का यथायोग्य प्राणियो को प्रदान करना, २१–पशु आदि भूतों में सुतराम् मनुष्यों में देवता एवं आत्मा की बुद्धि करना, २२–सन्तों के परम गति भगवान के गुण एवं कर्मों का श्रवण करना, २३–गुण कर्म का कीर्तन करना, २४–स्वरूप गुण विभूतियों का स्मरण करना, २५–भगवान एवं भक्तों की सेवा यथा पाद सम्वाहन कष्ट हरण आदि, २६–पूजा अर्घ्यपाद्यादि निवेदन करना, २७–अवनति-नमस्कार दण्डवत् प्रणाम, आदि २८–दास्यदासवत् स्वकृत कर्मों का सब फल अर्पण करना, २९–सख्य–भगवान् में विश्वास करना, ३०–भगवान् में आत्मसमर्पण करना-देह गेहादि सब आत्मीयों तथा आत्मा को अर्पण करके सब कुछ भगवान् का ही है, ऐसा अनुसंधान करना। ये तीस प्रकार के कर्म सभी मनुष्यों के लिए विहित हैं। इनसे सर्वान्तरात्मा भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। इनमें सदाचार, पवित्रता, सेवा-पूजा, भक्ति एवं तत्त्वज्ञान सभी उत्तमोत्तम धर्म आ जाते हैं। इनसे परम कल्याण हो जाता है।

अब भी वेदमूलक तन्त्रागम पुराणादि प्रोक्त मानव भक्तिज्ञान सदाचार का पालन करने से सभी हिन्दू हो सकते हैं। परन्तु उनका श्रेणी-भेद अवश्य रहेगा, उनका खान-पान, विवाह आदि अपनी श्रेणियों में ही होने का नियम होगा। सब घर, सब देवालय, सब सांस्कृतिक एवं पैतृक निधियों का द्वार सबके लिए नहीं खुल सकता है। वर्ण सांकर्य, रक्त सांकर्य, रोटी-बेटी एक होने से हिन्दू संस्कृति लुप्त या नष्ट हो जायेगी। सर्व सांकर्य सब एक कहो, चाहे भ्रष्ट हिन्दू कहो-चाहे भ्रष्ट ईसाई या भ्रष्ट मुसलमान कहो, नाम मात्र का भेद होगा। अर्थ में कुछ भी भेद नहीं होगा। क्योंकि सब निष्प्रमाण, निराधार, अर्थात् वेदादि शास्त्रों तदनुसार परम्पराओं के विरुद्ध होगा।

श्री नेहरू को, आपको उन शास्त्रों के प्रामाण्य का कोई विचार नहीं अतएव आप कुछ भी कहें उसका शास्त्रीय विचारों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, जैसे

आपने यह माना कि शिवाजी के पुनरुत्थान-कार्य में रनउल्ला और इब्राहिम अपने मुसलमानी (पृ०१३१) नाम से ही सहयोग करता था, वैसे ही यह भी समझना चाहिए कि अपने धर्म, अपनी संस्कृति का आदर करता हुआ भी कोई मुसलमान एक ईमानदार के नाते सहयोग कर सकता है। मातृभूमि के प्रति ज्वलन्त भक्तिभावना ठीक है, साहचर्य एवं भ्रातृ-भावना भी ठीक है। राष्ट्रजीवन की समान धारा की उक्त चेतना भी ठीक है, परन्तु समान संस्कृति एवं समान पैतृक दाय आदि के सम्बन्ध में सर्वथा शास्त्र पराधीनता ही कल्याणकारी है।

आपलोग छू मंत्र के आधार पर गैर हिन्दुओं को हिंदू बनाकर एवं हिंदुओं के अवांतर विभिन्न जातियों का परस्पर भोजन पान विवाह आदि सम्पादन करने का प्रयत्न करते हैं, यह सर्वथा भारतीय वेदादिशास्त्रों एवं परंपराओं के विरुद्ध है। आप जैसे कुछ लोग कहते हैं कि भोजन पान शादी विवाह से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इनसे धर्म कभी नहीं नष्ट हो सकता, धर्म कोई कच्चा धागा नहीं है, छुई मुई नहीं है, परन्तु उनको यह जानना चाहिए कि शास्त्रानुसार देह इन्द्रिय मन बुद्धि की हर एक हलचल धर्म है। शास्त्र विरुद्ध अधर्म है। अन्यथा यदि धर्म फौलादी लोहा है, किसी तरह नष्ट नहीं हो सकता, तब तो कोई महामूर्ख यह भी सकता है कि फिर गोमांस खाने या बहन-बेटी के साथ विवाह करने से ही धर्म कैसे नष्ट हो सकता है? फिर तो बहुत कुछ करने की खुली छूट हो जायगी। यदि गोमांस भक्षकों के लिए संघी अपने घर एवं देवालयों तथा संस्कृति के पैतृकदायों का द्वार खोल देंगे, उनके साथ खान-पान सम्बन्ध स्थापित करने, बहन बेटी देकर रक्तसांकर्य स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे तो सर्वथा शास्त्रीय परम्पराएँ धर्म एवं जातियाँ नष्ट हो जायेंगी। यदि आप कहें कि शास्त्रों को हम मानते ही नहीं, परन्तु यदि शास्त्रीय परम्पराओं का आदर मिट जायेगा, तब तो बहन बेटियों के साथ शादी-विवाह में भी क्या बाधा रहेगी, यदि उस बन्धन को भी तोड़ देंगे, तो मान, दान, श्वान, शूकर में कोई अंतर न रह जाएगा। फिर हिंदुत्व का ही नहीं मानवता का भी सर्वनाश हो जाएगा। फिर संस्कृति का नाम केवल दम्भ ही रह जाएगा। फिर वेश्यावृत्ति या व्यभिचार से भी कोई परहेज क्यों करेगा? और कुल प्रसूत एवं जारजात में क्या भेद रह जाएगा?

जो कहते हैं कि वृक्ष की टहनियों और पत्तियों की तरह पुराने शास्त्रीय धर्मनियम समाप्त हो जाने चाहिए। उनके स्थान पर नयी पत्तियों की तरह नये धर्म नियम बनाये जाने चाहिए। उनको यह जानना चाहिए कि उनको यह जानना चाहिए कि सुर्य, चन्द्र, भूमि, भूधर, सागर तथा ईश्वर एवं आत्मा जैसे शाश्वत हैं, वैसे ही हमारे शास्त्र एवं धर्मनियम भी शाश्वत हैं। सुर्य आदि के समान ही धर्म में भी रद्दोबदल नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि १८ पुराणों एवं १८ स्मृतियों के मतभेद से ही मालूम पड़ता है कि देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार शास्त्रों एवं धार्मिक सामाजिक

नियमों में रद्दोबदल होता ही रहा है, फिर आज क्यों न उचित परिवर्तन किया जाय ? परन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के मूल अनादि अपौरुषेय वेद ही हैं। वेद ही मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद हमारे धर्म एवं संस्कृति के मूल हैं। धर्मशास्त्र, स्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, तन्त्र, आगम सबका मूल वेद ही है। इसीलिये वे सब वेद का ही अनुसरण करते हैं, एवं तन्त्र या वेद विरुद्ध किसी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। तभी महाकवि कालिदास कहते हैं, "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्, अर्थात् जैसे स्मृति श्रुति के अर्थ का अनुसरण करती है, वैसे ही सुदक्षिणा ने नन्दिनी के पीछे चलनेवाले दिलीप का अनुसरण किया। जैमिनि महर्षि ने भी वेदार्थ की मीमांसा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि श्रुति का विरोध होने पर स्मृति का प्रामाण्य अनपेक्ष अनादरणीय है। विरोध न होने पर उसके मूलभूत श्रुतिवचन का अनुमान करके उसके प्रामाण्य की प्रतिष्ठा होती है। 'विरोधेत्वनपेक्ष स्यादसति ह्यनुमानम्' इसी दृष्टि से 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायति' इस श्रुति वचन का विरोध होने से 'औदुम्बरी सर्वावेष्टयितव्या' इस कल्पस्मृति का अर्थसंकोच किया जाता है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि स्मृतियों एवं पुराणों की विभिन्नता वेद पर ही आधारित है, किसी की बुद्धि पर नहीं। वेदों में अनादिकाल से, कुछ कर्मों में काल-भेद से युग भेद से कुछ में अवस्था भेद से कुछ में आपद्-संपद् भेद से विभिन्नता है, सन्ध्या के प्रातः सायं मध्याह्न काल भेद से आचमनों में भेद हैं। सम्प्रदाय भेद से उदित होम, अनुदित होम का भी भेद है। अतः स्मृति इतिहास पुराणों के धर्म भेद वेद संभव नहीं हैं। धर्म अधर्म की व्यवस्था वेदादि निरपेक्ष स्वतंत्र बुद्धि से कोई भी कभी भी नहीं कर सकता और न उसकी कभी आस्तिक समाज में मान्यता ही होती है।

वस्तुतः इसी कारण आप शास्त्रों का प्रामाण्य मानने से भागते हैं, यदि शास्त्र प्रामाण्य मान लेंगे तो आपका कोई भी सिद्धान्त एक मिनट भी टिक नहीं पायेगा।

एक तरफ आप शाश्वत धर्म, शाश्वत संस्कृति, शाश्वत हिन्दुत्व की बात करते हैं, दूसरी तरफ आप शाश्वत सनातन शास्त्र एवं शास्त्रोक्त शाश्वत धर्म या नियम नहीं मानते।

आपने लाला हरदयाल की बताई हुई घटना की चर्चा की है कि दक्षिण में एक अंग्रेज अधिकारी था। उसका एक सहायक अधिकारी स्थानीय व्यक्ति शायद नायडू था, उस अंग्रेज का एक अर्दली ब्राह्मण था। एक दिन जब वह अंग्रेज सड़क पर अपने अर्दली के साथ जा रहा था, सामने से वह सहायक अधिकारी आ गया, दोनों ही अधिकारियों ने एक दूसरे को अभिवादन करते हुए हाथ मिलाया। किन्तु जब उस अधिकारी ने अर्दली को देखा तो अपनी पगड़ी उतार कर उसके चरण स्पर्श किये। अंग्रेज यह देखकर चकित रह गया और उसने पूछा यह क्या बात है ?

मैं तुम्हारा उच्च अधिकारी हूँ, तुमने मुझसे सीधे खड़े रहकर हाथ मिला कर अभिवादन किया और यह जो मेरा चपरासी है, उसे उतनी व्यस्त सड़क पर भी तुम भूमि पर लेटकर साष्टांग प्रणाम करते हो। अधिकारी ने उत्तर दिया, आप मेरे उच्च अधिकारी हुआ करें किन्तु आप म्लेच्छ हैं, वह भले ही चपरासी हैं, किन्तु हमारे समाज के उच्च वर्ग का है, जिसका शताब्दियों से अत्यन्त सम्मान होता चला आ रहा है, उसे झुक कर प्रणाम करना, मेरा कर्त्तव्य है। उस अंग्रेज ने इंगलैण्ड के इण्डिया आफिस को लिखा कि जब तक ब्राह्मणों को उनके उस प्रतिष्ठित पद से बहिष्कृत कर अंग्रेज स्वयं उसे अधिकृत नहीं कर लेते, अर्थात् उतना ही या उससे भो अधिक सम्मानित नहीं हो जाते, तब तक उनका साम्राज्य अधिक दिन तक नहीं टिक सकता (वि०न०पृ०१३५)। परन्तु क्या आपके शास्त्रविरुद्ध सहभोज, सहविवाह आदि के विस्तार से ब्राह्मण का यह प्रतिष्ठित पद रह जायगा? यदि अंग्रेज मुसलमान आदि सभी के लिए अपना द्वार खोल देंगे, सबके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध चलाकर वर्णसांकर्य, रक्तसांकर्य फैला देंगे तो फिर क्या कोई ब्राह्मण रह जायगा? यदि रक्त सांकर्य के कारण सबकी समानता एवं एकता ही हो जायगी तो कौन ब्राह्मण, कौन नायडू? फिर नायडू क्यों ब्राह्मण को साष्टांग प्रणाम करेगा? क्या वह ब्राह्मण भी म्लेच्छ नहीं हो जायेगा?

आश्चर्य है कि आप ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें लिखते हैं, परन्तु उनकी असंगतियों पर आपका ध्यान नहीं जाता।

आपने लिखा है कि वह (अंग्रेज) बड़ा चतुर था, क्योंकि उसने इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए तदनुरूप व्यवस्था के अनुसार शिक्षा देना प्रारम्भ किया, उसने हमें सिखाया कि यह एक राष्ट्र नहीं, यहाँ के आदिवासी द्रविड़ आदि हैं, आर्य बाहर से आये हैं। हमारे पास कोई मातृभूमि है ही नहीं। और हमसे यह भी कहा गया कि हमारा कोई धर्म नहीं, न कोई उल्लेखनीय दर्शन न नैतिक आधार ही है। (वि० न० पृ० १३५–१३६)।

वस्तुतः आपलोग भी उसी शिक्षा के प्रभाव से ही प्रभावित होकर जातिपाँति वर्णाश्रम मिटाकर सबको एक करके वेद दर्शन, एवं धर्मशास्त्र सबको ठुकराकर, एक ऐसे विचित्र ढंग का राष्ट्र बनाना चाहते हैं, जो न हिन्दू होगा, न मुसलमान, न अंग्रेज ही।

अंग्रेजों ने अनादि अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों का अप्रामाण्य सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। वेदों को पौरुषेय ही नहीं बल्कि भेड़, गाय चरानेवालों के गीत बताया है। धर्मशास्त्रों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि को भी अप्रमाण बताया है। उन्हीं

लोगों की कूटनीति का प्रभाव है कि आप ऋषियों मुनियों एवं धर्म संस्कृति का नाम लेते हुए भी मूल शास्त्रों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि हम किसी पुस्तक या ग्रन्थ के पूजक नहीं हैं। कभी कहते हैं कि हम ग्रंथों की प्रमाणता को न स्वीकार करते हैं, न इनकार करते हैं।

यदि धर्म संस्कृति एवं राष्ट्र के गौरव के मूल हमारे वेद, धर्मशास्त्र, दर्शन, राजनीति आदि पर आस्था नहीं रहेगी, तो धर्म संस्कृति की दुहायी देते रहने का कुछ भी अर्थ नहीं रह जायगा। जिसका कोई आधारभूत प्रामाणिक प्रकाश सम्भव नहीं होता, वह यों ही भटकता है। कभी रूस या चीन का अंधानुकरण करता, कभी इंगलैंड या अमेरिका का, कभी अंताराष्ट्रियता का, कभी राष्ट्रियता का नारा लगाता है।

आप अनेक बार हिंदुत्व का गौरव गान करते हैं : "स्वातंत्र्य भावना तो उनके (हिन्दुओं के) रक्त में समाविष्ट है" (पृ० १४३), पर जब आप मानते हैं कि हममें हूण, शक, तातार आदि अनेक जातियाँ मिल गयीं और अभी भी आप अंग्रेजों और मुसलमानों को अपने में विलीन कर लेने का प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी आप हिंदुत्व की बात करते हैं। क्या जिसमें विभिन्न जातियों के रक्त मिल गए हों, वह भी शुद्ध रक्त है। जिनके लिए आप कहते हैं कि हम मंदिर में पूजा करते हैं, तो वह उसे अपवित्र करेगा, यदि हम भजन करते हैं, भगवान की रथयात्रा निकालते हैं, तो वह इससे रुष्ट होगा। यदि हम गो पूजते हैं, तो वह उसे खाना पसन्द करेगा, यदि हम स्त्री को मातृत्व के प्रतीक रूप में सम्मानित करते हैं, तो वह उस पर बलात्कार करेगा। वह हमारी जीवन-पद्धति के धार्मिक, सांस्कृतिक सभी पक्षों का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ विरोध करेगा (वि० न० पृ० १४४)। आपकी दृष्टि में उन्हीं मुसलमानों से कहना चाहिए था कि हमारा आपका रक्त एक ही है। मुगल, तुर्क तथा अन्य विदेशी जातियों ने आपको तलवार की नोंक से इस्लाम में धर्मान्तरित कर लिया है—अलगाव की स्मृतियों को भूल जाओ, आओ हम सब मातृभूमि एवं स्वतंत्रता और सम्मान के लिए लड़ें (वि० न०१४५)। आप समझते हैं कि शास्त्रहीन निराधार हिन्दुत्व-के छूमन्त्र से वे सब शुद्ध धर्मात्मा हो जाएंगे, और शुद्ध ब्राह्मणादि हिन्दुओं के साथ, खान-पान, विवाह के योग्य हो जाएँगे। क्या इससे बढ़कर दुराशा का कोई उदाहरण मिल सकता है ? जिसे अपने से प्रकृत्या अत्यंत विरोधी समझते हैं उसका ही अपने में पूर्ण विलय हो जायगा, यह सम्भव समझते हैं। जब तक वे आपसे पृथक् रहें तब तक शृगाल और खराब तथा आपसे मिलते ही वे अच्छे सिद्ध हो जायेंगे ?

धर्म और संस्कृति

धर्म तथा संस्कृति के सम्बन्ध में श्री गोलवलकर जी का "हमारी राष्ट्रीयता" में कहना है कि जहाँ 'वह जनता का प्राण है, जहाँ वह व्यक्ति एवं समाज के सारे कर्मों का समान रूप से नियंत्रण करता है, वहाँ धर्म और संस्कृति का विवेचन कठिन है।' परन्तु वे धर्म की स्पष्ट परिभाषा नहीं बतलाते। संस्कृति के सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'युगों से चले आये आचार, परम्पराएँ, ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाएँ एवं धार्मिक विश्वास और तदनुगामी दर्शन का सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ता हुआ प्रभाव संस्कृति होती है। एक विचित्र जातिभावना का (जिसकी व्याख्या करनी कठिन है) सृजन करते हुए यह मुख्यतया उसी धर्म तथा दर्शन का स्पष्ट फल होती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस जाति की चेतना पर अपनी विशेष मुद्रा अंकित करते हुए सामाजिक जीवन का नियंत्रण करती है।' परन्तु वे यूरोपीय धर्म को ऐसा नहीं मानते। अतएव वहाँ धर्म से भिन्न ही संस्कृति है। उनका कथन है कि 'यूरोप में ईसाई-धर्म सबका समान होने पर भी विशेष संस्कृति जातीय भावना का विकास करती है। प्रत्येक जाति उस विभिन्न आकृति पर अभिमान करती है और अत्यंत उद्योग से उसकी रक्षा करती है। इस तरह धर्म जहाँ विभेदकारी नहीं होता, वहाँ संस्कृति ही राष्ट्रभावना के अन्य आवश्यक तत्त्वों के साथ विशिष्ट राष्ट्रीयता के निर्माण में एक निर्णायक वस्तु बन जाती है' (पृ० ३८–३९)। इन बातों से श्री गोलवलकर जी के धर्म और संस्कृति संबंधी भावों पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः जब तक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा निश्चित आगम या शास्त्र के प्रामाण्य का विचार न हो, तब तक धर्म एवं संस्कृति संबंधी सभी कल्पनाएं निराधार ही रहती हैं। कितने ही अंधविश्वास, अंधपरम्पराएं तथा रूढ़ियाँ हैं, जिनका परित्याग करना अभीष्ट समझा जा रहा है। फिर केवल परम्पराओं एवं विश्वासों के आधार पर धर्म या संस्कृति का निर्णय किस तरह किया जा सकता है? इतिहास भी सब ग्राह्य नहीं होते क्योंकि इतिहास तो सम्पत्ति-विपत्ति, पुण्य-पाप सभी तरह का होता है। किसी भी समाज में भली-बुरी सभी तरह की घटनाएं घटती हैं। उनमें से न सभी उपादेय होती हैं, न सभी त्याज्य ही।

संस्कृति की परिभाषा में 'युगों से चले आये आचारों, परम्पराओं, ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाओं एवं धार्मिक विश्वास तथा तदनुगामी दर्शन के सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ते हुए प्रभाव को 'संस्कृति' कहा गया है। एतावता 'सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ता हुआ प्रभाव स्वतंत्र रूप से संस्कृति है। 'परम्परा प्राप्त आचार' स्वतंत्र रूप से संस्कृति है, 'परम्पराएं तथा ऐतिहासिक एवं अन्य अवस्थाएं स्वतंत्र रूप से संस्कृति हैं। यहाँ 'युगों से चले आये आचारों' से भिन्न 'परम्पराएं' क्या हैं?

एवं 'ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाएँ' क्या हैं ? इन सबका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। साथ ही यह सब 'संस्कृति' शब्द का अर्थ क्यों है, इस सम्बन्ध में भी किसी भी प्रकार के प्रमाण का उपन्यास नहीं किया गया है, जिससे सभी बातें निराधार एवं अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती हैं।

यद्यपि उक्त पुस्तक में अनेक स्थानों में वेद, रामायण, महाभारत तथा ऋषियों का नाम आदर से लिया गया है, तथापि तदनुसार आचार-विचार, वर्णाश्रम-व्यवस्था का 'संघ' में कोई आदर नहीं है। 'सन्ध्या' तक में प्रवृत्ति नहीं है। बल्कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरुद्ध शूद्र-अन्त्यजों का स्पृष्ट भोजन-पान आदि तो 'संघ' में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं आदृत है।

श्री गोलवलकर जी जो लिखते हैं कि 'हिन्दुस्थान में तो धर्म एक सर्वव्यापी सत्ता है, यह जीवन के सुदृढ़ दर्शन की अटल नींव पर स्थित है। अतएव जाति के जीवन में अनन्तकाल से एकाकार हो गया है।' परन्तु यह क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। इतना ही नहीं, आप लिखते हैं कि 'जीवन का प्रत्येक कर्म, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा जातिगत अथवा राजनीतिक हो, सब धार्मिक आदेश होता है।' यदि युद्ध करना या शांति स्थापित करना, कला या उद्योग, धनसंग्रह या दान, मरना-जीना सब कुछ जिसके आदेश पर होता है, तो वह फिर अज्ञात क्यों ? क्या उस धर्म का स्वरूप सब लोग जानते हैं और सबका जीवन-मरण धर्मानुसार ही है ? यदि हाँ, तो यह भीषण पतन क्यों ?

इतना ही नहीं, वे यह भी लिखते हैं कि "स्वभावत: हम वही बन गये, जो हमारे धर्म ने हमें बनाया।" क्या सचमुच हम जैसे बने हैं, धर्म ने ही वैसा बनाया है ? यह धर्म का गोरखधन्धा विचित्र है। आगे उनका कहना है कि "हमारी जातीय भावना, हमारे धर्म की सन्तान और इस प्रकार हमारी संस्कृति, हमारे सर्वव्यापी धर्म की प्रसूति एवं उसके कलेवर का एक अविभेद्य अंगमात्र है।" बिना प्रमाण के मन-माना कुछ लिखना, कहना, आजकल का एक फैशन सा हो गया है, इसीलिए निरा-धार कार्य-कारणभाव, जन्य जनकभाव की भी कल्पना होती है। ऐसी असम्बद्ध बातों पर क्या विचार किया जाय ?

यद्यपि 'धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, उसका राजनीतिक जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए' इस पक्ष का हम भी खण्डन करते हैं। परन्तु वस्तुत: धर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तो व्यक्तिगत रूप से मान्य है। अतएव देश, काल, नाम, गोत्रादि के उच्चा-रणपूर्वक ही धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान होता है। कहा जाता है कि "साररूप में धर्म तो समाज के सारे कर्मों का उचित रूप से परिचालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के लिए अवकाश रखता है तथा प्रत्येक प्रकार के मानसिक ढाँचे ग्रहण करने के लिए उचित

मार्ग प्रदान करता है। साथ ही जो सम्पूर्ण समाज को सदाचार के द्वारा भौतिक से आध्यात्मिक स्तर पर उठाकर पहुँचा देता है।" जान• पड़ता है, श्री गोलवलकर जी का यह धर्म वर्णाश्रमानुसारी श्रुति-स्मृतिबोधित धर्म से विलक्षण ही है। वस्तुतः व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है। अतः व्यक्ति के उत्थान से समाज का उत्थान होना सम्भव होता है। व्यक्तिगत रूप से ही अनुष्ठित धर्म व्यक्ति का उत्थान करता है। यदि व्यक्तियों के समुदाय ने अनुष्ठान किया, तो समाज का भी उत्थान होता है। समाज में भी ब्राह्मणादि जातियों को ही उद्दिष्ट करके वे धर्म विहित हैं, अविशेषेण धर्म का विधान नहीं है। सामान्य धर्म अवश्य मनुष्यमात्र के लिए विहित हैं।

उनका यह भी कहना है कि "जिस प्रकार अनेक मस्तिष्क होते हैं, उसी प्रकार अनेक मार्ग भी होते हैं। यही धर्म का आध्यात्मिक नियम है। यह सांसारिक अथवा भौतिक स्तर में भी प्रत्येक मनुष्य की मनुष्यता के पूर्ण आकारपर्यन्त विकसित होने के लिए अवसर प्रदान करने की क्षमता रखता है। साथ ही उस उच्चतम आध्यात्मिक जीवन तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति के पथप्रदर्शन एवं नेतृत्व के लिए अपने कार्य में क्षणभर के लिए विरत नहीं होता है। ऐसा धर्म उपेक्षित नहीं हो सकता है।" वस्तुतः शास्त्रों की दृष्टि से कर्म ही धर्म है। धर्म संस्कार द्वारा, फल द्वारा भले ही प्रेरक हो, स्वयं तो वह अनुष्ठेय है। धर्म की उपर्युक्त व्याख्या इस तरह निश्चित धर्म के संबंध में दूर से सुननेवाले ही करते हैं। व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है, यह पहले कहा जा चुका है। उसी के लिए राजनीति होती है। व्यक्तियों एवं समाज के लाभार्थ ही धर्म है और राजनीति भी है। अतः जो धर्म व्यक्तियों एवं समुदाय को अपेक्षित है, उस धर्म की विरोधिनी नीति कभी भी आदरणीय नहीं हो सकती। बल्कि धर्म का ही नियंत्रण राजनीति पर होता है।

श्री गोलवलकर जी का कहना है कि "राजनीति भी धर्म का एक छोटा-सा अंश-मात्र है—हम अपने राष्ट्रीय जीवन में धर्म को नहीं छोड़ सकते हैं।" आश्चर्य है कि श्री गोलवलकर जी वेद एवं रामायण तथा महाभारत का नाम भी लेते हैं, धर्म का भी महत्व वर्णन करते हैं परन्तु फिर भी 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध क्रियाओं के प्रति उन्हें कोई आदर नहीं। प्रत्युत उसके विपरीत ही चेष्टा का प्रचार उनके यहाँ चलता है। शास्त्रानुसार उपनयनादि संस्कारों, शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियमों की उपेक्षा, खान-पान विवाहादि में शास्त्रीय व्यवस्थाओं की उपेक्षा भी स्पष्ट लक्षित होती है। वस्तुतः आजकल के लोग धर्म को बहुत दुरूह बतलाकर 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध क्रियाओं की ओर दुर्लक्ष्य करना चाहते हैं। वे कहा करते हैं कि 'खाने-पीने, विवाह-शादी से धर्म का क्या सम्बन्ध ? धर्म कोई कच्चा धागा नहीं, जो खान-पान से टूटकर नष्ट हो जाय।' बस, इसी दृष्टि से धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करते हुए भी भंगी, चमार

सबकी रोटी खाने में संघी लोग धर्म की हानि नहीं समझते। होटल की बनी चाय, बिस्कुट पीना-खाना, संसार भर के जूठे चीनी-मिट्टी के बर्तनों में खाना अनुचित नहीं समझते। संध्या, सूर्यार्घ्यदान, वैश्वदेव, श्राद्ध, तर्पण, अग्निहोत्रादि तथा शास्त्रोक्त आचारों की उपेक्षा करते हैं।

शास्त्रों में धर्म का लक्षण करते हुए बतलाया गया है कि जिससे ऐहिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन हो और जो समाज का, व्यक्तियों का धारण-पोषण करे, वह धर्म है—**'यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'** (वै० सू० १।१।२)। इस प्रकार यद्यपि धर्म का तटस्थ-लक्षण पूरा हो जाता है, तथापि जब तक स्वरूप-लक्षण प्रतिपादित नहीं होता, तबतक धर्म के सम्बन्ध में संदेह बना ही रहता है कि **'वे अभ्युदय-निःश्रेयस किससे मिलते हैं ?'** इस प्रश्न के समाधान के ही लिए महर्षि जैमिनि ने बतलाया कि 'प्रवर्तक-निवर्तक वेदवाक्यों द्वारा लक्षित अर्थ ही धर्म एवं अधर्म है।' **"चोदनालक्षणोर्थोधर्मः।"** (पू०मी० १।१।२)। अतएव शास्त्रगम्य कर्म ही वस्तुतः धर्म है एवं शास्त्रनिषिद्ध कर्म ही अधर्म है।

श्री गोलवलकर जी यह भी कहते हैं कि 'यूरोप में एकही धर्म है। प्रकृत्या धर्म वहाँ विभेदकारी जातीयता का निर्माण नहीं करता। इसी कारण वहाँ राष्ट्रों में कलह, युद्ध एवं शांति के किसी कार्य में धार्मिक उत्साह कोई प्रेरणा नहीं करता। इन्हीं परिस्थितियों में जाति, संस्कृति और संभवतः भाषा की विभिन्नता होने के कारण राष्ट्रिय भेदभाव उत्पन्न होते हैं। यह कथन भी आंशिक ही सत्य है, क्योंकि हिन्दूधर्म में भी ईश्वर की आराधना और पूजा को मुख्य धर्म माना गया है—

'स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।' (श्री० भा० १।२।६)

'यज्ञयाचार दमा हिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयन्तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥' (या० स्मृ० १।८)

यज्ञ आचार दम अहिंसा स्वाध्यायादि कर्मों में यह परमधर्म है जो कि योग (चित्तवृत्ति निरोध) द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करता है। मुसलिम-धर्म तथा ईसाई-धर्म में धर्म के नाम पर जो संघटन है, वह हिन्दूधर्म में परिलक्षित नहीं होता। ईसाई तथा मुसलमानों में अपने धर्मग्रन्थ एवं धर्म में जो दृढ़ता है, वह आज गोलवलकर जी के अनुयायियों में नहीं। स्वयं श्री गोलवलकर जी किसी भी एक ग्रन्थ को सांगोपांग मानने को तैयार नहीं। वे तो शास्त्रोक्त धर्मों को 'दकियानूसी' कहने का भी साहस करते हैं। शास्त्रोक्त मन्दिर-मर्यादा को नष्ट करने पर तुले ही रहते हैं। समाजवादियों की तरह संघी भी मन्दिरों में भंगियों को घुसाकर मन्दिर-मर्यादा नष्ट करना चाहते हैं।

'रूस का समाजवाद भी धर्म है' यह श्री गोलवलकरजी का नया 'इलहाम' मालूम पड़ता है। जो प्रत्यक्ष ही धर्मविरोधी हैं, उनके मत्थे भी उनके यथेष्टाचार को

ही 'धर्म कहकर-लादना कहाँ तक उचित है ? वह धर्म तो वैसा ही है, जैसा कि 'भट्टिकाव्य' में किसी राक्षस का कथन है कि 'ब्राह्मणों, गौओं आदि को मारना, यज्ञविध्वंस करना हमारा धर्म है'।

'अद्‌भोद्विजान् देवयजीन्निहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतपुराधिवासम्।
धर्मोह्ययं दाशरथे निजानो नैवाध्यकारिष्म हि वेदवृक्षे ॥'

(भट्टिकाव्ये–२।३४)

मारीच से भगवान् राम ने कहा कि—तुम मनुष्यों का मांस खाते हो और वनस्पतियों के फलों पर जीवित रहनेवाले मुनियों को मारते हो। तुम्हें क्या इन अश्वस्तनिकवृत्तिवाले मुनियों पर दया नहीं आती ? तब मारीच ने कहा था कि हमलोग ब्राह्मणों को खाते हैं, देवपूजकों को मारते हैं, पुर ग्रामादि को श्मशान बनाते हैं। दाशरथे, यह हम राक्षसों का धर्म है। हम लोग वेदोक्त धर्म के अधिकारी नहीं हैं।

फिर भगवान् राम ने उत्तर दिया :—

'धर्मोऽस्ति सत्यं तव राक्षसायमन्योऽव्यतिस्ते तु ममापिधर्मः।
ब्रह्मद्विषस्ते प्रणिहन्मि येन राजन्यवृत्ति धृतकार्मुकेषुः ॥'

(भट्टिकाव्ये–२।३५)

हे राक्षस ! पूर्वोक्त ब्राह्मण घातादि तुम्हारा धर्म है, यह ठीक है परंतु इसके विपरीत हमारा भी यह धर्म है कि जिससे तुम जैसे ब्रह्मघातियों का हम बध करें। इसीलिए क्षत्रिय वृत्ति के अनुसार हमलोग धनुष-बाण धारण करते हैं।

श्री गोलवलकर जी का कहना है कि 'यूरोप में राजनीतिक परिवर्तनों से धार्मिक स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जड़वादी, भौतिकवादी, मार्क्सवादी राजनीति से अवश्य ही धार्मिक भावनाओं का बाध होता है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि न रहने से यज्ञ, दान, तप आदि सभी धर्मों पर प्रत्यक्ष आक्रमण होता है। शास्त्र भी दण्डनीति में गड़बड़ी होने से त्रयी (वेद) एवं त्रयीप्रोक्त धर्म का सर्वथा संकट में पड़ जाना बतलाते हैं—

'मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।' (म० भा० शा० प० ६३।२८)

संस्कृति-समीक्षा

स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसके प्रचार की चर्चा चल पड़ी, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, वास्तव में किसी देश या राष्ट्र का प्राण उसकी संस्कृति ही है, क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं, तो संसार में उसका व्यक्तित्व ही क्या ? परन्तु संस्कृति का क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है, यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कलचर' का अनुवाद

संस्कृति किया जाता है। परंतु 'संस्कृति' संस्कृत भाषा का शब्द है, अतः संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही इसका अर्थ होना चाहिए। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' प्रत्यय होने से 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

'संस्कार' या 'संस्करण' का भी संस्कृति से मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं—'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। किसी दर्पण पर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन संस्कार' है। तेल, रंग द्वारा हस्ती के मस्तक या काष्ठ की किसी वस्तु को चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान संस्कार' है। नैयायिकों की दृष्टि से वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये ही त्रिविध संस्कार हैं। अनुभवजन्य, स्मृति का हेतु 'भावना' है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादि में बार-बार अभ्यास करने से उत्पन्न कौशल को अतिशयता ही भावना मानी गयी है–'**तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयो भ्यासेन वासना। कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा॥**' स्वाश्रय की प्रागुद्भूत अवस्था के समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है—'**स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादको अतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।**' योगियों की दृष्टि में न केवल मानस संकल्प, विचार आदि से ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि की सभी हलचलों, चेष्टाओं, और व्यापारों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव 'कर्म-संस्कार' या 'कर्मवासना' शब्द से उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टि से सम्यक्-असम्यक् सभी प्रकार के कर्मों से संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारों का प्रभाव

संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिए उत्तम और निकृष्ट संस्कार इस रूप से संस्कारों में उत्कृष्टता या निकृष्टता का भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए, यह भी शास्त्र का आदेश है—'**यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति स ब्राह्मणः, सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति।**" यहाँ 'सम्' की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही 'संस्कृति' कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारों का पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधान में होता है। कुछ कर्मों द्वारा पाप, अज्ञानादि का अपनयन और कुछ द्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयता का आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकों के यहाँ यह सब आत्मा में होता है, पर वेदान्त की दृष्टि से अन्तःकरण में। आत्मा तो सर्वथा असंग ही रहता है। मोटे तौर पर कह सकते हैं

कि जैसे खान से निकले हुए हीरक एवं मणि आदि में संस्कार द्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे हो अविद्या-तत्कार्यात्मिक प्रपंचमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है। तथा च आत्मा को प्रकृत निम्नस्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरों से सम्बद्ध करने या प्रकृति को सभो स्तरों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द-साम्राज्य-सिंहासन पर समासीन करने में आत्मा का संस्कार है। ऐसे संस्कारों के उपयुक्त कृतियाँ ही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही 'धर्म' शब्द से व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नतर सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियों की विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियों में प्रायः संघर्ष भी चलता है। कहीं तो संस्कृतियों की खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति का विनाश कर देती है। संस्कृति का भूमि के साथ सम्बन्ध होने से ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देश के जलवायु का प्रभाव वहाँ के निवासियों के आचार-विचार, वेष-भूषा, भाषा-साहित्य आदि पर पड़ता ही हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इसी प्रभाव को प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'किसी राष्ट्र के किसी असाधारण बड़प्पन के गर्व को ही संस्कृति कहना चाहिए। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड के लोगों को सबसे बड़ा गर्व अपनो पार्लमिण्टरी शासनप्रणाली के आविष्कार के लिए है। अमरीका को गर्व है कि उसने संसार में स्वतंत्रता की पताका फहरायी और दो महायुद्धों में उसने विश्व को स्वतंत्रता का वरदान दिया। हिटलर ने जर्मनी में आर्यत्व के विशुद्ध रुधिर का गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी यह विशेषता ही उनको संस्कृति का आधार है।' किसी अंश में ये सब भाव ठीक हैं, परन्तु संस्कृति को ऐसी परिभाषाएँ अन्धों द्वारा हाथी के वर्णन जैसी हैं।

संस्कृति का आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना 'संस्कृति' क्या है, यह समझ में नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृति का आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियों के धर्म-ग्रन्थों द्वारा हो बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओं की भूषणता-दूषणता, सभ्यता या असभ्यता का निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकता है? अतः ईसाई-संस्कृति का आधार उनकी पवित्र

'बाइबिल' और मुसलिम संस्कृति का आधार 'कुरानशरीफ' है। इसी तरह हिन्दू-संस्कृति के आधार वेदादि-शास्त्र हैं।

भारतीय संस्कृति

अब प्रश्न होता है कि भारतीय संस्कृति क्या है? इसमें संदेह नहीं कि भारत में कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिन्दुओं का देश है, अतः उन्हीं की 'संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि-शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक उन्नति का वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही 'भारतीय संस्कृति' है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अंगों पर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तों की ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। संसार के प्रायः सभी देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की कितनी ही बातें विकृत रूप में पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, किसी न किसी रूप में वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशों के प्राचीन ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि की भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापक रूप में फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिन्दू-संस्कृति से है। एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिन्दू-संस्कृति है। भारत की भूमि से भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पन के गर्व की बात कही जाती है, उसका भी अनुभव इसी संस्कृति में होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यही मानना पड़ता है कि हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवाद का अवसर ही नहीं रहता, क्योंकि हिन्दू-संस्कृति की सीमा हिन्दू धर्मशास्त्रों में निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धांतों और उसके विकसित रूप का संपूर्ण चित्र मिल सकता है।

खिचड़ी संस्कृति

आजकल के कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के मिश्रित रूप को ही 'भारतीय संस्कृति' मानते हैं। इसी को 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' का भी नाम दिया जाता है। किन्तु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। इसका न कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति के किसी अंग पर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभी में यह दिखलाया जा सकता है। देश के नेताओं ने "इण्डियन यूनियन" (भारत संघ) को 'सेक्युलर स्टेट' (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित कर दिया है। अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि 'सबकी

'बाइबिल' और मुसलिम संस्कृति का आधार 'कुरानशरीफ' है। इसी तरह हिन्दू-संस्कृति के आधार वेदादि-शास्त्र हैं।

भारतीय संस्कृति

अब प्रश्न होता है कि भारतीय संस्कृति क्या है ? इसमें संदेह नहीं कि भारत में कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिन्दुओं का देश है, अतः उन्हीं की 'संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूलस्रोत वेदादि-शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक उन्नति का वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही 'भारतीय संस्कृति' है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अंगों पर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तों की ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। संसार के प्रायः सभी देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की कितनी ही बातें विकृत रूप में पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, किसी न किसी रूप में वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशों के प्राचीन ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि की भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापक रूप में फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं, यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिन्दू-संस्कृति से है। एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिन्दू-संस्कृति है। भारत की भूमि से भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पन के गर्व की बात कही जाती है, उसका भी अनुभव इसी संस्कृति में होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यही मानना पड़ता है कि हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवाद का अवसर ही नहीं रहता, क्योंकि हिन्दू-संस्कृति की सीमा हिन्दू धर्मशास्त्रों में निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धांतों और उसके विकसित रूप का संपूर्ण चित्र मिल सकता है।

खिचड़ी संस्कृति

आजकल के कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के मिश्रित रूप को ही 'भारतीय संस्कृति' मानते हैं। इसी को 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' का भी नाम दिया जाता है। किन्तु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। इसका न कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति के किसी अंग पर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभी में यह दिखलाया जा सकता है। देश के नेताओं ने "इण्डियन यूनियन" (भारत संघ) को 'सेक्युलर स्टेट' (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित कर दिया है। अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि 'सबकी

संस्कृति की रक्षा की जायगी, किसी संस्कृति पर हस्तक्षेप न किया जायगा।' कई नेताओं ने यह भी कहा है कि 'रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरों द्वारा जैसे माला की शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियों का यदि एक सूत्र में संगठन हो, तो उससे राष्ट्र की शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंग बिगड़ने की अपेक्षा नहीं।' ऐसी स्थिति में संस्कृति की खिचड़ी कहाँ तक ठीक है? हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-धर्म, वेदादिशास्त्र, मन्दिर और रामकृष्ण आदि समझ में आ सकते हैं। उसी तरह कुरान, मसजिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझ में आ सकती है। परन्तु इन दोनों को बिगाड़कर वेद-पुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर-मस्जिद, अल्लाह-राम आदि को मिलाकर हिन्दुस्तानी संस्कृति, हिन्दुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझ में नहीं आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा, परन्तु रमखुदैया खतरे से खाली नहीं। दीनदार,ईमानदार हिन्दू या मुसलमान दोनों ही ठीक, बे-दीन, बे-ईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूलधर्मों, संस्कृतियों एवं मूलशास्त्रों पर विश्वास न रहेगा, तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारों पर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

एक संस्कृति

कुछ दिनों से 'एक संस्कृति का नारा लगाया जा रहा है। यहाँ भी वही प्रश्न होता है कि **'कौन संस्कृति, हिन्दुस्तानी खिचड़ी या विशुद्ध हिन्दू-संस्कृति?'** तथाकथित हिन्दुस्तानी संस्कृति में क्या सर्वसाधारण हिन्दू या मुसलमान को कभी पूरी श्रद्धा हो सकती है? तब फिर यदि एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति ही मानी जाय, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि मुसलमान उसे स्वीकार कर लेंगे? कुछ लोग कहते हैं कि "मुसलमान कलमा-कुरान और मसजिद का आदर और अपनी भाषा, वेश-भूषा रखते हुए भी भारतीय संस्कृति के रूप में हिन्दू-संस्कृति का पालन कर सकते हैं।" फिर आचार-विचार, रहन-सहन, इतिहास, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि से भिन्न संस्कृति कौन सी वस्तु होगी, जिसे मानकर मुसलमान उस पर गर्व करेगा? कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि 'एक संस्कृति हिन्दूसंस्कृति ही है, वही सबको माननी पड़ेगी। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें भारत छोड़ना होगा।' किन्तु ऐसा कहना सरकार द्वारा घोषित सेक्युलर (धर्मनिरपेक्ष) नीति के ही विरुद्ध नहीं, हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त के भी विपरीत है। हिन्दू-धर्म तो प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्मानुसार चलने की स्वतन्त्रता देता है। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** उसका सिद्धान्त है। अतः उसे कभी भी अभीष्ट नहीं कि येन-केन प्रकारेण सभी हिन्दू बना लिये जायँ। हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, इस दृष्टि से एक संस्कृति का नारा ठीक है, पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि देश में अल्पसंख्यकों की संस्कृतियों का

संरक्षण न हो। यह भारत की ही विशेषता है कि वह भिन्नता में भी एकता देखता है। एक सूत्र में गुँथी हुई मणियों की माला का उदाहरण भी इसी में घटता है।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था

संस्कृति के प्रसंग में ही कर्मणा वर्ण-व्यवस्था की बात उठती है। सोचा यह जाता है कि 'कर्मणा वर्णव्यवस्था मान लेने से अन्य धर्मावलंबियों को हिन्दू समाज में लाने की सुविधा होगी। मौलवी, मुल्ला, अध्यापक आदि बुद्धिजीवी ब्राह्मण बन जायँगे। सैनिक आदि बलजीवी क्षत्रिय, व्यापारी, वैश्य और सेवापरायण शूद्रकोटि में आ जायेंगे। बहुतों को इसका प्रलोभन रहेगा।' यद्यपि यह ठीक है कि भारत में वैदिकों का बाहुल्य होने से वैदिक संस्कृति ही 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रंथों के अनुसार आचार-विचार, उपासना, कर्म आदि का हिन्दू-संस्कृति में समावेश है। उन धर्मों का पालन करनेवाला कोई भी हिन्दू कहला सकता है। तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णव्यवस्था जन्मना ही है। वर्णों का कर्मणा उत्कर्ष अवश्य होता है, जैसे बीज और क्षेत्र दोनों ही अंकुर के कारण होते हैं, वैसे ही जन्म और कर्म दोनों वर्ण के मूल हैं। प्राक्तन गुण-कर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुण कर्म से उसका उत्कर्ष होता है। गुण-कर्मविहीन अधम और गुण कर्मयुक्त उत्तम ब्राह्मणादि होते हैं। जन्म-प्राप्ति में भी प्राक्तन कर्म अपेक्षित होते हैं। जैसे जन्म एवं शौर्य, क्रौर्य आदि गुण-कर्म से युक्त मुख्य सिंह होता है और गुण-कर्म के बिना जन्ममात्र से जाति सिंह। जन्म के बिना गुण कर्ममात्र से मनुष्य को भी शौर्यादि गुण कर्म से सिंह कहा जाता है, पर वह गौण प्रयोग है। उसी तरह जन्म और कर्म से मुख्य ब्राह्मणादि, गुण-कर्म के बिना केवल जन्म से जाति-ब्राह्मणादि, जन्म के बिना गुण-कर्मादि से गौर ब्राह्मणादि का व्यवहार होता है। जैसे माता, भगिनी आदि को उद्दिष्ट करके उनके कर्त्तव्यों का शास्त्रों में उपदेश है, वैसे ही ब्राह्मणादि को उद्दिष्ट करके उनके कर्त्तव्यों का। इसी तरह व्यवस्था भी रह सकती है। अन्यथा पत्नी का कर्म करने से दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जायगी। इसीलिए 'ब्राह्मणो यजेत' आदि विधान है, **यः ब्राह्मणोभवितुमिच्छेत्स यजेत**' या '**यो यजेत स ब्राह्मणः**' ऐसा विधान नहीं है। '**पत्नी एवं कुर्यात्**' यही विधान है, '**या एवं कुर्यात् सा पत्नी**' ऐसा विधान नहीं है। कर्मणा वर्णव्यवस्था मानने पर दिन भर में ही अनेक बार वर्ण बदलते रहेंगे, फिर व्यवस्था क्या होगी? अतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, भोजन, विवाहादि सभी सांस्कृतिक कर्म जन्मना ब्राह्मणादि के आपस में ही हो सकते हैं। जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा मुसलमान ब्राह्मण आदि में भोजन, विवाहादि सम्बन्ध तथा जन्मना वर्णों से भिन्न लोगों का उपनयन, अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकार सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है।

सामान्य रूप से नित्य, अनेक समवेत धर्म 'जाति' पद से व्यपदेश्य होता है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत, नित्य गोत्वधर्म जाति है। यह धर्म ही अपने धर्मों का सजातीय, विजातीय से व्यावर्त्तन भी कर देता है। गोत्व धर्म विजातीय घटादि और सजातीय अश्व-महिषादि से गौ को व्यावर्तित कर देता है। बहुधा आकृतिभेद से जातिभेद की मान्यता चलती है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से आकृतिभेद न रहने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों में जातिभेद मान्य होता है। यहाँ तक कि पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से जाति अर्थ में ही 'ब्राह्मण' शब्द सिद्ध होता है, अजाति में तो 'ब्राह्म' शब्द बनता है—'ब्राह्मोऽजातौ'। 'ब्राह्मणी' आदि में 'ङीष्' प्रत्यय भी 'जाति' अर्थ में ही होता है :—

'आकृतिग्रहणा जातिः लिंगानांच न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥'

आकृति अर्थात् अनुगत संस्थानविशेष से जाति की व्यंजना होती है। यहाँ आकृति को उपदेश का उपलक्षण माना गया है। तथाच ईदृश आकारवाली वस्तु गौ है, इस प्रकार के उपदेश से गोत्वजाति का परिज्ञान होता है। 'अयं ब्राह्मणः' इस प्रकार के प्रत्यक्ष उपदेश से ब्राह्मण आदि जाति का परिज्ञान होता है। इसी अंश की व्याख्या शेष कारिका में की गयी है। जो असर्वलिंगभागी हो और एक बार के उपदेश से अनुगतरूपेण ग्राह्य हो, वही जाति है। **'असर्वलिंगभागित्वे सति सकृदुपदेश ग्राह्यत्वम्'** ही जाति है। 'ब्राह्मणः', 'वृषलः' आदि शब्द पुल्लिग, स्त्रीलिंग वाले होने पर भी नपुंसकलिंगवाले नहीं हैं, अतः असर्वलिंगभागी हैं। साथ ही **'अयं ब्राह्मणः'** इस उपदेश से उसके पितृ-पितामहादि में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है। **'अयं वृषलः'** ऐसे उपदेश से वृषल के पुत्र, पौत्र, सहोदरादि में वृषलत्व का ज्ञान हो जाता है। अतः इनमें अनुगत-संस्थान आकृति अनुपलब्ध होने पर भी जाति का व्यवहार होता है।

संस्थानव्यंग्य गोत्वादि जाति या उपदेशगम्य ब्राह्मणादि जाति जन्म से ही होती है। साथ ही जाति यावद्द्रव्यभावी, असर्वलिंगभागिनी तथा अनेकानुगत होती है। **'आविर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः। असर्वलिंगा बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः'** (महाभाष्य ४।१।६३)। जैसे गुण के बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जाति के बिना भी द्रव्य नहीं रहता। इसीलिए द्रव्य के रहते जैसे गुण का नाश नहीं होता, वैसे जाति का भी नाश नहीं होता। इसीलिए मृत हरिण-शरीर को भी हरिण ही कहा जाता है। क्षत्रियगुण-कर्मवाले द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदि को ब्राह्मण ही कहा गया और ब्राह्मणगुण-कर्मवाले युधिष्ठिरादि को भी क्षत्रिय ही

कहा गया है। ब्राह्मणगुण-कर्मानुसार अर्जुन संन्यास में प्रवृत्त होना चाहता था, परन्तु भगवान् ने उसे रोका और कहा कि 'यदि तुम धर्मयुक्त संग्राम में प्रवृत्त न होगे, तो अवश्य पाप के भागी होगे।' शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही जैसे शूकर, कूकर, देव, मनुष्यादि जन्म प्राप्त होते हैं, आकस्मिक नहीं हैं, वैसे ही शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही ब्राह्मणादि जन्म प्राप्त होते हैं। **'तद्य इह रमणीयाचरणास्ते ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा आपद्येरन्'** अर्थात् शुभाचारवाले प्राणी ब्राह्मणादि योनियों को प्राप्त होते हैं, अशुभाचारवाले चाण्डालादि और पश्वादि योनि प्राप्त होते हैं। कर्मों के अनुसार ही जैसे हरिण-हरिणी से हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ब्राह्मण उत्पन्न होता है। असवर्ण विवाह आदि से सांकर्यसृष्टि भी होती है। जन्मना जाति के आधार पर ही फिर जात्यनुसारी कर्म चलते हैं। इसीलिए ब्राह्मणकर्म, क्षत्रियकर्म, वैश्यकर्म, शूद्रकर्म, स्त्रीकर्म, पुरुषकर्म की व्यवस्था होती है। जन्ममूलक वर्णव्यवस्था होती है और वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्म-धर्म की व्यवस्था होती है। जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष यही व्यावहारिक स्थिति है। योनि, विद्या और तप ब्राह्मण्य का कारण होता है। विद्या, तप के बिना भी 'जाति-ब्राह्मण्य' होता है। योनि के बिना विद्या, तप से 'सिंहो माणवकः' के समान गौण ब्राह्मण आता है। सिंह-सिंही से जन्म एवं शौर्य न होने से जातिसिंहत्व का व्यवहार होता है। सिंह-सिंही से जन्म न होने पर शौर्यादिगुणयोग से भी गौण सिंहत्व का व्यवहार होता है।

'जन्मना प्राप्यते सा जातिः'—जाति मुख्यरूप से जन्मना ही होती है फिर भी कहीं-कहीं देश के नाम से जाति का व्यवहार होता है। परन्तु इसका कारण यह है कि देश के सम्बन्ध से जातिव्यंजक संस्थिति में विशेषता आती है। विभिन्न देशों के जल, वायु आदि के प्रभाव से रंग, रूप और बनावट में भेद पड़ता है। अमुक-अमुक जंगल के हाथियों और शेरों में भी इसी दृष्टि से भेद दिखाई देता है। अतः उन-उन देशों और जंगलों के नाम से उन-उन हाथियों एवं शेरों की जाति का व्यवहार होता है। इसी तरह घोड़ों, गायों में भी देशादि-भेद से कुछ उनकी बनावट, रचना आदि में अवान्तर भेद प्रतीत होता है। व्रीहि, गोधूमादि अन्नों और आम्रादि फलों पर भी देश का प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। काल का भी प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। अमुक महीने के व्रीहि की अमुक जाति, अमुक महीने के व्रीहि, आम्रादि की अमुक-अमुक जातियाँ होती हैं। इन सब बातों का प्रभाव मनुष्यों पर भी पड़ता है। इसीलिए चीनी, जापानी, बर्मी, इंग्लिश, अफ्रीकी मनुष्यों के भी रूप, रंग, बनावट का भेद उपलब्ध होता है। इसी संस्थानभेद से व्यंग्य होने के कारण इनमें जातिभेद की कल्पना होती है। इतना ही क्यों, भारत में भी नेपाली, मैथिल, पंजाबी, द्रविड़, उत्कल, मरहठे, मद्रासी मनुष्यों में भी बनावट का भेद उपलब्ध होता है। यावद्द्रव्य-

भावी होने के कारण देशादिजन्य विशेषताओं के कारण जातिभेद की कल्पना चल सकती है। परन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति संस्थान व्यंग्य नहीं है, वह साक्षात् उपदेशव्यंग्य होती है। यही कारण है कि भारत के विभिन्न भागों के मनुष्यों में बनावट का भेद होने पर भी ब्राह्मणत्वादि मैथिल, पंजाबी, बंगाली आदि सब में बराबर है। तन्मूलक धर्म भी समान ही है। इसी तरफ बनावट में एक से होने पर भी उनमें क्षत्रिय, ब्राह्मणादि भेद होता है, तन्मूलक धर्म में भी भेद होता है। देशादिकृत विशेषताएँ व्याप्य हैं, ब्राह्मणत्वादि उनकी अपेक्षा व्यापक है। शास्त्रों ने तो पशु, पक्षी, पाषाणादि में भी ब्राह्मणत्वादि भेद मान रखा है। उपदेशव्यंग्य जाति में भी विशेषताएँ हैं ही, किन्तु उनका स्वरूप सूक्ष्म है। संस्थान (बनावट) आदि के समान वे सर्वसाधारण-गम्य नहीं होतीं। जैसे आम्रत्व, निम्बत्व का भेद सर्वग्राह्य है, फिर भी आमों के अवान्तर भेद दुर्गम हैं। जिनमें बनावट का भेद है, उनका भेद ग्राह्य होने पर भी जहाँ बनावट का भेद नहीं है, वहाँ रस भेद से भेद ज्ञात होता है। कहीं रसभेद भी नहीं ज्ञात होता, किन्तु वीर्य-विपाकादि परिणामभेद से भेद विज्ञात होता है। इसी तरह विराट् पुरुष की मुख, बाहु, उरु, पाद की तत्तद्विशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न ब्राह्मणादि की विशेषताएँ भी प्रत्यक्षानुमानगम्य न होने पर भी आर्षज्ञानगम्य हैं। उनके रक्तादि में बाह्यभेद न होने पर भी तत्तच्छक्तिविशेष विशिष्टत्व का बोध परम्परा के उपदेश से गम्य है।

चीनी, जापानी, इंग्लिश आदि जातिभेद भी केवल निवास के आधार पर नहीं होते, अपितु परंपरा से निवासियों में वहाँ के जलवायु से प्रभावित होने पर रूप, रंग, बनावट में प्रभाव के कारण ही जाति व्यवहार होता है। इसीलिए दूसरे देश का निवासी कुछ दिनों से दूसरे देश में रहने भी लग जाय, तब भी उसकी जाति उस देश से व्यवहृत नहीं होती। अंग्रेज भारत में रहें या चीन में रहें, तब भी वे भारतीय या चीनी नहीं कहला सकते। इसी तरह यदि कोई हिन्द या भारत का परम्परा से निवासी हो, वहाँ के जलवायु का उसकी बनावट पर प्रभाव हो, तभी वह हिन्दी या भारतीय कहा जा सकेगा। आजकल की नागरिकता की कथा इससे सर्वथा भिन्न है। वह तो सरकारों की मान्यता के ऊपर निर्भर होती है, उसमें किसी प्राकृतिक भेद की बात नहीं होती।

प्राकृतिक आधार पर जो भेद होते हैं, वे मान्यता या विश्वास पर आधृत नहीं होते। जो चीन का परम्परया निवासी है और वहाँ के जल, वायु से जिसकी रचना, रूप, रंग, बनावट प्रभावित है, वह चीनी है, चाहे वह बौद्ध हो, मुसलमान हो, चाहे हिन्दू हो। वह चाहे चीन की भूमि को पितृभूमि, पुण्यभूमि मानता हो या चाहे देश-द्रोही हो, सर्वथा चीनी ही कहलाएगा। इसी तरह यदि कोई परम्परा से भारत-निवासी एवं भारत की जलवायु से प्रभावित एवं भारतीय रूप, रंग, बनावटवाला

होगा, तो उसे जो भी नाम दिया जायगा, हिन्दी, हिन्दू या भारतीय, वह अनिवार्य रूप से वही कहा जायगा। उसमें विश्वास और मान्यता के कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, देशद्रोही हो या देशभक्त, वह वही कहलाएगा। कोई देश को पितृभूमि, पुण्यभूमि माने अथवा न माने, उससे उसकी देशकृत जाति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

वर्तमान काल में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि का व्यवहार चल रहा है, वह धर्मभेद के आधार पर है। इसीलिए देश की दृष्टि से वह किसी जाति का हो, जो धर्म मानता है उसी धर्म का वह माना जाता है। धीरे-धीरे उन-उन धर्मानुयायियों में भी जाति का व्यवहार चल पड़ा है। यहाँ भी अनेकसमवेत, एक, नित्य धर्म में जातिव्यपदेश सम्भव है ही। कुरानादिप्रोक्त-धर्मानुयायित्व मुसलमानत्व और वेदादिशास्त्रप्रोक्त-धर्मानुयायित्व हिन्दुत्व आदि धर्म एक और अनेक समवेत हैं ही। इसमें एक ही गड़बड़ी रहती है और वह यह कि आजकल यह नित्य नहीं है। अन्य धर्मानुयायी कालान्तर में अन्य धर्मानुयायी भी बन सकता है। ईसाई से मुसलमान और मुसलमान से ईसाई बनते रहते हैं। अतएव यावद्द्रव्य-भावित्व भी इसमें नहीं है, इसीलिए इसे जाति कहने में कठिनाई पड़ती है। परन्तु वैदिकों में जन्मानुसार वर्णव्यवस्था और तदनुसार ही धर्मव्यवस्था होती है। अतः धर्मानुयायित्व भी यावद्द्रव्यभावी है, इसलिए उसमें जातिव्यवहार हो सकता है। भेद इतना ही है कि स्वगुण-कर्मच्युत शौर्य-क्रौर्य-विहीन सिंह जैसे भ्रष्ट या अधम सिंह कहलाता है, वैसे ही स्वधर्मविमुख हिन्दू भ्रष्ट या अधम हिन्दू कहलायेगा।

वेदों में 'सिन्धवः' शब्द आता है, वह सिन्धु नदी के पार्श्ववर्त्ती देशों एवं तन्निवासियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वेदों में सकार के स्थान में हकार का भी प्रयोग हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में 'सरस्वती' 'हरस्वती' आदि वैदिक उदाहरण हैं। 'केसरी' का 'केहरी' आदि लौकिक उदाहरण भी प्रसिद्ध हैं। तथाच 'सिन्धु-सिन्धवः', 'हिन्धुः'-'हिन्धवः' व्यवहार चलने लगा। धकार का परिवर्तन कालक्रम से दकाररूप में हुआ। नाम चल पड़ा। 'सिन्धु' शब्द का लक्षणा से सिन्धुसमीपस्थ देश अर्थ, फिर हिन्दू हुआ। 'गंगायां घोषः' उदाहरण में प्रसिद्ध है कि गंगातट ही जहती-लक्षणा से गंगा शब्द का अर्थ है, वहीं घोष (आभीरपल्ली) सम्भव है। इसी तरह सिन्धु पार्श्ववर्त्ती देश सिन्धु शब्द का जहती-लक्षणा से अर्थ हुआ। जैसे 'मंचाः क्रोशन्ति' इस प्रयोग में अजहती-लक्षणा से मंच का अर्थ मंचस्थ पुरुष होता है वैसे ही सिन्धुदेश निवासी भी सिन्धु शब्द का अर्थ होता है। इस दृष्टि से सिन्धुनदी के इस पार समुद्र-तट तक और उस पार भी समुद्रतट तक के निवासी हिन्दू कहे जा सकते हैं। यही भारतवर्ष हुआ।

यहाँ अनादिकाल से जन्मना वर्णव्यस्था एवं तदनुसारी वैदिक धर्म प्रचलित था, अतः वैदिक धर्मानुयायी हिन्दू हुए। यही सृष्टिस्थल भी है। यहीं से अन्यान्य जातियों एवं धर्मों का अन्यान्य देशों में प्रसार हुआ है। जो धर्मविमुख हो गये, वे भ्रष्ट हिन्दू ही अन्य नामों से व्यवहृत होने लग गये। उनके अलग-अलग धर्म भी हो गये। उन्हीं हिन्दुओं के गुण लेकर हिन्दू की परिभाषा 'मेरुतन्त्र', 'मेदिनी-कोष' आदि में की गयी है—**"हीनं दूषयति हिंसकान् दुनोति वा हिन्दुः, हिनस्ति दुष्टान् वा"** अर्थात् हीन या अधम को जो दूषित करे, जातिबहिष्कृत करे, वह हिन्दू है या हिंसक को जो दण्ड दे, वह हिन्दू है अथवा दुष्टों का जो हनन करे वह हिन्दू है। हीनता, हिंसा, दोष आदि का ज्ञान अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों से ही होता है, अतः वेदादिशास्त्रानुसारी हिन्दू हुए। वेदादिशास्त्रप्रोक्त धर्म ही हिन्दू धर्म है। "हिन्दूधर्मप्रलोप्तारो" से 'मेरुतंत्र' में हिन्दू धर्म पद से वेदादिशास्त्रप्रोक्त धर्म ही विवक्षित है।

हिन्दू, हीनता, दोष अथवा हिंसा को वेदादिशास्त्रानुसार जानकर वेदादिशास्त्रानुसार ही दण्ड देता है, दुष्ट का हनन करता है, क्योंकि वेद ही अपौरुषेय अतएव समस्त पुंदोषशंकाकलंकशून्य ईश्वरीय ग्रन्थ है। अतः वैदिकधर्मानुयायित्व ही हिन्दुत्व है, यह निर्गलित अर्थ हुआ। यहीं प्रथम सृष्टि हुई, अतः यहीं के लोग ही अन्यत्र जाकर बसे। अतएव मूलतः सभी हिन्दू हुए। कालक्रम से अनेक कारणों से स्वधर्मविमुख होने से भ्रष्ट हिन्दू ही अन्यान्य देशनिवासी, अन्यान्यधर्मानुयायी होकर अन्यान्य जाति के कहे जाने लगे—**'वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।'**

जैसे प्राण के द्वारा शरीरस्थिति होती है, वैसे ही धर्म से विराट् की स्थिति होती है—**"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।"** भारतवर्ष में ही उस धर्म का सार्वदिक् रूप से अवस्थान है। यहीं अनादि अपौरुषेय मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। मोहनजोदड़ो, हरप्पा आदि खण्डहरों से यह सिद्ध हो गया कि संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति "वैदिक संस्कृति" है। मन्वादि धर्मशास्त्रों से तो वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता सिद्ध है ही। संसार के सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं, केवल वेद ही अपौरुषेय है। वेदों की सर्वप्राचीनता तो सिद्ध है ही। उन वेदों में भारत की सिन्धु आदि विभिन्न नदियों का वर्णन है। हिन्दू-धर्म ही पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि में क्रमेण विकृतरूप से उपलब्ध हो रहा है। देशकृत जाति की दृष्टि से भी सभी जातियाँ मूलतः हिंदू हैं, क्योंकि यहीं प्रथम सृष्टि हुई है, यहीं से अन्यत्र देशों के मनुष्यों का प्रसार हुआ है। वेद एवं तदनुसारी धर्म भी मूलतः सबका ही है। जन्मना वर्णव्यवस्था भारत में ही अवशिष्ट है, अतः वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म भी यहीं अवशिष्ट है।

वास्तविक जन्मना वर्णव्यवस्था विदेशियों के यहाँ यद्यपि लुप्त हो गयी है, तथापि यह उचित है कि वे भी केवल व्यवहारोपयोगी ज्ञान प्रधान, बलप्रधान,

धनप्रधान, शिल्प-सेवादि प्रधान समूहों की एक बार गुण कर्मानुसार ब्राह्मणादि-वर्ण-व्यवस्था चलाकर उसे जन्मना सुस्थिर करें और आपस में ही भोजन, विवाहादि करते हुए त्रिशल्लक्षण सनातन धर्म का पालन करें। परन्तु जन्मना वर्णव्यवस्था के लुप्त हो जाने तथा उपनयन—परंपरा के नष्ट होने के कारण वे वेदाध्ययन तथा तदुक्त श्रौत कर्मों के अनुष्ठानार्ह नहीं रहेंगे। तो भी त्रिशल्लक्षण धर्म-पालन से वे गति नहीं पा सकेंगे, जो वैदिकों को प्राप्त होगी। उनके कल्याण के लिए वेदों के ही सारभूत तत्त्वों से रामायण, महाभारतादि आर्ष ग्रन्थ बने हैं। उनके श्रवण तथा विभिन्न भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्हीं दिव्य सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक तत्त्वों का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो सकता है। इसी दृष्टि से भारतवासी होने पर भी, रूप, रंग, बनावट एक ढंग की होने पर भी, दैशिक दृष्टि से चीनी, इंगलिश आदि के समान एक भारतीय या हिन्दी जाति की दृष्टि से एक जाति के होते हुए भी धर्म की दृष्टि से उनमें हिन्दू, मुसलमान आदि भेद हो सकता है।

आचार-विचार, भाषा, कला, विश्वास आदि शिक्षा, संग, देशाटन आदि से बदलते रहते हैं। देश के आधार पर रूप, रंग, बनावट से होने वाली जातियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। धर्ममूलक जातियों पर ही इन बातों का प्रभाव पड़ता है। बीजांकुर न्याय से प्राणियों के जन्म-कर्म की परम्परा अनादि है। स्वप्न-जागर, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय की परम्परा भी अनादि है। इस अनादि विश्व का नियामक अनादि परमेश्वर है।

उसके निःश्वासभूत अकृत्रिम वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ विश्व का विधान या कानून है। तद्विहित कर्मादि ही धर्म है। तत्प्रतिपालक जाति हिन्दू जाति है। इस दृष्टि से 'हिन्दू कानून से जो शासित हो, वे हिन्दू हैं' यह परिभाषा भी इसी आधार पर ठीक है, क्योंकि 'हिन्दू ला' का आधार मिताक्षरा, दायभाग, व्यवहार मयूखादि निबन्ध-ग्रन्थ हैं। उनका भी आधार मन्वादि धर्म-शास्त्र और उनका भी आधार वेदादि शास्त्र हैं। जात्या हिन्दू भी व्यावहारिक दृष्टि से तब तक हिन्दू माना जाता है, जब तक विरोधी धर्मान्तर ग्रहण नहीं कर लेता। इसी आशय से ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, पारसी से भिन्न लोगों को हिन्दू मानने की रीति चल रही है। सिख, जैन, बौद्ध, वेदादि शास्त्र एवं तदनुसारी निबन्धानुयायी हैं तो हिन्दू ही हैं।

परन्तु आजकल देश में अलग होने का भी एक रोग चल पड़ा है और उसको मानने के लिए परिभाषा को शिथिल करने, रबड़-छन्द की तरह बढ़ाने-घटाने का भी रोग चल रहा है। यह सामान्य नियम है कि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव

दोषों से शून्य लक्षण या परिभाषाएँ प्रत्यक्ष लक्ष्यों में प्रत्यक्षानुसारी बनायी जाती हैं। जैसे गौ प्रत्यक्ष लक्ष्य है, सास्नादिमत्व लक्षण प्रत्यक्षानुसारी है। जिसमें सास्ना (गलकम्बल) नहीं, वह गौ नहीं है। परन्तु जहाँ लक्ष्य का ज्ञान ही आगमादि-जन्य होता है, वहाँ लक्षण भी आगमानुसारी ही होता है। जैसे शुद्ध संस्कृत शब्द सर्वज्ञकल्प महर्षियों को भले ही प्रत्यक्ष हों, परन्तु सर्वसाधारण को तो लक्षणों-व्याकरणसूत्रों से ही वे ज्ञात होते हैं। अतः महर्षि लक्ष्यैकचक्षुष्क और साधारण लोग लक्षणैकचक्षुष्क होते हैं। आगमानुसारी लक्षण सुस्थिर होते हैं, मनमाने रबड़-छन्द के समान उनका घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं। उसका फल भी प्रत्यक्ष है कि लाखों वर्षों के ग्रन्थों का उन्हीं लक्षणानुसारी स्थिर लक्ष्यों के आधार पर अर्थ-निर्णय हो जाता है, कठिनाई नहीं पड़ती। अन्य भाषाओं में, जहाँ लक्षण स्थिर नहीं, हजार वर्ष के भी ग्रन्थों का अर्थज्ञान दुर्लभ होता है। इसी तरह ब्राह्मणादि वर्ण एवं तदनुसारी धर्म शास्त्रगम्य है, अतः धर्ममूलक हिन्दू आदि जाति भी शास्त्रमूलक ही होनी चाहिए, उनकी परिभाषा भी शास्त्रानुसारी ही होनी चाहिए। अधिक संग्रह के लोभ से रबड़-छन्द की तरह परिभाषाओं को घटाना-बढ़ाना सर्वथा अनुचित है।

यद्यपि कहीं-कहीं देश के अनुसार जाति का नाम पड़ता है, जैसे कि 'मैथिल' आदि नाम मिथिला के सम्बन्ध से हुआ है, परन्तु 'मिथिला' नाम जाति के सम्बन्ध से नहीं हुआ है। कई स्थानों में जहाँ कोई भी नहीं रहता उन प्रदेशों का भी कोई न कोई नाम कल्पित होता ही है। इस तरह देशनामों के आधार पर ऐकान्तिक जातिकल्पना नहीं की जाती। यदि 'हिन्दू' शब्द धर्मविशिष्ट जाति का वाचक हो, तभी हिन्दुओं का निवास-स्थान होने से देश का नाम 'हिन्दुस्थान' होगा। परन्तु हिन्द निवासी होने के कारण जाति का नाम हिन्दू माना जाय और हिन्दू निवास स्थान होने से देश का नाम हिन्दुस्थान माना जाय, तब तो अन्योन्याश्रय दोष ध्रुव होगा। साथ ही हिन्द निवासी अन्य लोगों को भी हिन्दू कहना पड़ेगा। अतः हिन्दू लक्षण अतिव्याप्त ही होगा।

कई लोग हिमालय के 'हि' और इन्दुसरोवर के 'न्दु' को जोड़कर प्रत्याहार न्याय से 'हिन्दू' शब्द बनाते हैं अर्थात् हिमालय से लेकर इन्दुसरोवर (कुमारी अन्तरीप) तक का देश हिन्दुस्थान है। "**हिमालयं समारभ्य यावादिन्दुसरोवरम्। तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ॥**" अस्तु, 'सिन्धवः' इस वैदिक शब्द के आधार पर अथवा 'हीनं दूषयते' इत्यादि व्युत्पत्तियों के आधार पर हिन्दू शब्द धर्मविशिष्ट जाति का ही वाचक है।

कुछ लोग हिन्दू जाति की इस प्रामाणिक एवं निश्चित परिभाषा तथा उसके निश्चित नियम को ही उसके पतन या ह्रास का कारण कहते हैं। उनकी दृष्टि में

जाति-बहिष्कार की प्रथा सर्वथा बन्द होनी चाहिए। लक्षण अधिकाधिक संग्राहक होने चाहिए, नियम सरल होने चाहिए, वे भी शिथिल होने चाहिए, नियमोल्लंघन करनेवालों को क्षमा कर देना चाहिए, अनुशासन की कार्रवाई नहीं करनी चाहिए। हिन्दूशास्त्रों और धर्म में भी नये सुधार-परिष्कार होने चाहिए। इसी आशय से नयी स्मृतियों और 'हिन्दूकोड' की आवश्यकता बतलायी जा रही थी। विकासवाद के अनुसार यह सब ठीक ही है, क्योंकि उसके अनुसार अभी तक ज्ञान क्रियाशक्ति का पूर्ण विकास हुआ ही नहीं है। अतः कोई भी सर्वज्ञ हुआ ही नहीं है। फिर कोई भी शास्त्र, कोई भी धर्म, कोई भी परिभाषा या कोई भी नियम पूर्ण कैसे माना जाय? फिर उत्तरोत्तर परिष्कार-सुधार आदि आवश्यक ही हैं। परन्तु जो परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् मानते हैं, रेल-तार, रेडियो, वायुयान, परमाणुबम, हाइड्रोजनबम, बनानेवाले वैज्ञानिकों के मस्तिष्कों का भी निर्माता परमेश्वर को ही मानते हैं, उनकी दृष्टि में तो उस परमेश्वर के शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों से ही प्राणियों को कर्मानुसार सीमित ज्ञान-क्रियादि शक्तियां मिलती हैं। पूर्ण ज्ञान-क्रियादि शक्तियाँ तो परमेश्वर में ही हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्र और धर्म स्थिर ही होना ठीक है, नियम भी स्थिर ही ठीक हैं, अनुशासनहीनता ही पतन का मूल है।

सुधारक हिन्दूहिमायती हिन्दुओं के नाशक ही हैं। ईसाई, मुसलमान भी कहते हैं कि 'हिन्दूधर्म कभी के लिए अवश्य लाभदायक था, परन्तु आज के देशकाल के लिए वह पुराना हो गया, अब समाज के सामने वे सड़े-गले नियम नहीं रखे जा सकते।' यही आधुनिक सुधारक भी कहते हैं कि 'दुनिया बहुत आगे बढ़ गयी है, अब पुराने धर्म लाभदायक नहीं होंगे, दुनिया के बदलने के साथ-साथ अपने-आपको, समाज को, धर्म को बदलते चलना ही बुद्धिमानी है। आज वायुयान के जमाने में बैलगाड़ी से चलना, हाइड्रोजनबम के जमाने में पत्थरों के औजारों से लड़ना बुद्धिमानी नहीं है।' भेद इतना ही है कि ईसाई, मुसलमान जहाँ ईसाई एवं इस्लामधर्म तथा 'बाइबिल' और 'कुरान' को मानने का आग्रह करते हैं, वहाँ सुधारक उन्हें मानने को तैयार नहीं होते। वे शास्त्रों में सुधार या नया शास्त्र चाहते हैं। सामान्य जनता समझ लेती है कि ईसाई, मुसलमान और सुधारक हिन्दू एक ही बात कर रहे हैं। जब सुधारक भी नया शास्त्र बनाना आवश्यक समझते हैं, पुराने हिन्दूशास्त्र को लाभदायक नहीं समझते, तो फिर पुराने शास्त्रों को छोड़कर 'बाइबिल', 'कुरान' क्यों न मान लिये जायँ? इस तरह फलतः सुधारक ईसाइयों, मुसलमानों के साथी बन जाते हैं।

परन्तु क्या ईसाई, मुसलमान और क्या सुधारक, सभी को समझ लेना चाहिए कि सत्य सिद्धान्त में प्राचीनता ही भूषण है, नवीनता नहीं। यदि नवीनता ही

मान्य होगी, तब तो आज के लिए 'बाइबिल', 'कुरान' भी पुराने हो गये, ईसाइयत और इस्लामियत भी पुरानी हो गयी। वह भी सड़ गयी ... । अब उनकी अपेक्षा भी नया शास्त्र और नया सिद्धान्त बनाना ही आवश्यक होगा। इसी तरह विकासवादी का विकासवाद भी तो अब पुराना हो गया। जब उत्तरोत्तर के लोग अधिकाधिक विज्ञानी और पूर्व-पूर्व के लोग अल्पविज्ञानी या अज्ञानी हैं तब तो पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र की अपेक्षा पिता, पितामह, प्रपितामह, और शिष्य, प्रशिष्य की अपेक्षा गुरु, परमगुरु, परात्परगुरु आदि अज्ञानी ही होंगे। फिर उनकी बात भी कैसे मान्य होगी? प्रत्यक्ष बात तो यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सभी विषयों में ज्ञान सीखना पड़ता है। फिर पिता और गुरु को अपनी अपेक्षा अज्ञ कहना कितनी बड़ी अज्ञता है? जो विकासवादी अपने पूर्वजों को बन्दर मानते हैं, उन्हें यह समझ लेना होगा कि यदि उनके पूर्वज बन्दर थे, तो वे भी बन्दर ही हैं, क्योंकि बन्दर की सन्तान सिंह कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव चन्द्र, सूर्य, आकाश, वायु, भूमि, आत्मा आदि अपरिगणित प्राचीन वस्तुओं का सम्मान किया जाता है, क्षुधा-पिपासा-निवृत्त्यर्थ अन्न-जल ग्रहण किया जाता है, सन्तानसुखार्थ, भार्यासंग्रहादि आज भी करना ही पड़ता है। नवीन भी प्लेग, विषूचिका आदि महामारियों से सभी को उद्वेग होता है। अतः सत्य सिद्धांतों, शास्त्रों, तदुक्त धर्मों की प्राचीनता ही नहीं अनादिता एवं नित्यता भी मान्य होती है। धर्म की परिभाषा, स्वरूप और प्रमाण सुस्थिर हैं। उनमें रद्दोबदल अत्यन्त असंगत है। शास्त्रों ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जो परिवर्तन बतलाये हैं, वे तो व्यवस्थित हैं। जैसे हर ग्रीष्म, शीत और वर्षा के परिवर्तन भी प्रवाह रूप से नित्य ही हैं। उनके पृथक् विधान भी उसी रूप में नित्य ही हैं। अतः परिवर्तनवादी हिन्दू हितकारी नहीं, अपितु मूलघाती ही हैं।

कहा जाता है, 'हमारा राष्ट्रिय वैभव और सुख उसी दिन धूल में मिल गये, जिस दिन से हमने केवल **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का विचार किया। उसी प्रकार जब हमने केवल व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की संकुचितता में अपने को लीन कर दिया तो भी हमारी वैसी ही अधोगति हुई, अतः हमें अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोनों ही दोषों का परिहार करके मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।' (वि०न० ३८३ पृ०)।

यह भी अविचारित रमणीय ही है, क्योंकि यहाँ दोनों का समन्वय करना है, त्याग किसी का नहीं करना है। किसी लक्षण का लक्ष्य में न जाना अव्याप्ति है। लक्ष्यभिन्न अलक्ष्य में लक्षण का जाना अतिव्याप्ति होती है। दो मार्ग का नाम अव्याप्ति, अतिव्याप्ति नहीं होता। मध्यम मार्ग पर चल कर ही सत् असत् दोनों पक्ष छोड़कर शून्यवादी माध्यमिक और अनेकांतवादी जैन बन गये।

ऐसे ही व्यष्टि समष्टि दोनों वादों को छोड़नेवाला धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का होगा, अतः सर्वथा व्यष्टि को आत्मोन्नति का प्रयास करना चाहिए परन्तु समष्टिहित का ध्यान रखते हुए ही। हम पीछे लिख चुके हैं कि अपना व्यक्तित्व रखते हुए भी कोई जाति की दृष्टि से ब्राह्मणादि भी है, ब्राह्मणत्व की रक्षा करते हुए भी वह एक हिन्दू या भारतीय भी है। वैसे ही भारतीय होते हुए भी प्राणी मानव भी है। उस नाते समस्त मानवता का सम्मान और हिताचरण भी आवश्यक ही है। इसी तरह प्राणित्वेनरूपेण सर्वप्राणिहितैषिता भी अनिवार्य ही है। अध्यात्म दृष्टि से भी पुत्राद्यात्मवाद की निवृत्ति के लिए चार्वाक का देहात्मवाद भी एक सोपान के रूप में ग्राह्य है, देहात्मवाद से छुटकारा पाने के लिए कुटुम्बवाद, जातिवाद का भी आश्रयण अपेक्षित है। जातिवाद से छुटकारा पाने के लिए राष्ट्रवाद भी एक आवश्यक ग्राह्य वस्तु है। परन्तु राष्ट्रवाद से भी ऊँचे उठकर मानवतावाद या विश्ववाद का ग्रहण भी आवश्यक है। अन्त में समष्टि प्राणिवाद और उससे भी आगे विराट् महाविराट् हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्मवाद, और फिर निर्विशेष ब्रह्मात्मवाद ही अंतिम गति है। आप जिन आद्यशंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विवेकानन्द की प्रशंसा करते हैं उनका भी अंतिम ध्येय **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** ही तो था। रही ऊँची कथनी नीची करनी की बात (वि० न० ३८२ पृ०) सो तो राष्ट्रवाद में भी रहती ही है। बहुत से लोग राष्ट्रवाद का भी चोला पहन कर राष्ट्रियता के नाम पर स्वात्महित, स्वात्म प्रशंसा की कामना में लिप्त होते दिखाई देते ही हैं। परकीय समालोचना करनेवाले आत्मसमालोचना से वंचित होने के कारण स्वात्मदोष ज्ञान से भी शून्य ही रहते हैं। व्यावहारिक बात भी यही है कि लोग व्यष्टि समष्टि दोनों हितों से दिलचस्पी रखते ही हैं। चींटियों के बिल पर आटा डालने की बात ग्रामों में भी प्रचलित है। पंच महायज्ञों के द्वारा देव, पितर, ऋषि, मनुष्य तथा प्राणिमात्र के तर्पण का प्रयास किया ही जाता है, प्रेम गर्व श्रद्धा की भावना तो बनाने से ही बनती है। स्वाभाविक प्रेम श्रद्धा तो माता, पिता, गुरुजनों में ही होता है परन्तु शास्त्र, धर्म, इतिहास परंपरा आदि के अनुसार जैसे राष्ट्र के तीर्थों, ऋषियों, आदर्शों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है वैसे ही समष्टि विराट् महाविराट् ईश्वर ब्रह्मा आदि में भी श्रद्धा उत्पन्न होती ही है। परन्तु आपने तो धर्म, इतिहास, परम्परा आदि का नाम लेते हुए भी शास्त्र का नाम नहीं लिया है। क्या हमारे देश में अपने को प्रगतिशील कहनेवाले लोगों को प्राचीन जीवनादर्श प्रतिगामी तथा गर्हित प्रतीत होते हैं, उनके अनुसार वे पुराने हो गये हैं?' नूतन मसीहा नवोन्माद से पीड़ित हैं।' (वि० न० ३८४ पृ०)।

क्या यह कथन आप पर लागू नहीं होता? क्या शास्त्र प्रामाण्य एवं शास्त्रोक्त समाजव्यवस्था को ठुकराकर ब्राह्मण, हरिजन सब एक हैं। सबका खान-पान,

रोटी-बेटी एक करने का नवोन्माद आप में नहीं है ? क्या यह भी पाश्चात्यों की ही देन नहीं है ? पाश्चात्यों के प्रभाव से ही शास्त्र एवं शास्त्रोक्त मर्यादाओं के अतिक्रमण को संघ ने अपना आदर्श मान लिया है। 'वारांगनेवनृपनीतिरनेकरूपा' के अनुसार धर्मविपरीत राजनीति के आधार पर राष्ट्र की काट-छाँट की जाती है (३८७ पृ०)। धर्मनियंत्रित राजनीति में नहीं, धर्मनियंत्रित राजनीति तो विष्णु की पालनीशक्ति होती है, उसी के द्वारा व्यक्ति, राष्ट्र, विश्व सबका कल्याण होता है। उसी के लिए शास्त्रों में कहा है। दण्डनीति के नष्ट होने पर त्रयी एवं तदुक्त धर्म डूब जाता है :—

'मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्' (म० भा० शां० प० ६३।२८)
'सर्वेधर्माः राजधर्म प्रधानाः' (म० भा० शा० प० ६३।२७)

यह ठीक है कि पाश्चात्यों ने दोषों तथा दोषपूर्ण व्यवहारों को अपनाया। यह स्वतंत्रता के बदले स्ववंचना ही है। परन्तु प्रमाणभूत शास्त्रों की उपेक्षा करके मिथ्या एवं कपोलकल्पित राष्ट्रिय आदर्श की दुहाई देने वाले भी अनिवार्य रूप से दासतावृत्ति के गुलाम होते हैं। स्वतंत्रता का सम्मान भारतीय संस्कृति में कम नहीं परन्तु स्वतंत्रता का अर्थ उद्दाम पाशविक वृत्ति या इंद्रिय पराधीनता नहीं मनु के अनुसार।

'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" । (४।१६०)

पराधीनता एवं दुःख तथा आत्मवशता ही सुख है। आप मनु वचन का उद्धरण देकर कहते हैं कि इस देश के अग्रजन्मा पुरुषों से अपने अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें (पृ० ३९१) परन्तु आपके मत में तो मानव एक ही है फिर कौन अग्रजन्मा और कौन अन्त्यजन्मा ? आश्चर्य है आपको ऐसे वचनों के उद्धरणों में संकोच नहीं होता। आपने यह भी कहा कि देशभक्ति में श्रेणियाँ नहीं होतीं भक्ति तो आत्मसमर्पण की तथा अपने को बिना किसी प्रकार का विचार किये पूर्ण एवं विशेषरूप से उत्सर्ग करने की भावना है (३९१ पृ०)। परन्तु यह सब शास्त्र एवं व्यवहार दोनों से ही विरुद्ध है। भक्ति-शास्त्रों में प्राकृत, मध्यम, उत्तम आदि रूप से भक्ति में अनेक श्रेणियाँ बतायी गयी हैं।

"आर्चायामेवहरये पूजां यः श्रद्धयेहते" ।
न तद्भक्तेषचान्येषु सभक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥"
(श्री मद्भा० ११।२।४७)

जो किसी मूर्ति में श्रद्धा से भगवान् की पूजा करता है भक्तों तथा अन्य रूप से भगवान में जिसका प्रेम नहीं वह प्राकृत भक्त है।

'ईश्वरेतदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेम मैत्री कृपापेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥'
(श्री मद्भा० ११।२।४६)

जो ईश्वर में प्रेम ईश्वराधीन भक्तों में मैत्री बालिशों में कृपा तथा द्वेषियों की उपेक्षा करता है वह मध्यम भक्त है।

"सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥"
(भाग ११।२।४५)

जो सर्वभूतों में भगवत् सत्ता का अनुभव करता है और सब भूतों को भगवान् में देखता है वह उत्तम भागवित है। इतना ही नहीं और भी अनेक प्रकार के भक्ति के भेद हैं। भक्ति शब्द मुख्य रूप से भगवद् भक्ति में ही प्रयुक्त होता है। देश आदि में तो भगवत्व का आरोप करके ही भक्ति शब्द प्रयुक्त होता है। भगवद्भक्ति में अनेक भेद हैं तो देशभक्ति में भेद क्यों नहीं ? जैसे भगवान् में सकाम, निष्काम दोनों ढंग की भक्ति होती है वैसे ही देश भक्ति भी। निष्कामता की बात करने वाले भी वस्तुतः सकाम ही होते हैं क्योंकि मनु के अनुसार अकाम की कोई भी चेष्टा सम्भव नहीं।

'अकामस्यक्रिया काचित् दृश्यते नेहकर्हिचित् ।
यद्यद्धिकुरुतेकिंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥' (मनु० २।४)

शास्त्रीय कामनाओं से लौकिक कामनाओं को बाधित करना आवश्यक है। और उत्कृष्ट शास्त्रीय कामनाओं से क्षुद्र पाशविक कामनाओं का बाध करना चाहिए। अन्त में भगवत्कामना से सब कामनाओं का बाध करके तत्व साक्षात्कार और सर्व बाध करके अमृतत्व प्राप्त किया जाता है। यही **'अविद्ययामृत्युंतीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते'** (ई० उ० ११) वेदमंत्र का सार है। वस्तुतः स्वकीय आत्मा का बिना विचार किये आत्मोत्सर्ग हो ही नहीं सकता और आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ लेने पर निर्विशेष स्वप्रकाश परमात्मस्वरूप से भिन्न देश, काल, वस्तु सबका ही बाध हो जाता है, जैसे घटाकाश का महाकाश में स्वात्मसमर्पण या तरंग का महा समुद्र में स्वात्मसमर्पण होता है वैसा ही आत्मा का परमात्मा में आत्म समर्पण ज्ञान का ही विषय होता है, क्रिया का नहीं, और वह शुद्धात्म बोध में ही पर्यवसित होता है।

अवश्य ही तत्त्वज्ञानसम्पन्नब्रह्मविद्वरिष्ठ सर्वभूतहितैषी होते हैं। वे स्वयंभूत भौतिक प्रपंचातीत आत्मस्वरूप प्रतिष्ठित होते हुए भी उसी पद पर अन्य लोगों को भी प्रतिष्ठित करने के लिए भूतों से सम्बन्धित होते हैं। तभी तो प्रह्लाद ने कहा था कि मैं इन संसारतप्त प्राणियों को छोड़कर अकेला मुक्तिपद में जाने को तैयार नहीं हूं।

"नैतान्विहायकृपणान् विमुमुक्ष एकः" (श्री भा० ७।६।४४)। बोधिसत्वों की धारणा है कि संसार के सब प्राणी जब तक क्लेश निर्मुक्त नहीं होते तबतक हमें अपने मोक्ष की कल्पना भी नहीं करनी है। सर्वमुक्ति के पश्चात् फिर मोक्ष की बात सोचेंगे। परन्तु समष्टि या व्यष्टि भौतिक जगत् को ही ध्येय या प्रकाशस्तम्भ मानना तो जड़वादिता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। विवेक विज्ञान के प्रतीक योगेश्वर कृष्ण एवं शौर्य, वीर्य, ओज, तेज के प्रतीक धनुर्धर पार्थ का संयोग केवल भौतिक विजयश्री की प्राप्ति का मूल नहीं किन्तु अविद्यामय संपूर्णभूत भौतिक प्रपंच को बाधित कर स्वात्मस्वाराज्य प्राप्ति का भी मूल है।

आपने कहा 'विश्व को नरकासुर का नीति से मुक्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अपहृत सहस्रों स्त्रियों को छुड़ाया था जिसके कारण समाज के सामने गंभीर समस्या खड़ी हो गयी। उस समय श्रीकृष्ण स्वयं आगे आये और औपचारिक रूप से उन्होंने उन सब स्त्रियों को अपनी धर्मपत्नी घोषित कर उन्हें समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया। इसीलिए तो उनके मस्तिष्क एवं हृदय के अनुपमेय गुणों के कारण सारा संसार उनको महानतम धर्मनिरूपक मानता था' (३६७ पृ०)। परन्तु यह सब आपकी दुरभिसन्धिपूर्ण कल्पनायें निस्सार एवं निराधार हैं। यह तो ठीक है कि दिव्य सद्गुण सम्पन्न लोगों को अपनी महत्ता भुलाकर साधारण लोगों में मिल-जुलकर उन्हें ऊपर उठाने का प्रयत्न करना चाहिए परन्तु इसके लिए शास्त्र एवं शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण करना तो उच्चतर समाज के आदर्शों से लोगों को एवं अपने को भी गिराना ही है। वस्तुतः पुराणेतिहासों को छोड़कर नरकासुर का वध और कृष्ण का सहस्रों स्त्रियों को धर्मपत्नी घोषित करना किस प्रमाण से सिद्ध है? क्या यह बता सकते हैं? परन्तु पुराणों के द्वारा भी उक्त कथन की सिद्धि सर्वथा असम्भव ही है क्योंकि श्री भागवत में स्पष्ट वर्णन है कि नरकासुर या भौमासुर के मरने पर भगवान् ने उसके समृतिमत भवन में प्रवेश किया और १६००० उन क्षत्रिय कन्याओं को देखा जिन्हें विक्रम से राजाओं को जीतकर भौम ने हरण कर अपने यहाँ अवरुद्ध कर रखा था।

तत्र राजन्य कन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम्।
भौमाहृतानांविक्रम्य राजन्योददृशे हरिः॥ १० स्कन्धे अ० ५६।३३

यहाँ स्पष्ट राजकन्यानां से कन्याओं का उल्लेख है। भौम ने राजस्त्रियों का नहीं किन्तु कन्यायों का हरण किया था और वे सब कन्या रूप में ही सुरक्षित थीं तभी कृष्ण ने उन राजकन्यायों को देखा, ऐसा कहा गया है। अतः समाज के नेताओं के सामने उनके सम्बन्ध में कोई भी समस्या नहीं थी, उन कन्याओं ने ही दैववशात् प्राप्त अभीष्ट पति को मन से वरण किया यह भी वहीं स्पष्ट है।

"मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम्" श्लोक ३४।
भूयात् पतिरयं मह्यम् धाता तदनुमोदताम्।
इति सर्वाःपृथक कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥ श्लोक ३५।

विधाता से सबने यह माँगा कि कृष्ण ही हमारे पति हों और भाव से अपना हृदय कृष्ण में स्थित किया। उनके अभिप्राय को जानकर ही कृष्ण ने उन्हें शिविकाओं और रथों द्वारा द्वारका भेज दिया (श्लोक ३६)। द्वारका में एक शुभ मुहूर्त पर कृष्ण ने उनके साथ विवाह किया, यह भी उल्लेख है :

अथोमुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषुताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवान् तावद्रूपधरो ऽव्ययः॥

(भाग० १०।५६।४२)

एक ही मुहूर्त में नानाभीवनों में स्थित उन स्त्रियों का पाणिग्रहण भगवान् ने उतने ही रूप धारण करके किया, द्रौपदी के साथ वार्तालाप करते हुए उन रानियों ने स्वयं भी यही कहा था कि क्षितिविजय के प्रसंग से राजाओं को जीतकर भौम ने हम राजकन्यायों को रुद्ध कर रखा था। हम सब संसृति से छुड़ानेवाले भगवान् के पदाम्वुज का मुक्ति के लिए ध्यान कर रही थीं, आप्तकाम भगवान् ने सगण भौम को मारकर हम सबको परिणीत किया—

"भौमं निहत्यसगण युधितेनरुद्धा ज्ञात्वाथनः क्षितिजयेजितराजकन्याः।
निर्मुच्यसंसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनायाय आप्तकामः॥"

(श्री भा० १०।८३।४०)

क्षितिजय के प्रसङ्ग से राजाओं को जीतकर भौम ने हम राजकन्याओं को रुद्ध कर रखा था। हम सब संसृति से छुड़ानेवाले भगवान् के पदाम्वुज का मुक्ति के लिए ध्यान कर रही थीं। आप्त काम भगवान् ने सगण भौम को मारकर हम सबको परिणीत किया।

रेखांकित पदों को ध्यान से पढ़ने पर श्री गोलवलकर की कल्पना सर्वथा निस्सार हो जाती है। श्री कृष्ण गीता में स्पष्ट कहते हैं, शास्त्रविधि के अनुसार सब काम करना चाहिए, वे स्वतन्त्र धर्म के निरूपक कैसे हो सकते हैं? वैसे धर्म के निरूपक तो आप जैसे सुधारक ही हो सकते हैं। इसी से प्रतीत होता है कि प्रमाणों को तोड़-मरोड़कर स्वाभीष्ट सिद्धि के लिए आपलोग कितना अनर्थ कर सकते हैं। फिर भी सदाचार सच्चरित्र की बात करते हैं। इसी प्रकार का 'एक साधु एक कुत्ते को गोद में लिये हुए सड़क के किनारे पड़ी हुई जूठन के टुकड़े को बड़े प्रेमपूर्वक उसी कुत्ते के साथ स्वयं भी खा रहा था, उसके निकट से जाते हुए एक व्यक्ति ने उसे पहुँचा हुआ महात्मा पहिचाना और उसके पास गया' (३६७ पृ०)। यह भी आप का दृष्टांत

मनगढ़त एवं सारशून्य है। इस प्रकार के आदर्शों से न समाज की सेवा हो सकती है न समाज का उद्धार। हाँ, इससे आपके पन्थ की वृद्धि भले ही थोड़े दिनों के लिए हो जाय। आपने अष्टावक्र के वचनों का अभिप्राय यह कहा कि इन सज्जनों ने मेरी हड्डी, मेरे मांस तथा मेरे चमड़े से मुझे पहिचाना। कसाई हड्डी मांस का व्यापार करता है और मोची चमड़े का, सच्चा दार्शनिक तो मनुष्य की आत्मा को पहचानता है जो सबमें एक है (३९८ पृ०)। परन्तु क्या आप इस ज्ञान में परिनिष्ठित हैं। फिर क्या वह आत्मा ईसाई मुसलमानों में नहीं है। यदि है तो फिर एक सीमित और खण्डित समाज को ही हठ करके अपना ध्येय कैसे बनाते हो ? वस्तुतः ऐसी उक्तियाँ जड़ एवं भौतिक देह से आत्मभाव हटाकर ब्रह्मात्म भावना के पोषण में ही उपयुक्त होती हैं। इनके आधार पर अघोरपंथ का समर्थन एवं शास्त्रीय समाजव्यवस्था का अपलाप नहीं किया जा सकता। आप सौजन्य में विश्वास का प्रतिपादन करते हुए यह भूल जाते हैं कि हमने इसी पुस्तक में अपने से मतभेद दिखानेवालों की कितनी कटु किन्तु निस्सार समालोचना की है। ठीक ही किसी ने कहा है, परोपदेश के समय सभी शिष्ट होते हैं, अपने कार्य के समय उसी शिष्टता को भूल जाते हैं :—

परोपदेश वेलायां सर्वे शिष्टा भवन्तिहि।
विस्मरन्तिहिशिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते॥

बिच्छूवाला दृष्टांत तो अच्छा ही है (४०० पृ०)। परन्तु यदि वैसी ही भावना हो तभी। कार्यकर्त्ताओं में सद्गुण सच्चरित्र के साथ मधुरवाणी का साहचर्य अपेक्षित है यह ठीक ही है। मिथ्याभिमान सचमुच सर्वसाधारण का तथा साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। गर्वहीन आत्मविश्वास भी कल्याणकारी है। अपने से निम्न की ओर ध्यान देने से साधारण व्यक्ति भी अपना महत्त्व समझने लगता है। अपने से ऊपर की ओर देखने से बड़े से बड़ा शक्तिशाली भी अपने को क्षुद्र ही समझता है :—

अधो धः पश्यतः कस्य महिमानोपचीयते।
उपर्युपरिपश्यन्तः सर्वएव दरिद्रति॥

आप श्री कृष्ण, शंकराचार्य को आदर्श मानने का दावा करते हैं परन्तु उनकी शास्त्रनिष्ठा, सदाचारनिष्ठा की उपेक्षा करते हैं, यही आश्चर्य है। यद्यपि उत्साही सच्चरित्र सन्त पुरुष जड़ प्राणी को भी अपने समान ही सन्त बना सकता है। फिर भी '**ममतारतसन ज्ञान कहानी, अति लोभी सन विरति बखानी।**" जैसे प्रयत्न को '**अव्यापारेषु व्यापारः**' ही कहा जाता है। आपने कहा कि 'एक सेनानायक को औरंगजेब ने मुसलमान बना लिया था। वे बाद में निकलकर शिवाजी के पास आये। शिवाजी ने उन्हें हिन्दुओं में मिलाकर अपने ही परिवार के एक सदस्य का

उनसे विवाह कराकर रक्त संबंध स्थापित कर दिया था, अपने प्रत्येक सदस्य को चाहे वह कितने ही निम्न स्तर का क्यों न हो समाज में उपयोगी स्थान प्राप्त करा दें (३९६।३९७ पृ०)। पर क्या यह उत्कोच (घूस) या तुष्टीकरण नीति नहीं है। कांग्रेस मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए रियायत करती है तब आप उसे दब्बूनीति तथा तुष्टीकरण कहकर तीव्र समालोचना करते हैं, परंतु मुसलमानों को लड़की देकर रक्त सम्बन्ध स्थापित करके अपनी शास्त्रीय, धार्मिक मर्यादा को तिलांजलि देकर किसी हिन्दू या अहिन्दू को हिन्दू बने रहने के लिए प्रयत्न करना उचित है क्या ? क्या इस घूस से आपका समाज सुस्थिर रहेगा, क्या उनकी भी उत्तरोत्तर माँग और नहीं बढ़ेगी ?

फिर आप तो सभी मुसलमानों को आत्मसात् करना चाहते हैं। बहिन बेटी देकर आत्मसात् करने की बात चलेगी तब हम किस मुख से ईसाइयों को भला-बुरा कहते हैं कि वे नौकरी तथा लड़कियों का प्रलोभन देकर हिन्दुओं को ईसाई बनाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि गीता के अनुसार सफल पुरुष आदर्श नहीं किन्तु सफलता असफलता में तथा हानिलाभ, जय-पराजय, में समबुद्धि होकर जो सदा कर्त्तव्यपरायण है वही आदर्श एवं पूज्य हो सकता है। संपूर्ण संसार को कौन कहे संसार का एक राष्ट्र या एक समाज का भी आत्यंतिक सुधार नहीं हो सकता। तभी तो सर्व में असर्वता, अकर्ता में कर्तृता, अभोक्ता में भोक्तृता, एक में अनेकता, पूर्ण में अपूर्णता ही संसार है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके उत्थान या सुधार का प्रयत्न न होना चाहिए। स्वयं भगवान् एवं उनकी प्रेरणा से ऋषि, महर्षि, आचार्य, महापुरुष समय समय पर इसके उद्धारार्थ आते हैं। परात्पर ब्रह्म, भगवान् श्री राम तथा भगवान् श्री कृष्ण भी इसके कल्याणार्थ ही प्रकट होते हैं। अपने अपने समय में सभी इसकी उन्नति तथा उत्थान करते हैं। उनके समय के करोड़ों पुरुष कृतार्थ होते हैं। उनके पश्चात् भी उनके प्रतिष्ठापित धर्ममार्ग पर चलकर अगणित लोगों का कल्याण होता है परन्तु फिर भी संसार अपनी ही रफ्तार पर चलता रहता है। श्री राम के समय करोड़ों प्राणी मुक्त हुए, करोड़ों उनके साथ साकेतधाम गये, श्रीकृष्ण की बात भी ऐसी ही है, परंतु उनके बाद ही फिर पतन प्रारंभ हो गया। श्रीकृष्ण के परमधाम पधारते ही कलि का आरम्भ हो गया, उनके पश्चात् दो चार हजार वर्ष भी शांति नहीं रही। आज भारत का कितना भीषण पतन हुआ। बौद्धों का आतंक फैला, श्री शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, उनके परमप्रतापी सिद्धशिष्य भी आये, फिर भी वे सभी असफल नहीं कहे जा सकते हैं। अधिकारियों का उनके द्वारा कल्याण हुआ ही।

———

राष्ट्रियता

देश, जाति, धर्म, संस्कृति और भाषा यह पाँचों वस्तुएँ यद्यपि आदर की पात्र हैं, तथापि 'राष्ट्रीयता की ये ही मूल-वस्तु' हों, यह आवश्यक नहीं। अल्पसंख्यकों की समस्या का विचार जब एक देश में किसी एक धर्म के लोगों का बाहुल्य हो तथा भिन्न धर्म के लोग अल्पसंख्यक हों, तो भी उठता है। ब्राह्मण, क्षत्रियादि में भी बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक हैं। शैवों-वैष्णवों, हिन्दुओं-जैनों के भेद में भी अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक होने का प्रश्न उठता है। मुसलमानों में भी शिया-सुन्नियों में अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का प्रश्न उठता है। माना कि किसी देश में जड़वादियों का ही बाहुल्य हो, तब भी वहाँ अल्पसंख्यकों का प्रश्न उठ सकता है। इंगलैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का ही राज्य होता है। सरकारी कोष से ईसाईयत का प्रचार होता है। अंग्रेजी भाषा को अन्ताराष्ट्रिय भाषा बनाने का निरन्तर प्रचार चलता है। जर्मनी ने अपनी भौगोलिक राष्ट्रिय एकता का प्रयत्न किया। आस्ट्रिया ने जो जर्मनी का ही एक प्रान्त था। प्रशिया, बेवेरिया तथा चेकोस्लोवाकिया आदि का नया राष्ट्र बनाकर जर्मन जाति के पैतृक देश का अपहरण किया था। जर्मनी ने तीव्र प्रयत्न से अपने पैतृक देश पर पुनः अधिकार कर लिया, अपनी भाषा में दृढ़ता का प्रयत्न किया और यहूदियों को अनार्य कहकर अपने देश से निकाल बाहर किया। भाषा को भी मुख्यरूप से राष्ट्रियता का आधार कहा जाता है। परन्तु भारत में भाषा का भेद उनके मन्तव्य के स्पष्टरूप से विरुद्ध है। उनका यह भी कहना है कि 'हमारी भाषा में भेद का बोधक कोई शब्द ही नहीं है'? आश्चर्य की बात है। भारतीय दर्शनों के अनुसार धर्म या लक्षण स्वयं ही भेदक होते हैं। वैशेषिक-दर्शन ने तो 'विशेष' नाम के अनंत व्यावर्तक पदार्थ माने हैं।

वैसे अहिन्दुओं के सम्बन्ध में यद्यपि संघी कहा करते हैं कि 'हमारी नीति समता की है', परन्तु श्री गोलवलकर जी 'हमारी राष्ट्रीयता' के ५वें प्रकरण में कहते हैं कि 'हमें पहले ही यह ध्यान रख लेना होगा कि जहाँ तक राष्ट्र का सम्बन्ध है, जो देश, जाति, धर्म, संस्कृति और भाषा, इन पाँच सीमाओं के बाहर हैं, वे राष्ट्रीय जीवन में तब तक स्थान नहीं प्राप्त कर सकते हैं, जब तक अपने भेदभावों को तिलांजलि देकर वे राष्ट्र के धर्म, संस्कृति और भाषा को ग्रहण नहीं कर लेते और राष्ट्रीय जाति में पूर्णरूप से विलीन नहीं हो जाते। जब तक वे किसी भी प्रकार के अपने जातीय, धार्मिक तथा सांस्कृतिक भेदों को रखे हुए हैं, वे विदेशी ही हैं, चाहे वे

राष्ट्र के मित्र हों या शत्रु। सभी प्राचीन राष्ट्रों में, जिनका राष्ट्रीय जीवन महायुद्ध के पहले भी पूर्ण विकसित था, यही दृष्टिकोण स्वीकृत है। यद्यपि वे राष्ट्र धार्मिक सहनशीलता का व्यवहार करते हैं, तो भी आगंतुकों को राजधर्म के रूप में राष्ट्रीय धर्म स्वीकार करना पड़ता है, राष्ट्रीय समाज में अभिन्न रूप से सम्मिलित हो जाना पड़ता है। राष्ट्र के साथ एकाकार हो जाना पड़ता है। आगन्तुकों को स्वभावतः ही मुख्य निवासियों के समूह में–राष्ट्रीय जाति में–उसकी संस्कृति एवं भाषा को स्वीकार करके, उसकी महत्वाकांक्षाओं में भाग बंटाकर, अपने विभिन्न अस्तित्व की संपूर्ण चेतना को खोकर तथा अपनी विदेशी भूल को भूलकर एकरूप हो जाना पड़ता है। अन्यथा उन्हें बाहरी जनों की भाँति रहना पड़ता है तथा वे किसी भी प्रकार के विशेष संरक्षण के पात्र भी नहीं समझे जाते। किसी स्वत्व एवं अधिकारों की बात तो दूर रही। वहाँ विदेशी समूहों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं—या तो राष्ट्रीय जाति में विलीन हो जायं तथा उसकी संस्कृति ग्रहण कर लें अथवा जाति की इच्छा के अधीन बसते रहें। वही है तर्कयुक्त ठीक-ठीक हल। हिन्दुस्थान में या तो विदेशी जातियों को अवश्य ही हिन्दू-संस्कृति और भाषा ग्रहण कर लेनी चाहिए, हिन्दू-धर्म का सम्मान करना सीखना चाहिए, हिन्दू-जाति, संस्कृति एवं हिन्दू-राष्ट्र को गौरवान्वित करने के अतिरिक्त कोई भाव हृदय में नहीं रखना चाहिए। युगों से चली आयी परम्पराओं के प्रति असहनशीलता एवं अकृतज्ञता का अपना भाव ही त्यागना आवश्यक नहीं, वरन् उसके प्रति प्रेम, श्रद्धा का निश्चित भाव भी धारण करें अर्थात् या तो विदेशीयता त्याग करें अथवा पूर्णतया हिन्दू-राष्ट्र के अधीन होकर देश में ठहरें। किसी वस्तु पर उनका अधिकार न होगा, वे किसी विशिष्ट अधिकार के पात्र नहीं, अधिक श्रेष्ठ व्यवहार की बात तो दूर रही, उन्हें नागरिक अधिकार भी नहीं मिलेंगे।'

श्री गोलवलकर जी भी हिन्दुस्थान के हिन्दुओं की एक ऐसी अवस्था पर विश्वास करते हैं, जिसने 'किसी अविज्ञात समय में हिन्दुस्थान में प्राकृत अवस्था छोड़ दी और एक सुव्यवस्थित सभ्य सजातीय सत्ता प्रारम्भ कर दी।' इससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कभी न कभी हिन्दुस्थान के हिन्दू प्राकृत अवस्था (जंगली अवस्था) में अवश्य थे और असभ्य थे। परन्तु वह बहुत चिरकाल की बात है। उनके अनुसार 'वेदादि साहित्य प्राचीनतम मात्र कहे जा सकते हैं, अनादि अपौरुषेय नहीं, वे एक उन्नत भावों के संग्रहमात्र हैं।' इससे इतना सिद्ध है कि वेद उन्नत भावों के संग्रह हैं; बहुत प्राचीन हैं और उनका गौरवपूर्ण अस्तित्व गर्व का विषय है। परन्तु वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता या ईश्वरनिर्मितता आदि उनके मस्तिष्क में नहीं बैठी। वेदों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत दोनों को 'महाकाव्य' के रूप में उन्होंने स्मरण किया है। इसी प्रकार गीता को महाभारत का 'अनश्वर मुकुट-मणि' कहा

है और महाभारत को ४५ सौ या पाँच हजार वर्ष प्राचीन मानकर यह बतलाया है कि 'वह महाभारत जिस एक अत्यंत सुसंघटित, परिष्कृत एवं सुसभ्य समाज का चित्रण करता है, जो शक्ति एवं कीर्ति के उच्च शिखर पर था, उसे वह अवस्था प्राप्त करने में कितना समय लगा होगा।' इसमें हिन्दू-जाति की प्राचीनता तो सिद्ध की गयी, पर साथ ही यह भी मान लिया गया कि वह 'मूलतः असभ्य थी।'

श्री गोलवलकर जी ने लोकमान्य की यह कल्पना कि 'आर्यों का स्थान उत्तरी ध्रुव था', सही मानी है। परन्तु ध्रुव को अस्थिर मानकर बताया है कि "उत्तरी ध्रुव बहुत समय पूर्व पृथ्वी के उस भाग में था, जिसे आज 'बिहार एवं उड़ीसा' कहा जाता है। वहाँ से वह उत्तर-पूर्व को चला गया, इस स्थिति में हिन्दू उत्तरी प्रदेश को छोड़कर हिन्दुस्थान में नहीं आये, किन्तु उत्तरी ध्रुव ही हिन्दुस्थान में हिन्दुओं को छोड़कर प्रवास कर गया।" उत्तरी ध्रुव का इतना परिवर्तन आधुनिक भू-गर्भशास्त्रियों को कहाँ तक मान्य है, यह बात अलग है। परन्तु श्री सम्पूर्णानन्द जी ने तो 'आर्यों का आदि देश' पुस्तक में लोकमान्य का यह पक्ष खण्डन कर यही सिद्ध किया है कि 'वेदों तथा अवेस्ता के आधार पर भारतवर्ष में सप्त-सिन्धु प्रदेश ही आर्यों का आदिदेश है।' श्री गोलवलकर ने हिन्दू जाति के आदर्शरूप में स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत-राय, गांधी जी और अरविन्द को रखा है, जिसका रामायण-महाभारत की सभ्यता से मेल नहीं खाता, जिनके सिद्धान्तों का परस्पर कोई सामंजस्य नहीं है।

उक्त पुस्तक में श्री गोलवलकर का कहना है कि 'हमें एक ओर तो मुसलमानों से, दूसरी ओर अंग्रेजों से युद्ध करना पड़ेगा।' उनके अनुसार "मुसलमान राष्ट्र के अंग नहीं हो सकते, उन्हें नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हो सकता। शत्रु-मित्र, चोर-स्वामियों की एक ऊटपटांग गठरी राष्ट्र नहीं।" फाउलर होलकोम्बो, बर्गेस आदि के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि "राष्ट्रियता से उस जनसमुदाय का बोध होता है, जिसकी जाति, भाषा, धर्म, परंपरा और इतिहास के बन्धन समान हों।" 'एक जनसमुदाय, जिसकी भाषा एवं साहित्य, आचार तथा भले-बुरे का साम्य हो और जो भौगोलिक एकतायुक्त देश में रहता हो'—यह बर्गेस के अनुसार 'राष्ट्र' का अर्थ है। 'गाल्पांविक' की परिभाषा है कि 'सभ्यता की समानता ही राष्ट्र है।' तथा च भौगोलिक एकतायुक्त देश, जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा-यह राष्ट्र है, संस्कृति में ही ऐतिहासिक परम्पराओं का अन्तर्भाव है।' भारतीय दृष्टिकोण से राष्ट्रभाव अगले अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

'विचारदर्शन' में कहा गया है कि 'मुसलमानों एवं ईसाइयों को चाहिए कि वे अपने आपको हिन्दू कहें और उन्हें हिन्दू-परम्परा का अभिमान

होना चाहिए। परन्तु वे प्रभु ईसु या मुहम्मद के उपासना-मार्ग पर चलने के लिए स्वतंत्र हैं। किन्तु उपासना के साथ-साथ जीवन का सम्पूर्ण व्यवहार बदलने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म भी राष्ट्र धर्म होता है। उपासना-मार्ग का परिवर्तन होने से राष्ट्रधर्म या कुलधर्म में परिवर्तन उचित नहीं। अतः मुसलमान, ईसाई अपने नाम राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप आदि न रखकर जान, थामस, अली, हसन, इब्राहिम आदि क्यों रखते हैं? चर्च या मसजिद में जाने से खून विदेशी नहीं हो सकता।'

वस्तुतः, 'बाइबिल', 'कुरान' आदि को मानते हुए ईसाईयत एवं इसलाम के अनुसार चर्च या मसजिद में उपासना करते हुए भी अपने आपको हिन्दू कहना, रामदास, कृष्णदास आदि नाम रखना-क्या ये बातें बुद्धिसंगत हैं? क्या इसी तरह इंगलैण्ड, फ्रांस, इरान, ईराक आदि देश भी अपने यहाँ रहनेवाले हिन्दुओं को नहीं कह सकते? क्या वहाँ के हिन्दू भी विष्णु, राम, कृष्ण, शिव की उपासना करते हुए अपने को ईसाई या मुसलमान कहें? क्या वे जान, हसन आदि अपना नाम रखें?

'संघ' के नेता कहते हैं कि 'मुसलमान अपना नाम बदल दें, धर्म बदल दें, धर्म-व देश की भाषा का आदर करें, त्योहार एवं छुट्टियाँ राष्ट्रिय ही मनायें, तब वे राष्ट्र में रह सकते हैं।' स्वाभिमान अवश्य आदरणीय होता है परन्तु उसकी भी एक सीमा होती है। निस्सीम अभिमान के कारण ही हिटलर का विनाश हुआ। लगभग ऐसे ही अभिमान से संघियों का भी पतन हुआ है। हिटलर की 'आत्मकहानी' पढ़ने से मालूम पड़ता है कि 'संघ' के नेताओं पर उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा है। हिटलर जैसा घमण्ड संघियों में परिलक्षित होता है। हिटलर ने जैसे यहूदियों को निकाल बाहर किया, वैसे ही ये मुसलमानों को निकालना चाहते हैं। यदि देश के आधार पर जाति का प्रयोग होता है, तो इसमें आपत्ति नहीं होती। हिन्दी मुसलमान, हिन्दी सिख, हिन्दी ईसाई ऐसे व्यवहार सम्भव हैं। लेकिन जब धर्म के आधार पर जाति का व्यवहार होता है, तो हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि अपने धर्मानुसार सर्वथा स्वतंत्र जाति के ही रूप में रहेंगे।

'जनसंघ' 'राष्ट्रिय स्वयं सेवक संघ' का रूपान्तर है, उसके भी मुख्य नेता गोलवलकर जी ही हैं। 'जनसंघ' मुसलमानों को भी अपना सदस्य बनाने की बात करता है। किन्तु क्या वह मुसलमानों को अपना उक्त मन्तव्य बतलाकर सदस्य बनाता है?

जिस एक जाति की कल्पना की जाती है, वह असैद्धान्तिक होने के साथ अव्यावहारिक भी है। जर्मनी जैसी जातीय क्रांति केवल 'अन्ताराष्ट्रिय मानवाधिकार

घोषणापत्र' के विरुद्ध ही नहीं, प्रत्युत विश्व में फैले हिंदुओं के विनाश का कारण भी होगी। साथ ही देश में एक जाति की सम्भावना भी नहीं हो सकती। लेनिन ने समस्त रूस को एक मार्क्सीय-स्तर पर संघटित करना चाहा। युक्रेन की राष्ट्रियता का विनाश करना चाहा। लेकिन परिणाम यह हुआ कि 'रूसी गणराज्य की प्रत्येक इकाई को राष्ट्रियता (नेशनलिटी) के रूप में माना गया।' युक्रेन की राष्ट्रियता के सम्मुख उसे घुटने टेक देने पड़े। अतएव राष्ट्रियता का तात्पर्य एक जाति से न समझना चाहिए।

जाति

जाति के सम्बन्ध में श्री गोलवलकर जी ने जो धारणा प्रकट की है, वह स्पष्ट है। उनका कहना है कि 'जाति एक परंपरागत समाज को कहते हैं, जिसके आचार, भाषा तथा वैभव अथवा विनाश की स्मृतियाँ समान होती हैं। संक्षेप में यह एक जन-समुदाय होता है, जिसका उद्भव समान एक-संस्कृति की छाया में होता है। इस प्रकार की जाति को राष्ट्र का एक अंग कहते हैं।"

वस्तुत: जाति की जो भी शास्त्रीय परिभाषाएँ हैं, उनसे उपर्युक्त परिभाषा का कोई मेल नहीं मिलता। आचार, भाषा, कला आदि परिवर्तनशील वस्तुएँ हैं, उसके आधार पर नित्य वस्तु जाति निर्भर नहीं कही जा सकती हिन्दुओं के आचार तथा भाषा में परस्पर महान् भेद है। एक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के आचारों में बड़ा अन्तर हैं। 'संस्कृत भाषा ही सबकी भाषा है' यह कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। शास्त्र की दृष्टि से भी संस्कृत द्विजातियों की ही भाषा कही गयी है। कई लोगों के लिए तो संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी निषिद्ध है। **'नोच्चरेत् संस्कृतां गिरम्'** (स्कन्द-पुराण)। यही कारण है कि नाटकों में प्राकृत का प्रयोग अबाध रूप से होता है। अतएव धर्म के आधार पर ही 'हिन्दूजाति' का व्यवहार उपयुक्त है। 'कुरान' के अनुसार जैसे इस्लाम-धर्मानुयायी मुसलमान होता है, 'बाइबिल' के अनुसार जैसे खिस्तधर्मानुयायी ईसाई होता है, वैसे ही हिन्दूशास्त्र-वेद एवं वेदानुयायी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुसार हिन्दू-शास्त्रोक्त धर्म-विश्वासी ही हिन्दू होता है। यही एक ऐसी परिभाषा है, जिसके अनुसार हिन्दूजाति की सभी श्रेणियां उसमें अन्तर्गत हो सकती हैं। साथ ही अन्यान्य चाहे जो कोई लोग भी हिन्दू जाति के भीतर एक अन्त्यज या मानव-श्रेणी में आ सकते हैं, यद्यपि 'जन्मना वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणादि श्रेणियों में किसी अन्य का सन्निवेश नहीं हो सकता।

श्री गोलवलकर जी लिखते हैं कि 'चाहे उस (राष्ट्र) में कुछ लोगों का मूल विदेश ही हो, उन्हें इस मातृजाति में इस प्रकार मिल जाना चाहिए जो अलग किये ही न जा सकें। उन्हें मौलिक राष्ट्रिय जाति के साथ केवल आर्थिक, राजनीतिक जीवन में ही एक होना आवश्यक नहीं, वरन् उसके धर्म, संस्कृति और भाषा में

भी एक हो जाना चाहिए। अन्यथा वे राष्ट्र कलेवर का अंग नहीं हो सकते। यदि मातृजाति नष्ट हो जाती है, तो उन मनुष्यों का नाश होने पर जिनके सम्बन्ध से वह बनी है अथवा उसके आधारभूत सिद्धान्तों तथा धर्म-संस्कृति के नाश हो जाने पर तो राष्ट्र का स्वतः अन्त हो जाता है।"

वस्तुत: 'आकृतिग्रहणा जातिः' (म० भाष्य ४।१।६३) अर्थात् अनुगत एक प्रत्ययगम्य संस्थान–आकृति-व्यंग्य या उपदेशगम्य जाति शरीर के रहते हुए वह बदल नहीं सकती। मृत श्वान के शरीर को भी श्वान ही कहा जाता है। इस प्रकार की जाति में अन्य जाति के लोगों का सन्निवेश किस तरह हो सकता है, यह विचारणीय है। गोलवलकर जी ने 'समानप्रसवात्मिका जातिः' इस परिभाषा पर बड़ा जोर दिया है, लेकिन वह मात्र कल्पना है। उनकी दृष्टि में इस न्यायसूत्र के अनुसार एक प्रकार के जन्मवाले एक जाति के समझे जाने चाहिए। परन्तु वनस्पति और पशु दोनों प्रकार के प्राणी किसी न किसी प्रकार अपने पूर्वज के शरीर से उत्पन्न होते हैं, फिर तो सबकी जाति एक ही है जो माता-पिता के शुक्र-शोणित से सबकी उत्पत्ति होती है, अतः मनुष्य, सिंह, साँप सभी को एक जाति का माना जाना चाहिए। कुछ संकीर्ण दृष्टि से देखने पर दूध पीनेवाले मनुष्य, कुत्ते, ऊँट, चूहे, गधे आदि में भी प्रसवभेद नहीं दिखाई देता। फिर तो किसी की पृथक्-जाति-कल्पना ही नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः उक्त न्याय सूत्र का अर्थ यह है कि समान बुद्धि का प्रसव करने वाला गोत्व आदि धर्म ही जाति है। उसी के द्वारा गौः गौः इत्याकारक समानबुद्धि सर्वजो व्यक्तियों में होती है।

'विचारदर्शन' पुस्तक में वर्ण-व्यवस्था की बात मानी गयी है और वर्ण-व्यवस्था के अनुसार 'ज्ञानदान, शत्रु संहार, कृषि-वाणिज्य' आदि कर्मों की व्यवस्था भी मानी गयी है। परन्तु इतना ही नहीं, जीविकार्थ कर्मों के अतिरिक्त अदृष्टार्थ भी अनेक कर्म होते हैं। उनमें व्यवस्था है। याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह, वाजपेयादि ब्राह्मणों के कर्म हैं। याजन, अध्ययन, दान तथा राजसूय, वैश्यस्तोमादि में क्षत्रिय, वैश्य आदि का अधिकार है।

कहा जाता है कि 'संघी एवं सभाई दोनों ही वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं'। परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। एक ओर वे राम, कृष्ण आदि अवतारों को भी मानते हैं, मंदिर-प्रवेश, मूर्ति-पूजन आदि का समर्थन करते हुए अपने को 'सनातनी' कहते हैं, और दूसरी ओर 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' न मानकर 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का पोषण करते हैं। श्री गोलवलकर जी तथा हिन्दू-सभा जन्मना मुसलमानों को शुद्धि द्वारा हिन्दू बना लेने के पक्ष में हैं। इनके अनुसार कोई भी शुद्ध मुसलमान ब्राह्मण, क्षत्रिय बन सकता है। जन्मना ब्राह्मण के साथ विवाहादि कर

सकता है। इस प्रकार रक्तसांकर्य तथा वर्ण-सांकर्य होना स्वाभाविक है। श्री कृष्ण एवं कौटल्य वर्णसंकरता को राष्ट्र-विप्लवकारी तथा कुल-विनाशकारी बतलाते हैं। श्रौत-स्मार्त सभी धर्म-कर्म 'जन्मना वर्ण'-मूलक ही है। ा वर्णव्यवस्था अनिश्चित एवं अव्यवस्थित है। दिन भर में कितनी ही बार वर्णव्यवस्था बदल सकती है। घर की सफाई करते हुए अन्त्यज, घर का काम करते हुए शूद्र, सौदा खरीदते हुए वैश्य, कुत्ता हटाने के लिए दण्ड हाथ में लेते ही क्षत्रिय, पूजा-पाठ करते हुए ब्राह्मण बन जाना सहज बात है?

वर्णाश्रमानुसार ही सब श्रेणी के लोगों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, कर्षक, मोची, कोरी, डोम आदि) में भी भक्त ज्ञानी हो सके थे, सब सहभोजन, सहपान, कर, वर्णभेद मिटाकर नहीं। सभी सन्त महात्मा शास्त्र मर्यादा पालन पर ही जोर देते आये हैं। मनमानी सामान्य स्तर का उन्नत करना उचित नहीं। आपको २९ पृ० की बातें असंगत ही हैं।

वैसे भी त्रिगुणात्मक संसार में सर्वथा समानता नहीं हो सकती। वशिष्ठ, गर्ग, गौतम जैसे सब ब्राह्मण नहीं हुए। मान्धाता, दिलीप जैसे सब क्षत्रिय नहीं, तुलाधार जैसे सब वैश्य नहीं, विदुर जैसे सब शूद्र नहीं, धर्मव्याध जैसे सब अन्त्यज भी कभी नहीं हुए। भारत में ही अनादिकाल से हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, शुंभ, निशुंभ, महिषासुर, रावणादि जैसे लोग भी होते ही आये हैं। उनका काम सामनीति तथा ज्ञान-विज्ञान एवं शिक्षा से नहीं चल सका था। वे स्वयं भी वेद वेदान्तादि दर्शनों के विद्वान् थे, अध्यात्मवादी थे। ठीक ही कहावत है कि यदि साक्षर विपरीत होते हैं तो वे राक्षस हो जाते हैं—"साक्षराविपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्"। तभी तो अनादिकाल से दण्डनीति का भी विधान है। ब्रह्माजी ने जो महान् तत्त्वज्ञानी थे, एक लक्ष अध्यायों का नीतिशास्त्र प्रजा को प्रदान किया था। अतः परमार्थतः सर्वत्र अजर अमर शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्मात्मा का अनुभव करते हुए भी व्यवहार के लिए धर्मशास्त्र एवं नीति का ही अवलम्बन करना युक्त है—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतंभजन हेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तुमुक्तिशताधिका॥
(बोधसारे)

राष्ट्रियता का भाव

आपने लिखा है कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने मुसलमानों को लिखित आश्वासन दिया था कि उनकी धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखते हुए स्वराज्य मिलने पर गोवध पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायगा, "यद्यपि कुरान में गोवध के लिये स्वीकृतिसूचक एक भी शब्द नहीं है" (पृ० १४७)। परन्तु इसका भी

एक मात्र कारण था कि उनको वेदादिशास्त्रों एवं शास्त्रीय धर्म में कोई विश्वास एवं आस्था नहीं थी। इसीलिये मुस्लिम तुष्टीकरण के लिए गाय की हत्या मंजूर की, और देश का बँटवारा भी स्वीकार किया। विजातियों से पुत्री का विवाह किया।

वस्तुतः जो परंपराप्राप्त शास्त्रों का प्रामाण्य एवं तदुक्त धर्म नहीं मानता उसके लिये गाय, बकरी एवं गर्दभी में क्या भेद है? हिन्दू मुसलमान में कुलप्रसूत और जारजात में क्या भेद हो सकता है? मंदिर की मूर्ति म्यूजियम की मूर्ति में क्या भेद? और तो क्या उनकी दृष्टि में तो पुत्री, पत्नी, भगिनी आदि का भी भेद सिद्ध नहीं होता है। अतः सर्वानर्थ का मूल शास्त्र का अनादर ही है। अगर आप भी शास्त्रों के प्रामाण्य से भाग जाते हैं तो वे सब अनर्थ आपसे भी हो सकते हैं। कारण स्वेच्छाचारिता का नियामक शास्त्र ही है। उसके अनादर से स्वेच्छाचारिता फैलती ही है।

किसी नेता की "बिना हिन्दू मुस्लिम एकता के स्वराज्य नहीं हो सकता और उसका सरल मार्ग है सभी हिन्दू मुसलमान हो जायँ", इसी उक्ति की समालोचना करते हुए आप कहते हैं :—

"वह हिन्दू-मुस्लिम एकता न होकर मुसलिम एकता होगी। क्योंकि हिन्दू तो रहेंगे ही नहीं, परन्तु यदि आपको भी हिन्दू शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म नहीं मान्य है, तो आपका वह निराधार निष्प्रमाण मनःकल्पित हिन्दू भी हिन्दू मुसलमान अंग्रेज, फ्रेंच आदि विभिन्न जातियों की खिचड़ी जाति संकर (मिक्सचर) ही होगा। उसकी अपेक्षा तो साधारण प्रामाणिक मुसलमान ही अच्छा है। जैसे कांग्रेसी नेताओं पर विश्वास करके श्रद्धालु स्वतंत्रता प्रिय हिन्दुओं ने अपने हितों का बलिदान किया, (पृ० १४७,१४८) वैसे ही आप भी गुरु जी बनकर गुरुपूर्णिमा की पूजा कराकर श्रद्धालु हिन्दुओं का अनादि परंपराप्राप्त शास्त्रों पर से विश्वास मिटाकर शास्त्रीय वर्णाश्रम मर्यादा मिटा रहे हैं और श्रद्धालु हिन्दू जनता आपके गुरु दंभ पर विश्वास करके अपने परमादरणीय शास्त्रों एवं धर्मों का बलिदान कर रही है।

आश्चर्य है कि हिन्दू में मुस्लिम रक्त प्रवेश पर आप उत्तेजित होते हैं, इसे निर्लज्जता कहते हैं (पृष्ठ १४८) परन्तु उसी मुस्लिम रक्त प्रवेश के लिए मुसलमानों के लिए अपने घर का द्वार खोल कर स्वागत करते हैं और दीपावली पर्व मनाने को तैयार हैं, यदि मुसलमानों का भोजन करने में, मुसलमान को लड़की देने में परहेज नहीं है तो बात एक ही है, चाहे मुसलमानों में मिल जाओ या मुसलमानों को अपने में मिला लो। चाहे चाकू पर खीरा डालो या खीरे पर चाकू डालो, परिणाम एक ही होगा। शास्त्रीय परंपरा आप मानते ही नहीं, अशास्त्रीय मनःकल्पित आचारों का कोई भी प्रामाणिक महत्त्व ही नहीं है—फिर हिन्दू-मुस्लिम नाम मात्र के विवाद में विद्वानों का आग्रह ही क्यों होगा।

याद रहे कि शास्त्रीय हिन्दू, मुसलमानों का ही नहीं सारे संसार के सभी मनुष्यों का स्वागत करने को तैयार रहें, परंतु शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुसार ही मानवमात्र शास्त्रोक्त सत्य, भक्ति, ज्ञान आदि पूर्वोक्त मानव-धर्म का पालन करने में हिन्दू हो सकता है। परन्तु उसका खानपान-विवाह आदि उन-उन श्रेणियों में ही होगा। अतः रक्त-सांकर्य वर्ण-सांकर्य जैसे राष्ट्र विप्लावक जघन्य अन्यायों पापों के विस्तार का अवकाश ही न रहेगा। फलतः जन्मजात विशुद्ध हिन्दुत्व एवं ब्राह्मणत्वादिक सुरक्षित रहेगा। अपने शास्त्रों एवं आर्ष इतिहासों को भूल जाने या ठुकरा देने के ही कारण पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों द्वारा गढ़े हुए मिथ्या इतिहासों के ही आधार पर कांग्रेसी नेताओं ने मुसलमानों एवं अंग्रेजों जैसा ही हिन्दुओं को भी भारत में बाहर से आने वाला समझा, फिर उसका परिणाम वही होना था, जो हुआ। जब हम सभी बाहर के ही हैं, अनादि काल से हम भारतीय थे ही नहीं, तो फिर बँटवारे के अतिरिक्त झगड़ा मिटाने का रास्ता ही और कौन रह जाता है ?

आप यह भी कहते हैं कि संसार में हिन्दुओं के समान अभागा कोई न होगा। भिन्न-भिन्न समाज के नेताओं ने सदैव अपने समाजों में आत्मविश्वास निविष्ट करके उनकी शिथिल होती हुई चेतना को जागृत करने में शत्रुओं के सामने उन्हें विजयी एवं वीर्यवान् बनाने का पूर्ण शक्ति से प्रयत्न किया, किन्तु यहाँ हमारे ही नेता थे, जो मानों अपने समाज का समस्त पौरुष क्षय करने की प्रतिज्ञा लिए हों······अपना व्यक्तिगत बड़प्पन चमकाने के लिए स्वतंत्रता को विदेशियों के हाथ बेच अपने जाति-बन्धुओं का गला काटने के लिए अपने देश तथा धर्म के चिरकालिक शत्रुओं के हाथ से हाथ मिलाया (वि० न० पृ० १४९)। परन्तु आप भी तो वैसा कर रहे हैं। जो वेद रामायण, महाभारत, मन्वादि धर्मशास्त्र, एवं दर्शन तथा तदनुसार वर्णव्यवस्था भोजन-पान विवाहादि मर्यादायें करोड़ों भारतीयों के लिए परमादरणीय एवं परमपूज्य रही हैं आप उनका अनादर करके उनके स्थान पर नया धर्म, नयी राष्ट्रियता चलाकर प्रजा का अहित कर रहे हैं। ईसाई, मुसलमान नेता अपने अपने धर्मग्रंथों एवं तत्तदनुसारी परंपराओं का गुणगान करते हैं। पाकिस्तान रेडियो कुरानशरीफ की आयतों का महत्त्व वर्णन करते हुए प्रतिदिन उसकी विशद व्याख्या करता है, पर आप कहते हैं कि अगर हम भी किसी एक पुस्तक को अपना आदर्श या आधार मानने लगेंगे तो उनसे हमारी विशेषता ही क्या रह जायगी ? वेद, रामायण आदि सद्ग्रंथों के तात्पर्य विषयीभूत परमेश्वर तथा कोटिकोटि हिन्दुओं के पूज्य एवं आदर्श राम और कृष्ण को परमेश्वर मानकर मातृभूमि का पुत्र कहते हैं और उनको आदर्श मानते हैं फिर उदार बनने की धुन में कांग्रेसी भी संसार के नेताओं से चार हाथ ऊंचा बनने के लिए देश के शत्रुओं से हाथ मिलायें तो क्या आश्चर्य है ? तुष्टीकरण से क्षुधा तीव्र

होती है (वि० न० पृ० १५०)। यह ठीक ही है, इसी आधार पर हम धर्मसंघ के लोगों ने बार-बार कांग्रेस तथा नेहरू को चेतावनी ही नहीं दी किन्तु सन् १९४७, २८ अप्रैल से प्रत्यक्ष सत्याग्रह आंदोलन भी आरम्भ किया था जिसमें अनेक महापुरुषों का बलिदान भी हुआ, पर आपलोग यह सब जानते हुए भी चुप बैठे थे। अस्थिरमति कांग्रेसी धर्म एवं शास्त्र से विमुख होने के कारण ही भूल करते गये और अपने ही सिद्धांतों एवं घोषों के विरुद्ध देश का विभाजन कराया। जिसके फलस्वरूप हिन्दू मुसलमान दोनों ही को भीषण धन, जन, शक्तिक्षय तथा अपमानों का सामना करना पड़ा। यह ठीक ही है कि हिन्दू ही भारत के राष्ट्रिय हैं (वि० न० पृ० १५३), पर वह हिन्दू तभी हिन्दू है, जबकि भारतीय शास्त्रों एवं परम्पराओं के अनुसार हो। परन्तु शास्त्र एवं धर्म से विमुख मिक्सचर या संकर हिन्दुओं का राष्ट्र एवं कांग्रेसियों का राष्ट्र तो एक ही है, नाममात्र को छोड़कर उसमें कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में आपके समान ही कांग्रेसी भी आपके ही शब्दों में "इण्डियन फिलासफी तथा इण्डियन आर्ट" तथा उपनिषदों एवं कालिदास आदि का गौरवपूर्वक (पृ० १५५) नाम लेते हैं। आप भी ऋषियों, महर्षियों, दर्शनों एवं हिन्दुत्व का नाम लेते हैं परन्तु यह सब क्या है, और इसका क्या आधार है? यह पूछने पर आप कुछ भी प्रामाणिक उत्तर नहीं दे सकते। शास्त्रों के प्रमाण्य को आप सर्वथा अस्वीकार कर ही देते हैं। कौटल्य अर्थशास्त्र की आपने भूरि भूरि प्रसंशा की है, परन्तु उसका भी प्रामाण्य मानने को तैयार नहीं है, यही हाल कांग्रेसियों का भी है।

'सोमनाथ के मंदिर का उद्धार हुआ, स्थापना संस्कार भी हुआ, और कई सौ वर्ष की दासता का कलंक धुल गया" (पृ० १५६)। 'कांग्रेसियों के इस कथन से आपने यह सिद्ध किया कि यह हिन्दू राष्ट्र है। मुसलमान आक्रामक होकर यहाँ आये, यह ठीक है। परन्तु सोमनाथ परमेश्वर हैं, ज्योर्तिलिंग हैं, उनकी प्रतिष्ठा या संस्कार होना आवश्यक था। यह आपने और कांग्रेसियों ने किस प्रमाण से निश्चय किया है? क्या हिन्दू शास्त्रों के बिना किसी पत्थर की मूर्ति में परमेश्वर होने की कल्पना की जा सकती है? शास्त्रों का नाम लेने से आप दोनों ही चुप हो जाते हैं। सोमनाथ के संस्कार के प्रसंग में मेरे पास भी निमंत्रण आया था, और मुझसे कहा गया कि आप अपने विद्वानों के साथ अवश्य आइये। मैंने लिखा कि मैं प्रसन्नता से इस निमंत्रण को स्वीकार करता हूँ, परन्तु इस शर्त पर कि वहाँ विद्वान सम्मेलन में इस बात पर विचार किया जाय कि मूर्तिपूजा एवं मूर्ति प्रतिष्ठा का आधार क्या है? मंदिरों की मर्यादा क्या है? उसका पालन कैसे किया जाय? उसमें किनका कैसे प्रवेश हो? और किनका नहीं? इस पर वे लोग चुप हो गये। आपलोग अर्ध कुक्कुटी न्याय से प्राचीनता की एक टांग पकड़ लेते हैं और अन्य छोड़ देते हैं, या काट भी देते हैं।

मिथ्या वस्तु को भी बार बार दुहराने से भ्रान्ति होती है। अतः उसको मिटाना आवश्यक है (पृ० १६१)। आपने भी सत्य प्रकट करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता बतायी। और इसके सम्बन्ध में भी आपने शास्त्रों एवं गीता का नाम लिया है (पृ० १६१)। पर आप यद्यपि शास्त्र और गीता का कांग्रेसियों की तरह नाम तो लेते हैं और अपने काम लायक अंश को ग्रहण भी करते हैं, अपनी बात मनवाने के लिए उनके आधार पर प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु परम प्रमाण शक्ति को ही मानते हैं। इसीलिये गीता के ११वें अध्याय द्वारा प्रदर्शित विश्वरूप की शक्ति को ही आपने महत्त्व दिया है और आपके अनुसार, अर्जुन तुरन्त कहता है, हाँ अब मैं समझ गया (पृ० १६१)। परन्तु क्या पिछले १० अध्यायों एवं अगले पांच अध्यायों के सब प्रश्नोत्तर निरर्थक हैं ?

वस्तुतः दर्शन का एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि शक्ति कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु वह स्वयं भी प्रमाण से ही सिद्ध होती है। डाकुओं की शक्ति भी शक्ति है, आसुरी, तामसी शक्ति भी शक्ति है। दैवी शक्ति ईश्वरीय शक्ति भी शक्ति है। प्रमाणों के आधार पर आसुरी शक्ति का मुकाबला करने के लिए दैवी या ईश्वरीय शक्ति का आश्रयण करना पड़ता है।

यह ठीक है कि हमारे नेताओं के प्रमाद से ही पाकिस्तानियों का देश का बंटवारा करने का प्रथम पग सफल हुआ। काश्मीर पर आक्रमण का दूसरा पग भी अंशतः सफल हुआ। आज भी एक तिहाई काश्मीर पर उनका कब्जा है (१६५)। आसाम त्रिपुरा की ओर भी उनका योजनाबद्ध प्रोग्राम चल रहा है।

हमारा वर्तमान नेतृत्व उनकी इन कार्यवाहियों पर कठोरतापूर्वक प्रतिबन्ध लगाने के लिए अति दुर्बल है (१६७)। यह भी ठीक है कि मुस्लिमवर्ग का वोट प्राप्त करने के लिए भी कांग्रेस मुस्लिम तुष्टीकरण नीति को अपनाती (१६८), ठीक है।

भारतीय नीतिशास्त्रों एवं धर्म तथा न्याय की उपेक्षा के कारण ही भारत में अगणित छोटे-छोटे पाकिस्तान बन गये हैं और निरपराध हिन्दुओं के साथ अन्याय भी हुआ। राष्ट्रिय कहलानेवाले मुसलमान भी पाकिस्तानी नींव के भीतर से पोषक रहे हैं और अब भी हैं। इसी प्रकार ईसाई लोग भी भाँति-भाँति की रहस्यपूर्ण एवं क्षुद्र युक्तियों से धर्मान्तरण के प्रयत्न में संलग्न हैं (१७८)।

नागालैण्ड की स्थापना से ईसाई प्रसारवाद को अधिकाधिक बढ़ावा मिला है। भारत में ईसाई साम्राज्य स्थापित करने की ईसाई योजना से अवश्य ही हमारी आँखें खुलनी चाहिएं, और उसका अवश्य ही समुचित उपाय होना चाहिए। पहाड़ी राज्य एवं झारखण्ड राज्य की माँग भी

ईसाई षडयंत्र की ही अभिव्यक्ति है। ईसाई मिशन एवं मुस्लिम लीग के समझौते के अनुसार दोनों ही मिलकर भारत को पाकिस्तान, ईसाइस्तान बना लेना चाहते हैं। ये सब बातें अवश्य सही हैं। शास्त्र और धर्म से विमुख नेताओं के हाथों में शासन सत्ता बनी रही तो यह असम्भव नहीं है। इसीलिए बड़ी तत्परता के साथ शास्त्रनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा के लिए काम होना चाहिए।

ईसाई, मुसलमान दोनों अपने धर्मग्रन्थों में एवं स्वार्थों में स्थिर निष्ठा रखते हैं। नास्तिक एवं सुधारक हिन्दू नेता लोग शास्त्रों एवं शास्त्रोक्त धर्मों में विश्वास नहीं करते हैं। अतएव उनकी गतिविधियों एवं व्याख्यानों, लेखों द्वारा हिन्दू धर्म एवं शास्त्रों के प्रति श्रद्धा हो व्यक्त होती है।

धर्मान्ध ईसाइयों के द्वारा किये गये धर्मान्तरण तथा देवी-देवताओं का अपमान तथा मन्दिरों का विध्वंस भी नास्तिक या सुधारक हिन्दू नेताओं के लिए उद्वेगजनक नहीं होते, क्योंकि उनकी दृष्टि में तत्तन्माहात्म्यबोधक धर्मपुस्तकों का प्रामाण्य ही नहीं। शास्त्र प्रामाण्य बुद्धि बिना देवी-देवताओं एवं मन्दिरों का भी कुछ महत्त्व नहीं होता। हिन्दुओं के धर्मान्तरण से भी उनको वस्तुतः पीड़ा नहीं होती, किन्तु वे तो केवल राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू संख्या के ह्रास के भय से ही ईसाइयत एवं इस्लामियत का विरोध करते हैं। क्योंकि हिन्दू संख्या के ह्रास से उनका नेतृत्व एवं प्रधानता संकटग्रस्त हो सकती है।

शास्त्रविश्वास एवं वर्णव्यवस्था में शिथिलता आने से ही ईसाइयों, मुसलमानों को अपना मत प्रचार करने म सुविधा होती है। इसीलिये मैक्समूलर ने अपने किसी सम्बन्धी को भेजे गये पत्र में लिखा था कि ऋक् संहिता का एक सरल संस्करण मैं इसलिये प्रकाशित कर रहा हूं, जिससे ईसाइयों को हिन्दू धर्म की कमजोरी दिखाकर ईसाइयत का प्रचार करने में सुविधा होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिन वेदों पर हिन्दू धर्म का विश्वास है, उनकी पौरुषेयता और उन्हें साधारण गाय-भेंड़ चरानेवालों का गीत बताकर उनके मन चाहे ऊल-जुलूल अर्थ बताकर उनके प्रति अश्रद्धा अविश्वास उत्पन्न कर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म से विचलित किया जा सकता है अन्यथा नहीं। इसीलिए तो आज भी ईसाई मिशनरियाँ प्रयत्न करके ईसाई प्रचारकों को संस्कृत पढ़ाकर वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, दर्शन आदि का गंभीर ज्ञान प्राप्त कराने पर बल दे रही हैं। हिन्दू विद्वानों, आचार्यों से शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित करके ईसाइयत फैलाना चाहती हैं। दुर्भाग्यवश आपलोग शास्त्रों के प्रामाण्यवाद को ठुकराकर अपनी मनःकल्पित बालू की दीवार पर हिन्दुत्व को स्थापना करके समाज की रक्षा का स्वप्न देख रहे हैं। वेदादि शास्त्रों पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था हमलोगों का एक महान् दुर्ग था, उसी के

आधार पर भारत अपनी रक्षा करता आ रहा था। बौद्धों द्वारा वर्णव्यवस्था पर भीषण प्रहार किया गया था। भारत ने इसी के बल पर बौद्धों का मुकाबला किया था, और बौद्धों को भारत से बाहर ही जाकर अपना धर्मविस्तार करना पड़ा। जैन भी वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी होते हुए भो व्यवहार में वर्णानुसार ही आचार बनाये रहे, इसलिए यहाँ रह सके।

यूनानी सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, परन्तु हमारी सामाजिक व्यवस्था के कारण ही उसे पराजित होकर यहाँ से भागना पड़ा।

श्री विन्सेटस्मिथ ने अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया' में लिखा है कि सिकन्दर का आक्रमण सैनिक आक्रमण ही रहा, भारत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लड़ाई के घाव शीघ्र ही भर गये। नष्ट हुये खेत फिर से लहलहा उठे, किसान फिर से अपने काम में जुट गये, घटी हुई जनसंख्या फिर पूरी हो गयी। भारत यूनान न बन सका और पुराना जीवन ज्यों का त्यों व्यतीत करने लगा। यूनानी आक्रमण का तूफान वह शीघ्र ही भूल गया।

आया था सिकन्दर भारत को यूनान बनाने, परन्तु वह लौटा भारत का शिष्य बनकर। यूनान की उस संस्कृति पर भारत की संस्कृति की ही छाप पड़ी जिसका उस समय पश्चिम यूनान में बोलबाला था।

यूनान के बाद हूण, शक, आदि अनेक जातियाँ आक्रामक के रूप में यहाँ आयीं परन्तु भारतोय समाज पर उसका कोई असर नहीं पड़ सका। अरब तथा तुर्क, मुगल, आदि मुसलमान भी आक्रामक के रूप में आये। उनका धीरे-धीरे यहाँ साम्राज्य भी स्थापित हो गया। तलवार के बल पर इस्लाम, योरप, चीन तथा एशिया के बहुत बड़े भागों में फैल गया। परन्तु जहाँ अन्य देशों के धर्मकर्म संस्कृतियाँ लुप्तप्राय हो गयीं, वहाँ भारत अपने दृढ़ शास्त्रों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था के बल पर जीता ही नहीं रहा बल्कि मुकाबला भी करता रहा। अन्त में मुसलमानों को उससे समझौता करना पड़ा। दोनों अपने-अपने धर्म संस्कृति में स्थिर रहते हुए भी रोटी बेटी का सम्बन्ध न करते हुए भी परस्पर सहयोग करने लगे थे।

साहित्य कला आदि में आदान-प्रदान करते हुए भो अपने धार्मिक आचरण में दोनों ही अडिग रहे।

पाश्चात्य अंग्रेजी शासनकाल में ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने छल-छद्म से भारतोय संस्कृति एवं धर्म पर प्रहार करना प्रारंभ किया। अपने सम्राज्य की नींव सुदृढ़ करने के लिए मानसिक विजय का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया।

मैकाले की शिक्षा-योजना ने हमारे अनेक सांस्कृतिक दुर्गों को ढहा दिया। मैकाले का कहना था कि हिन्दू धर्म के प्रत्यक्षरूप से खण्डन की आवश्यकता नहीं है।

अंग्रेजी शिक्षा से तीस वर्ष में बंगाल में एक भी मूर्तिपूजक न बचेगा। यद्यपि उसकी यह इच्छा तो नहीं पूरी हो सकी, परन्तु उससे हमारे शास्त्रीय एवं धार्मिक विश्वासों की जड़ अवश्य हिल गयी। आज संस्कृति एवं हिन्दुत्व का नाम लेने वाले लोग भी शास्त्र एवं शास्त्रोक्त आचार-विचार से विमुख हो गये। हिन्दुओं की अपने शास्त्रों, धर्मों एवं शास्त्रीय संस्कृति में अभिमान एवं श्रद्धा मिटा देना ही उस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था।

फ्रांसीसी पादरी डोवाय ने जो दक्षिण भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने आया था, अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है कि मेरी विफलता का कारण यहाँ की वर्णव्यवस्था ही है।

सर जार्ज वर्ड वुड ने बहुत दिनों तक भारत में उच्च पदों पर काम किया था। उनके लेखों का संग्रह 'स्व' नाम से सन् १९१५ में प्रकाशित हुआ था। जिसे उन्होंने भारत के चारों वर्णों को, जो उनके शब्दों में 'हिन्दू भारत के आत्मा की नौका है' समर्पण किया है। उसमें उनका कहना है कि जब तक हिन्दू वर्णव्यवस्था अपनाये हुये हैं तभी तक वह भारत है। जिस दिन वे इससे अलग हुए कि फिर भारत हिन्दुओं का भारत न रह जायगा। तब उस प्राचीन वैभवशाली प्रायद्वीप का पतन होकर अंग्रेजी साम्राज्य का एक पूर्वी कोना मात्र रह जायेगा। (सिद्धांत सं० १२ ता० २५)।

वर्ण व्यवस्था के कारण ही ईसाई मिशनरियों को यहाँ सफलता नहीं मिली। १९०८ में ईसाई कांग्रेस की रिपोर्ट में लिखा गया है कि चर्च को उन हिन्दू सुधारकों की सहायता करनी चाहिए, जो जाति-बन्धन ढीला करने के प्रयत्न में लगे हैं।

सर चार्ल्स इलियट ने अपने 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि 'छिन्न-भिन्न करने की अपेक्षा जैसा कि बहुत यूरोपीय विद्वानों का मत है कि वर्ण व्यवस्था भारत के इतिहास में एकता की सबसे बड़ी शक्ति रही है। ढाई हजार वर्ष तक इसने कितने ही आक्रमणों का मुकाबला किया, और समाज को तरह-तरह के विघटनों से बचाया। इसकी उपयोगिता इसी में है कि इसने उन सामाजिक सिद्धांतों को जो जनसाधारण के प्रतिदिन के जीवन में व्यक्त होते हैं, सुरक्षित रखा है। सुरक्षा की दृष्टि से हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था एक सुदृढ़ तथा सबसे स्थायी संस्था है। आज हमारे देश में अनेक सुधारक संघटन हैं। जिनको ईसाइयों द्वारा पर्याप्त सहायता इसलिए दी जाती है कि वे पूरी शक्ति से वेदादि शास्त्र विश्वास एवं शास्त्रों पर आधारित वर्णव्यवस्था एवं धर्म को मिटाने का प्रयत्न करें; क्योंकि तब ईसाइयों को अपने मत प्रचार तथा हिन्दुओं को ईसाई बनाने में बड़ी सुविधा हो जायगी। आपने भी यह माना ही है कि जहाँ बौद्धों के धर्म-प्रचार से

वर्णव्यवस्था एवं जाति-पाँति के बन्धन ढीले पड़ गये थे, वहाँ ही इस्लाम सफल हुआ और जहाँ वर्णव्यवस्था दृढ़ रही वहाँ उसका प्रभाव नगण्य ही रहा है। आश्चर्य है कि फिर भी आप अपने संघटन द्वारा शास्त्र विश्वास और वर्णाश्रमानुसारी जाति-पांति तथा रोटी-बेटी के नियम नष्ट करने में पूरी शक्ति से जुटे हुए हैं।

वस्तुतः शास्त्र प्रामाण्य एवं शास्त्रानुसारी वर्णाश्रम व्यवस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा ही धर्मान्ध ईसाई एवं मुसलमानों के षड्यंत्रों का पूर्ण उत्तर है। उसी से सुदृढ़ दार्शनिक, शासक, सेनानी, नीतिज्ञ उत्पन्न होंगे। उसी से समस्त विरुद्ध शक्तियों का मुकाबला किया जा सकेगा।

आगे आपने कम्यूनिज्म के खतरे की चर्चा की है, यह तो ठीक ही लिखा है कि इस देश में पाश्चात्य ढंग की जनतांत्रिक रचना को अपनाया गया है। किन्तु इतने वर्षों के प्रयोग के बाद उसके हितकर फलों को प्राप्त करने में समर्थ न हुआ, जनता की सामूहिक इच्छा का प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वास्थ्यकर स्पर्धाओं को तथा स्वार्थों एवं विच्छेद की शक्तियों को बढ़ावा दिया है। हमारे देश में जनतंत्र की गंभीर असफलताओं में कम्यूनिज्म की बढ़ती हुई विभीषिका है जो कि जनतांत्रिक विधान की मानी हुई शत्रु है। (१८५)।

यह भी ठीक है कि इस देश के शासक जनतांत्रिक समाजवाद के नाम पर कम्यूनिष्टों का पूरा अनुकरण कर रहे हैं। और यह भी ठीक है कि देशभक्ति चरित्र एवं ज्ञान बिना केवल आर्थिक विकास ही कम्यूनिज्म से बचने का उपाय नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु शास्त्र एवं धर्मनिष्ठा ही मुख्य रूप से कम्यूनिज्म को रोकने का उपाय है। इसके साथ ही आर्थिक विकास भी अवश्य सहायक होगा।

यह ठीक ही है कि जब निष्ठा चली जाती है, कम्यूनिज्म आता है (पृ० १८७)। रोटी बिना प्राणी कुछ दिन जी भी सकता है, परन्तु निष्ठा बिना मनुष्य नहीं रह सकता और वह निष्ठा भी निराधार निष्प्रमाण निष्ठा नहीं, किन्तु वेदादि शास्त्रोक्त प्रामाणिक धर्मनिष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा ही प्राणी के जीवन का लक्ष्य होती है। उसी के लिए प्राणी जीना या मरना भी पसन्द करता है।

प्रत्यक्ष एवं अनुमान से हम जिन वस्तुओं को नहीं समझ सकते, उन्हीं को बताने के लिये वेदादि शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है :—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥' श्लोक वार्तिक।

जैसे नेत्र के बिना रूप का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही वेदादिशास्त्रों के बिना धर्म ब्रह्म को जाना नहीं जा सकता। इसीलिए गीता में भगवान् ने भी यही कहा है कि जो शास्त्र-विधान छोड़कर प्रत्यक्षानुमान या तर्क के आधार पर बर्ताव

करता है, वह सुख-शांति-सिद्धि कुछ भी नहीं पाता है। इसलिए अर्जुन तुम, शास्त्रीय विधान के अनुसार ही कर्तव्य कर्म करो :—

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्यांकार्य व्यवस्थितौ
ज्ञात्वाशास्त्र विधानोक्तं कर्मकर्त्तु मिहार्हसि ॥

केवल कुछ दृष्टांतों, विश्वासों, तर्कों के आधार पर धर्म या संस्कृति की सिद्धि नहीं होती, और न कोई सुस्थिर निष्ठा ही होती है :—

पृथिव्यैसमुद्रपर्यन्ताया एकराट् ।
'उत्तरंयत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैवदक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारतीयत्र संततिः ॥'

जो समुद्र से उत्तर एवं हिमालय से दक्षिण का देश है, भारतीय जनता जिसमें निवास करती है, वह भारत है। राजर्षि भरत के सम्बन्ध से इसका नाम भारत हुआ। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की है, प्रायः लोग समझते हैं कि यहाँ भरत से अभिप्राय दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत से है, पर ऐसी बात नहीं जिन भरत के नाम पर देश का नाम भारत पड़ा वे ऋषभदेव के पुत्र थे। जो अपनी घोर तपस्या के कारण जड़ भरत के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भारत नाम पड़ने के पहले इस देश का नाम अजनाभ वर्ष था। चतुर्दश भुवनात्मक विराट् भगवान् का स्थूलरूप है। उनमें भूलोक में भी भारतवर्ष हृदय या मध्य होने से एवं विराट्देह में हृदय या नाभि के तुल्य होने से इसे अज (परमेश्वर) का नाम कहा जाता है। विशेषरूप से यहीं पर वेदादिशास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान होता है। यहाँ वर्णाश्रमवती प्रजा के साथ नारद जी भगवान् की आराधना करते हैं।

जैसे अन्य अंगों की क्षीणता कथंचित् क्षम्य होने पर भी हृदय के क्षीण या शुष्क होने से शरीर के लिए संकट उपस्थित हो जाता है, वैसे ही वेद एवं वर्णाश्रम विशिष्ट भारत के क्षीण होने पर समस्त विश्व के लिए संकट उपस्थित हो सकता है। अतः इसके रक्षण के लिए साक्षात् परमात्मा श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण के रूप में यहाँ प्रकट होते हैं। यह भारत अनेक राष्ट्रों का समूह नहीं किन्तु एक ही राष्ट्र था। राजर्षि भरत इसके एकमात्र शासक थे। इतना ही क्यों यहाँ के शासक राजसूय एवं अश्वमेध के प्रसंगों से अखण्ड भूमण्डल के एक छत्र सम्राट् हुआ करते थे। 'पृथिव्यैसमुद्रपर्यन्तायाः' इस वेदवचन का यही अर्थ है। समुद्रवसना सम्पूर्ण धारित्री का शासक क्षत्रिय अश्वमेधयाजी एक ही सम्राट् होता था। 'गायन्ति देवाः किलगीतकानि

धन्यास्तु ये भारत भूमिभागे। 'स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते' के अनुसार यहाँ के लोग स्वर्ग एवं अपवर्ग को भी हस्तगत कर लेते थे। फिर उनके लिए संपूर्ण भूमि का आधिपत्य तो सामान्य बात ही थी।

जैसे माता पिता से बालक को भाषा प्राप्त होती है, वैसे ही आचार्य से वेदादिशास्त्र प्राप्त होते हैं। माता पितादि परम्परा के तुल्य ही आचार्यपरम्परा भी अनादि ही है। अथवा ईश्वर जैसे मनुष्यों को रच कर भाषा देता है वैसे वही शास्त्र का भी सम्प्रदाय प्रवर्तन करता है।

पार्थिव शरीर में पृथ्वी प्रधान होती है। उसका प्रधान उपादान पृथ्वी ही होती है? इसी दृष्टि से भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ। "माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'– परन्तु यह भारतभूमि एवं भारतीयों का ही पोषक असाधारण वचन नहीं है। हर एक देश को भूमि का उसके देशवासियों का वही सम्बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य वह भले ही किसी देश का हो यह कह सकता है—

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'

'विजय के लिए सद्‌गुणों के साथ वीरता स्फूर्तिमत्ता अत्यावश्यक है। अपनी मातृभूमि के लिए एक-एक कण की रक्षा के लिए कच्छरन, लद्दाख या नागालैण्ड हो, किसी स्थिति में बलिदान अत्यावश्यक है, यह विचार बहुत अच्छे हैं।

आगे श्री गोलवलकर जी कहते हैं कि जीवन्त वर्धमान समाज अपनी प्राचीन पद्धतियों एवं प्रतिमानों में जो आवश्यक है और जो प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाली हैं उसे सुरक्षित रखेगा। शेष को जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा, एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसी को प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है और नवीन व्यवस्था के स्वागत से पीछे हटने की ही आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पक्की पंक्तियाँ और सूखी टहनियाँ झड़ जाती हैं और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए ये मार्ग प्रशस्त करती हैं। मुख्य बात यही है, एकता का जीवन रस हमारे समाज के ढाँचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहना चाहिए (पृ० ११५)। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यद्यपि आप प्राचीन संस्कृति, धर्म परम्परा तथा वेदशास्त्र रामायण, भारत, पुराण, स्मृति सभी की चर्चा करते हैं और आदर से उनका नाम लेते हैं। परन्तु आपकी बुद्धि में जब जिनकी उपयोगिता समाप्त हो जायेगी तब उनको फेंक देने में विलम्ब नहीं होगा। आपकी दृष्टि में अनादि अपौरुषेय वेदादिशास्त्रों या परम्परा प्राप्त प्राचीन पद्धतियों का कोई स्थायित्व नहीं है तो निराधार धर्म, संस्कृति की रक्षा का ही इतना जीतोड़ प्रयत्न क्यों किया जाय? फिर जैसे वृक्ष की सूखी पत्तियाँ एवं टहनियाँ झड़ जाती हैं वैसे कभी वृक्ष भी तो

सूख जाता है फिर तो क्या संपूर्ण समाज एवं संपूर्ण व्यवस्था भी त्याज्य न हो जायेगी। फिर यही तो जड़वादी मार्क्स भी कहता है कि संसार में निर्वाण एवं निर्माण की धारा चलती ही रहती है। अतः व्यवस्था के निर्वाण किसी पर आँसू बहाना व्यर्थ है। नेहरू जी भी कहते थे कि शरीर ज्यों ज्यों बड़ा होता है पिछले वस्त्र एवं पोषाक अनुपयोगी एवं त्याज्य होते हैं। वैसे ही समाज की प्रगति के साथ पुरानी व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए। इसी अभिप्राय से हिन्दू कोड बना कर मन्वादि धर्म शास्त्रों की व्यवस्थाओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट आदि प्राचीन सभी व्यवस्थाओं को सड़ियल बताकर सर्वथा नयी व्यवस्था को ही लाना आवश्यक समझते हैं। आप कहते है, आवश्यक पद्धतियों को रख लिया जायेगा, अनावश्यक तत्त्वों को फेंक दिया जायेगा। ईसाई मुसलमान भी यही कहते हैं कि वेदशास्त्रों की व्यवस्था किसी काल में उपयोगी रही होगी किन्तु नये युग के लिए बायबिल कुरान की व्यवस्था ही उपयोगी है। भेद इतना ही है कि वे उसके स्थान पर बायबिल कुरान की व्यवस्था लाना चाहते हैं। किन्तु आप अपौरुषेय अनादि ठोस वेदादि प्रमाणों पर आधारित व्यवस्थाओं को छोड़कर अपने मस्तिष्क द्वारा निर्मित व्यवस्थाओं को लागू करना चाहते हैं। आप अपने मस्तिष्क से कुछ प्राचीन व्यवस्थाओं को रखने का प्रयत्न करेंगे परन्तु आपसे भी अधिक प्रगतिशील उसको भी प्राचीन एवं सड़ियल समझकर त्यागने का परामर्श देगा। इस बुद्धि के आधार पर ही आपने अपने संघ में जातिभेद मिटाकर प्राचीन आचार-विचार भोजन-पान विधान को समाप्त करके सर्व सहभोज की व्यवस्था चला रखी है फिर प्राचीन जाति धर्म संस्कृति को मिटाकर एकतामात्र अपेक्षित हैं तब तो फिर मानवता के आधार पर सभी को एकता का प्रयत्न करना चाहिए फिर ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाने का प्रयत्न क्यों? अतः अनादि अपौरुषेय वेदादिशास्त्र ही हमारी संस्कृति एवं धर्म का मूल हैं। वेदादि शास्त्रों का धर्म शाश्वत सनातन धर्म है, कभी भी वह त्याज्य कोटि में नहीं आता। भगवान् उस शाश्वत धर्म की रक्षा के लिए अवतीर्ण होते हैं :—

'त्वमव्ययः शाश्वत धर्म गोप्ता' (गी०)

स्पष्ट है श्री गोलवलकर की राष्ट्रियता की परिभाषा ही अभारतीय है फिर कोई आस्तिक पुरुष आधारशून्य विदेशी कल्पना को अपना उपास्य भजनीय कैसे मानेगा? आपके कल्पनानुसार भी वह शाश्वत एवं अमर नहीं है। किन्तु हिन्दू यहाँ इस भूमि की संतान रूप में सहस्रों वर्ष से निवास कर रहा है। अर्थात् लक्षों करोड़ों या अनादिकाल से नहीं। "विशेषतया आधुनिक काल में हिन्दू समाज के नाम से जाना गया है" (१२१)। यह स्पष्ट है कि कुछ सहस्र वर्षों की वस्तु शाश्वत नहीं होती और उपास्य भी नहीं हो सकती है।

इस विदेशीय कल्पनोच्छिष्ट सार संग्रह की अपेक्षा अनादि अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों के अनुरूप–'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी' जननी-जन्मभूमि का स्वर्ग से भी अधिक महत्व है, यह कल्पना कहीं श्रेष्ठ है। भारतीय साहित्य में श्रीराम के द्वारा उसकी कितने सुन्दर रूप में अभिव्यक्ति हुई है—

> यद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुराण विदित जग जाना।
> अवध सरिस प्रिय मोंहि न सोऊ। यह प्रसंग जाने कोऊ कोऊ॥

भारतीय वैदिक साहित्य के अनुसार सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश परब्रह्म की ही उपासना होती है, परन्तु उसके पहले ब्रह्मनिष्ठ योग्यता प्राप्ति के लिए समष्टि सूक्ष्म प्रपंच विशिष्ट हिरण्यगर्भ की उपासना होती है, ततोपि पूर्व समष्टि स्थूल प्रपंच विशिष्ट महाविराट् की उपासना की जाती है। उसी महाविराट् का अंश होने से आकाश वायु तेज जल तथा धरित्री की भी उपासना होती है। चतुर्दश भुवनों के मध्य में यह अखंड भूमण्डल है। उसके भी मध्य में जम्बू द्वीप एवं उसके मध्य में भारतवर्ष है। इस प्रकार वह महाविराट् का हृदय है। विशेष रूप में यही वैदिक कर्मकाण्ड उपासना तथा ज्ञानकाण्ड के अनुष्ठान की पवित्र एवं संस्कारों से ओत-प्रोत भूमि है। अनेक पवित्र तीर्थों एवं ऋषि-महर्षियों तथा वर्णाश्रमी आस्तिक जन समूह से अध्युषित्त प्रदेश भी महाविराट् का सर्वोत्तम अंग होने से उपास्य होता है। वेदरामायणादि प्राचीनातिप्राचीन सद्ग्रन्थों के आधार पर ही प्राकृत सीमाओं के अनुसार द्वीप वर्ष आदि की कल्पना भी प्राचीन है। विश्वरचयिता ब्रह्मा ने विश्व प्रपंच का निर्माण करके उसके संचालन के लिए विभिन्न समूहों के अधिपति नियुक्त किये हैं। मनुष्यों के भूखण्ड का अधिपति मनु को नियुक्त किया था :—

> प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै।
> यथाधर्मं जुगुपतः सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ (३।२१।२ भागवते)

स्वायम्भुवमनु के प्रियव्रत एवं उत्तानपाद दो पुत्र हुए उन्होंने धर्मानुसार सप्तद्वीपवती पृथ्वी का पालन किया। उत्तानपाद के ध्रुव आदि हुए।

ज्ञान विज्ञान सम्पन्न तपस्तेज सम्बन्धित प्रियव्रत यह देखकर कि सूर्य सुरगिरि का परिक्रमण करते हुए आधी ही पृथ्वी का प्रकाशन करते हैं। इसीलिए जब एक तरफ रात रहती है तब दूसरी तरफ दिन होता है। अपने ज्योतिर्मय रथ से रात्रि को भी दिन बनाने की दृष्टि से सात बार सूर्य के पीछे पीछे सूर्य के समान ही सुरगिरि का परिक्रमण किया था। उनके रथखात से सात समुद्र बने थे। उन्हीं के आधार पर सप्तद्वीप का निर्माण हुआ था।

यावदवभासयति सुरगिरिमनपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलेमर्धेनैव प्रतपत्येर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुष प्रभावस्तदनभिनन्दन् समजवेनरथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामिति सप्तकृत्वस्तरणि मनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतंगः ॥ (भाग० ५।१।३०) । ये वा उहतद्रथ चरणनेमिकृत परिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एवकृताः सप्त भुवो द्वीपाः ॥ (५।१।३१ भागवते) ॥ जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक, पुष्कर, ये सप्तद्वीप हैं। प्रियव्रत के पुत्र अग्नीध्रइध्यजिह्वा यज्ञबाहु हिरण्यरेता, घृतपृष्ट मेधातिथि वीतिहोत्र क्रमशः—सप्तद्वीपों के शासक नियुक्त किये गये थे ॥ ३३ ॥ जम्बूद्वीपाधिपति अग्नी के नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक्, हिरण्मय, कुरु भद्राश्व, केनमाल्य यह नव पुत्र हुए थे। ये पूर्वचित्ति नाम की दिव्यांगना से उद्भूत होने के कारण स्वभाव से ही दिव्य संहनन और बल से उदेत थे। उन्हीं के नाम से जम्बू द्वीप में नववर्ष हुए। नाभि से मेरुदेवी में भगवान् विष्णु ही ऋषभ के रूप में अवतीर्ण हुए थे। ऋषभ के एक पुत्र महायोगी भरत हुए हैं। जिनके नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। उसके पहले इसका नाम अजनाभ था।

येषां खलु महायोगी भरतो जेष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति (भागवते ५।४।६)। पहले इस देश का नाम अजनाभ था। अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत, आरभ्य व्यपदिशन्ति (श्री भागवते)।

सप्तद्वीपामेदिनी एवं उसके द्वीपों पर वैदिक भारतीय राजाओं के ही वंशज शासन करते थे। कालक्रम में उनका वैदिक धर्म से सम्बन्ध टूट गया, तब उन-उन देशों में पृथक-पृथक धर्म आदि बने। रूप रंग दृष्टि में भेद तो देश के जलवायु आदि भेद से होता ही है। सभी द्वीपों एवं वर्षों में अब भी दिव्य विशिष्ट पुरुषों द्वारा श्री भगवान् विष्णु की ही उपासना हो रही है। भद्राश्व वर्ष में श्री भद्रश्रवा श्री हयग्रीव भगवान की उपासना करते हैं। हर वर्ष में प्रहलाद नृसिंह की आराधना करते हैं। केतुमाल में श्री लक्ष्मी कामदेव रूप में भगवान् की उपासना करते हैं। किम्पुरुष वर्ष में हनुमान् रामरूप में भगवान की उपासना करते हैं। भारत में नारद जी वर्णाश्रमवती प्रजा के साथ नारायण की उपासना करते हैं। तं भगवान् नारदो वर्णाश्रमवतीतिः भारतीभिः प्रजाभिः भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोयवर्णनं सावर्णेरूप देक्ष्यमाणः परमभक्तिभावे नोपसरति (५।१६।१० श्री भागवते)।

भारत की महिमा देवगण भी वर्णन करते हैं। अहो अमी बंकिमकादि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुतस्वयं हरिः। पैर्जन्म लब्धंनृषु भारताजिदे मुकुन्द सेवोपयिर्क स्पृहाहिनः ॥ (भागवते ५।१६।२१) अर्थात् भारतीयों ने कोई बड़ा ही शोभन कार्य किया है। अथवा भगवान् स्वयं ही उन पर प्रसन्न हो गये हैं। जिन लोगों

ने भारत में मुकुन्द सेवा के उपयोगी जन्म पाया है। हम देवताओं को भी ऐसे जन्म की प्राप्ति की स्पृहा रहती है। विष्णु पुराण के अनुसार समुद्र के उत्तर, हिमाद्रि के दक्षिण का प्रदेश भारतवर्ष है। उसमें ही भारतीय प्रजा निवास करती है।
उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैवदक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम भारतीयत्र संततिः॥

श्री भागवत् की दृष्टि से जम्बू द्वीप के भीतर नववर्ष नव-नव सहस्रयोजन विस्तार वाले हैं। **यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रा यामान्यष्टमिर्मर्य्यादा गिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति** (भा० ५।१६।६) उसके अनुसार ही भारतवर्ष कर्मक्षेत्र है। अन्य अष्टवर्ष स्वर्गियों के पुण्य शेष योग के स्थान हैं। वे दिव्य हैं। वहाँ के पुरुष भी दिव्य हैं। वहाँ सभी व्रज संहनन होते हैं। आप मुसलमान, ईसाई आदि अहिन्दुओं को अपने में मिला लेना राष्ट्रिय जीवन एकात्मकता के लिए आवश्यक एवं तर्कसंगत समझते हैं। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से जाति का परिवर्तन होता ही नहीं। हाँ, हिन्दू शास्त्रों में मानवमात्र के भी धर्म वर्णित हैं। भक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि धर्मों का पालन करनेवाला कोई भी मनुष्य हिन्दू कहा जा सकता है। परन्तु शास्त्रानुसार जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही वेद के अध्ययन एवं तदुक्त अग्निहोत्रादि धर्मों के अनुष्ठान का अधिकार होता है, अन्य को नहीं। अहिन्दू यदि शास्त्रोक्त हिन्दू मानवधर्म का पालन करता है तो वह हिन्दू कहा जा सकता है। हिन्दुओं में जैसे अनेक श्रेणियाँ हैं वैसे शोधित हिन्दू की भी श्रेणी हो सकती है। यही मार्ग है शास्त्रीय हिन्दुत्व रक्षण का। इस मार्ग से जन्मना ब्राह्मणादि का रक्त सांकर्य से बचाव भी होगा। साथ ही सांकर्य या धर्मान्तरण आदि द्वारा जातिच्युतों का संग्रह हो सकेगा। साथ ही अन्य भी जो अहिन्दू, हिन्दू शास्त्रों एवं हिन्दू धर्मों में विश्वास करते हों वे हिन्दू शास्त्रानुसार अपनी योग्यता के अनुसार हिन्दू धर्म अपना सकते हैं। गोमांस त्याग, गोरक्षण, पुनर्जन्म विश्वास, ईश्वरभक्ति, ईश्वरनाम, गंगास्नान, मंदिर शिखर दर्शन सत्य अस्तेय भूत दया आदि धर्म का पालन करके ऊँचे से ऊँचे पद पाने के अधिकारी हो सकते हैं। बिना प्रतिबन्ध, बिना प्रायश्चित अपने परित्यक्त भाइयों को अपने घर बुला लाना बहुत सरल प्रतीत होता है। परन्तु इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि कोई भी अन्य अपने भाई छोटे-छोटे स्वार्थों के वशीभूत होकर धर्मान्तरण स्वीकार कर लेंगे और फिर जब चाहेंगे लौट जायेंगे। ऐसा लचर जातीय नियम जाति के सर्वनाश का हेतु बन जायेगा, हिन्दुओं के कठोर जातिनियम के कारण ही अबतक हिन्दू जाति जीवित रही है। उसके शिथिल होते ही वह समाप्त हो जायेगी। इसके अतिरिक्त जैसे संस्कृत शब्दों की अप्रत्यक्ष शुद्धि, अशुद्धि पाणिनीय आदि आर्ष सूत्रों से ही निर्धारित होती है। वैसे ही अप्रत्यक्ष हिन्दू या ब्राह्मणादि जाति की शुद्धि अशुद्धि भी वेद तथा वेदाधारित मन्वादि धर्मशास्त्रों से ही निर्धारित

होती है। केवल किसी व्यक्ति या किसी पार्टी के निर्धारित नियमों का उस सम्बन्ध में कुछ भी महत्त्व नहीं होता है। आत्मसात् करने की शक्ति की बात करना भी अनभिज्ञता ही है। वेदादिशास्त्रों के विपरीत किसी व्यक्ति या जाति को हिन्दू समाज में प्रविष्ट करने का अर्थ है, हिन्दू शास्त्रों एवं धर्मों से पराङ्मुख होकर भ्रष्ट होना। किसी की कितनी भी तीव्र जठराग्नि क्यों न हो परन्तु वह खाद्य को ही पचा सकेगा। उसके लिए अखाद्य पाषाण, काष्ठ आदि का पचा सकना सम्भव नहीं है। अभक्ष्य गोमांस आदि के पचाने का साहस करने पर वह स्वयं ही अपवित्र हो जायगा। जैसे खाद्य, अखाद्य का निर्णय शास्त्रों से ही होता है वैसे ही किसका हिन्दू समाज में किस रूप में समावेश हो सकता है यह भी निर्णय शास्त्र से ही हो सकेगा मनमानी नहीं।

इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिए कि यदि कथंचित् शास्त्र विरुद्ध मनमानी तौर पर किसी व्यक्ति या जाति को हिन्दू समाज में आत्मसात् करने का प्रयत्न हुआ भी तो पहले तो वह आस्तिक हिन्दू समाज को मान्य न होगा। वैसा करनेवाला स्वयं ही पतित हो जायगा, दूसरे अन्य जातियों के लोग भी तो उसी तरह अन्यान्य देशस्थ हिन्दुओं को भी आत्मसात् करने का प्रयत्न करेंगे।

श्री गोलवलकर राष्ट्रिय जीवन के शाश्वत, स्त्रोत की चर्चा करते हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि उनके मत में कोई भी शाश्वत शास्त्र एवं शाश्वत धर्म मान्य नहीं है। वे यह मान चुके हैं कि जिसकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी, तभी वे उसे फेंक देंगे। राष्ट्रिय एकात्मता के आधाररूप में उन्होंने समान संस्कृति, समान पैतृकदाय, समान इतिहास, एवं समान परम्पराओं तथा समान आदर्शों को भी माना है। परन्तु क्या पाकिस्तान में रहनेवाला हिन्दू या इंगलैण्ड आदि के हिन्दुओं को भी यदि वहाँ के लोग समान संस्कृति आदि मानने का आग्रह करें तो क्या वह भी आपको मान्य होगा। जिनकी दृष्टि में धार्मिक, आध्यात्मिक भावों की अपेक्षा भौतिकता का महत्त्व अधिक है, वे ही किसी देश की राष्ट्रियता के लिये अपनी परंपरा अपनी संस्कृति को तिलांजलि दे सकते हैं, अन्य नहीं।

वस्तुतः कूटनीतिज्ञों द्वारा भारतवर्ष तथा संसार का इतिहास विकृत किया गया है। स्पष्ट रामायण महाभारत के आर्ष परमसत्य इतिहास को झुठलाने का प्रयत्न किया गया है। उसका प्रभाव यहाँ तक पड़ा है कि भारतीय संस्कृति के पुजारी कहे जानेवाले लोग किसी अंश में उस इतिहास का खण्डन करते हुए भी अन्य अंगों में उन्हीं इतिहासकारों को ही गुरु मानकर चलते हैं। उसी प्रभाव के कारण ही भारत में अंग्रेजी राज्य के लेखक एवं विचार नवनीत के लेखक अंग्रेजों का खण्डन करते हुए भी उन्हीं द्वारा निर्मित इतिहास के आधार पर अपने मन्तव्यों को प्रमाणित

करने का प्रयत्न करते हैं। प्रदेश एवं प्रदेश में निवास करनेवाली जातियाँ एक ही नहीं होती हैं। इसीलिए एक प्रदेश का व्यक्ति अन्य प्रदे— में जा सकता है। परन्तु इसमें उसकी जाति नहीं बदल जाती है। प्रदेश के जलवायु का असर भी मनुष्यों पर पड़ता है। उससे रूप रंग आकृति में स्पष्ट भेद परिलक्षित होता है। पंजाबी, बंगाली, मैथिल, मराठी, मद्रासी, उत्कल आदि में प्रदेश के कारण रूप रंग, आकृति में भेद दीखता है। चीनी, जापानी, रूसी, इंगलिश आदि में भी विलक्षणता दीखती है। परन्तु प्रदेश मूलक जाति का धर्म के साथ भी असाधारण सम्बन्ध नहीं हुआ करता। तभी तो नेपाली, मैथिल, बंगाली आदि भारतीय प्रदेशमूलक जातियों में धर्मभेद आवश्यक नहीं है। वैदिक धर्म ब्रह्माणादि जाति मूलक होता है। अतएव ब्राह्माणादि जातियाँ एवं तन्मूलक वैदिक वर्णाश्रम धर्म, पंजाबी, मैथिल, बंगाली, उत्कल आदि सर्वत्र भारतीयों में होते हैं। हिन्दू मुसलमान आदि जातियाँ धर्ममूलक होती हैं। अतएव चीनी समान होने पर भी कोई मुसलमान बन सकता है, कोई ईसाई बनता है। भारतीय समान होने पर भी हिन्दू या मुसलमान बनते हैं। हाँ, वैदिक अग्निहोत्रादि धर्मों का जन्मना ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों से ही सम्बन्ध रहता है। उनमें स्वेच्छाचारिता नहीं होती। कुरान बायबिल आदि के धर्म जन्मना जातिमूलक नहीं होते। परन्तु वैदिक धर्म वैसा नहीं है।

श्री गोलवलकर के अनुसार श्री सुभाष में राष्ट्रत्व की भावात्मक चिरंतन निष्ठा की पकड़ थी, इसीलिए वे शिवाजी के आदर्श का आदर करते थे किन्तु तादृश राष्ट्र निष्ठा से रहित अंग्रेजी शासन के प्रति विरोध वाले लोग रूसी क्रांति से प्रेरणा लेने वाले क्रान्तिकारी लोग अब रूसी, चीनी नेतृत्व के भक्त बन गये। जो मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए अपना जीवन अर्पण करने की भावना रखते थे, वे लोग अपनी मातृभूमि को रूस एवं चीन का अनुषंगी बनाने के लिए उसी प्रकार जीवन अर्पण करने की इच्छा करने लगे हैं। वे पहले ज्वलंत देशभक्त थे, अब परदेश भक्त हो गये हैं। कितना घोर पाप है। वस्तुतः कम्युनिज्म का आदर्श राष्ट्रवाद न होकर अन्ताराष्ट्रियवाद ही है। अतः स्वपरराष्ट्र कल्पनाहीन अन्ताराष्ट्रिय वाद में परदेश भक्त की कल्पना नहीं हो सकती। सिद्धान्तनिष्ठा वाला व्यक्ति समान सिद्धान्त वाले दूर के व्यक्ति को भी अपना मानता है। श्री गोलवलकर ने भी राष्ट्रभक्तिवालों के लिये राष्ट्रभक्तिहीन माता पिता को भी शत्रु के समान त्याज्य बताते हुए श्री तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियों का उल्लेख किया है :—

"तजिए तिनहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।"

हाँ यह अवश्य है कि समष्टि विराट् में आत्माभिमान करने पर यद्यपि व्यष्टि देहाभिमान गौण हो जाता है तथापि व्यावहारिक रूप से व्यक्ति की उन्नति से ही

समष्टि की उन्नति होती है। व्यक्ति के पतित, दलित होने पर समष्टि की भी दुर्गति होती है। क्योंकि व्यक्ति समुदाय ही तो समष्टि होता है। इसके अतिरिक्त कम्युनिज्म का सिद्धान्त ही शास्त्र एवं तर्क से विरुद्ध है। आत्मा, धर्म, ईश्वर एवं परंपराओं से विमुख बनाने वाला है। इसका विस्तृत वर्णन 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में देखा जा सकता है।

श्री गोलवलकर ने वि०न० के १४९ पृ० तक कई पृष्ठों में कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति को देशद्रोह एवं जघन्य पाप बताया है। यह अवश्य सत्य है, परन्तु उनका मुसलमानों को आत्मसात् करके उनके साथ रोटी बेटी का व्यवहार करने का उपदेश करके हिन्दू जाति को विकृत एवं वर्णसंकर बनाने का प्रयत्न भी कुछ कम जातिद्रोह, धर्मद्रोह, देशद्रोह एवं कम जघन्य पाप नहीं है। जिनमें पीढ़ियों तक दूध बचाकर माँ बहनों में ही शादियाँ होती रही हैं, जिनमें पाखाने से बचा हुआ बधने का जल ही मुँह हाथ धोने उजु करने या चाय बनाने तक के काम आता रहा है। जिनमें गोमांस भक्षण चलता था उन्हें हिन्दू बनाकर उनके साथ रोटी बेटी का व्यवहार करके रक्त सांकर्य कर देना, शेष हिन्दुओं को भी मुसलमान बना देना है। क्या निष्प्रमाण निराधार हिन्दू नाम या कुछ आचारों का पालन करना ही हिन्दुत्व है? निराधार, निष्प्रमाण यह आचार भी कितने दिन रह सकेंगे? कांग्रेसी नेताओं में भी शास्त्र विश्वास एवं परंपराओं के विश्वास घटने से ही ये देशद्रोही भावनायें आयी हैं।

कम्युनिस्ट लोग महायंत्रों, कल, कारखानों का खूब दोष वर्णन करते हैं और गरीबी तथा भुखमरी एवं बेकारी-बेरोजगारी का तथा आर्थिक असंतुलन का उसका मूल कारण मानते हैं। परन्तु जब वे ही महायंत्र उनके हाथ में आ जाते हैं तब उसे घटाने का प्रयास न करके उसे बढ़ाने का ही प्रयत्न करते हैं। उसी तरह श्री गोलवलकर मुस्लिम दुर्नीतियों एवं दोषों का वर्णन करते हैं। साथ ही उन्हें अपने में मिलाकर परम शुद्ध हिन्दू भी मान लेने को उत्सुक रहते हैं। यह भी आश्चर्य है कि संसार के सभी नेता अपने धर्म और संस्कृति के मूलभूत पवित्र ग्रन्थों का महत्त्व वर्णन करते नहीं अघाते। परन्तु श्री गोलवलकर की दृष्टि में उनकी राष्ट्रियता या संस्कृति का कोई एक भी ग्रन्थ आधारभूत मान्य नहीं है।

गोलवलकर जी का यह कहना भी ठीक नहीं है कि "हिन्दू मुस्लिम एकता बिना स्वराज्य न मिलेगा।" इस घोषणा की सत्यता का भण्डाफोड़ हो गया। क्योंकि उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि अखण्ड भारत का स्वराज्य एकता से ही होता। हिन्दू मुस्लिम मतभेद का ही परिणाम विभाजन है, इसे कौन अस्वीकार

कर सकता है ? वस्तुतः कांग्रेसियों के समान ही आपकी भी राष्ट्रियता काल्पनिक एवं निर्जीव ही है। हिन्दू आप का राष्ट्रिय है• परन्तु वह हिन्दू निराधार एवं निष्प्रमाण ही तो है। इसी से जो गैर हिन्दू ईसाई, मुसलमान आपके लिए अराष्ट्रिय हैं वे ही क्षणभर में आपकी कुछ काल्पनिक वेश-भूषा कुछ रीति-रिवाज मान लेने से हिन्दू होकर पक्के राष्ट्रिय हो जाते हैं। यह सब इसी लिए कि आप हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति के ठोस प्रमाण वेदादि शास्त्रों को अंगीकार नहीं करते। श्री गोलवलकर हिन्दू राष्ट्र के अर्थ में भारतीय राष्ट्र शब्द का प्रयोग असंगत कहते हैं। परन्तु वे ही भारत में हिन्दू कालमी का होना असंगत मान चुके हैं। क्योंकि यहाँ का राष्ट्रिय हिन्दू ही है। "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" का सीधा अर्थ यह है कि किसी एकाक्ष को एकाक्ष कहना सत्य है। परन्तु अप्रिय है। अतः वैसा न कहना चाहिए। इसीलिए तो अंधों को प्रज्ञाचक्षु कहने की पद्धति है। माता को पिता की पत्नी भी कहना सत्य है परन्तु व्यवहार में वैसा न कहकर माँ ही कहा जाता है।

'हिन्दू मुसलिम भाई-भाई' या 'चीनी-हिन्दू भाई-भाई' इत्यादि घोष भयमूलक होते हैं यह कहना असंगत है। मेल जोल की भावना से भी ऐसे घोषों का प्रयोग होता ही है। किसी ग्राम में हिन्दू, अहिन्दू, आस्तिक, नास्तिक बहुत तरह के लोग रहते हैं और उस ग्राम पर अगर डाकुओं का या किसी खूंखार जंगली पशु का आक्रमण होता है तो वे सब एक होकर उनका मुकाबला करते हैं। विभिन्न अवसरों में विभिन्न मतभेद रहने पर भी उस समय सब भेदों को भुलाकर आक्रामक का मुकाबला करते हैं। उस समय सब भाई-भाई हो होते हैं। वैसे तो वेदों के अनुसार सभी प्राणी अमृत के पुत्र होने से भाई-भाई हैं ही। यही तो समानता, भ्रातृता एवं स्वतंत्रता की आधारभित्ति है। भीमसेन ने आक्रामक बकासुर से निबट लिया, उसे समाप्त कर दिया। आपके अनुसार मुसलमान आक्रामक हैं, विरोधी हैं, उनसे निपट लेना ही उचित है। परन्तु क्या आप या आपका संघ निबटने जा रहा है ? क्या आप भी उन्हें आत्मसात् करके अपनी बहन-बेटी उन्हीं से विवाहने नहीं जा रहे हैं ? आप कहते हैं कि मुसलमान अब भी इस देश के लिए नमकहलाल नहीं है। इसकी संस्कृति को उन्होंने मनसा ग्रहण नहीं किया। उस जीवन रचना को स्वीकार नहीं किया जिसे इस देश ने शताब्दियों से विकसित् किया। इसके दर्शन, इसके राष्ट्रीय महापुरुषों तथा इस देश के आधारभूत तत्वों पर उनका विश्वास नहीं है (१५६), यह सत्य है। परन्तु किसी भी जाति का अपना धर्म, अपना धर्मग्रन्थ होता है, तदनुसार ही उसकी संस्कृति होती है। आपका धर्म एवं संस्कृति तो आपके अनुसार किसी शास्त्र पर आधारित नहीं है, निष्प्रमाण परंपरा भी अन्धपरंपरा ही होती है। आप भले ही शास्त्र न मानते हों, परन्तु मुसलमान अपना

एक धर्मग्रन्थ मानता है। उसकी संस्कृति, उसका इतिहास, उसके महापुरुष इस्लामी भावना एवं इस्लामी आदर्श से प्रभावित होंगे। वह भारत में रहते हुए भी अपनी संस्कृति को वैसे छोड़ सकता है जैसे कोई हिन्दू वेदादिशास्त्रों का अभिमानी भले ही दुर्भाग्यवश कहीं रहे पर वह अपने वेदादिशास्त्रों एवं तद्वत् धर्मों, संस्कृतियों, दर्शन एवं तदनुसार महापुरुषों से अपना मन हटाकर ईसाई या मुसलमान संस्कृति को नहीं अपना सकता। हाँ कृतज्ञता के नाते जिस देश में रहे उसका हित चाहना, उस देशवासियों के साथ सद्व्यवहार रखना, उसके दुःख-सुख में हाथ बंटाना उचित है, परन्तु अपना धर्म, संस्कृति छोड़कर अन्य धर्म संस्कृति अपना लेना किसी के लिए भी यह कदापि उचित नहीं है। आर्य राजाओं का ऐसा कभी आग्रह भी नहीं था। आप भी मानते ही हैं कि पानीपत की लड़ाई में हिन्दुओं के तोपखाने का तोपची इब्राहिम मुसलमान ही था। श्री गोलवलकर का यह कथन कि गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन की शंकाओं का उत्तर द्वितीय अध्याय में दिया .... फिर भी अर्जुन सन्तुष्ट न हुआ। अन्त में जब श्रीकृष्ण अपना भीषण विश्व-रूप प्रकट करते हैं तो वह तुरन्त कहता है, अब मैं समझ गया............। इसके पश्चात् हम अर्जुन को अत्यंत ग्रहणशील पाते हैं। इसी तरह श्री गोलवलकर ने यह भी दिखाया कि एक प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता को दिल्ली के एक उत्सव में निमंत्रित किया गया था। वह आये और उन्हों ने कई हजार स्वयंसेवकों को सुरचना तथा गण वेष में देखा, वहाँ तीन लाख की संख्या में एक बहुत बड़ा श्रोता समुदाय भी पूर्ण व्यवस्था एवं शांति के साथ उपस्थित था। उन्होंने कहा, यदि यह हिन्दुस्तान देश हिन्दुओं का नहीं तो किसका है? तथा इस भूमि का राष्ट्रिय जीवन यदि हिन्दू का नहीं तो और किसका है......................उन्होंने साथियों को कहा, तुममें से किसी ने यदि वह दृश्य देखा होता जो कुछ मैंने कहा, उससे भिन्न और कुछ न कहता। (वि० न० १६१, १६२ पृष्ठ) बात भी ठीक है। संघटित शक्ति को देखनेवालों पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है, इसीलिए साधारण लोगों पर प्रभाव डालने के लिए अंग्रेज सरकार गोरों की संगठित सेना का गाँव गाँव में प्रदर्शन करती थी। हिटलर भी उसी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करके लोगों पर प्रभाव डालता था। महात्मा गांधी व पं० जवाहरलाल की सभाओं में उपस्थित लाखों मनुष्यों की भीड़ देखकर साधारण लोग प्रभावित होते थे। परन्तु विचारशील सिद्धान्तनिष्ठ लोग ऐसे बाह्य प्रदर्शनों से प्रभावित नहीं होते। विश्वरूप प्रदर्शन अर्जुन की एक प्रार्थना मात्र की पूर्ति के लिए था। गीता के १० वें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया और कहा कि मैं ही सर्वभूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ, मैं ही भूतों का आदि, अंत एवं मध्य हूँ, आदित्यों में विष्णु, नक्षत्रों में चन्द्रमा, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र मैं ही हूं। इन्द्रियों

में मन, भूतों में चेतना, रुद्रों में शंकर, राक्षसों में कुबेर, वस्तुओं में पावक, पुरोधाओं में बृहस्पति मैं ही हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ, नागों में अनन्त, मृगों में मृगेन्द्र, शस्त्रधारियों में राम किं बहुना, सारे ही जगत् को मैं एकांश से धारण करके स्थित हूँ। इस पर अर्जुन ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि मेरे ऊपर अनुग्रह करके आपने गुह्य अध्यात्मयोग का वर्णन किया। इससे मेरा मोह दूर हो गया। **मदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्म संज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोयं विगतो मम।** आपने जैसा अपने को कहा, आप वैसे ही हैं। यह यदि आप मेरे लिये शक्य समझते हैं, तो कृपा करके अपने ऐश्वर्य का पूर्णरूप से दर्शन करा दें। बस इसी प्रार्थना पर भगवान ने अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया। गीता के किन्हीं शब्दों से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसके पहले अर्जुन ने भगवान् के वाक्यों को आदर पूर्वक नहीं ग्रहण किया था। पश्चात् ग्रहणशील हो गया। ग्यारहवें अध्याय के पहले के समान ही पीछे भी अर्जुन ने कई प्रश्न किये हैं। **"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा"** मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी। यह तो अर्जुन ने ११ वें के अन्त में नहीं किन्तु १८ वें अध्याय के अंत में कहा है। वास्तव में श्री गोलवलकर किसी ग्रन्थ को प्रामाण्य बुद्धि से नहीं किन्तु अपने इष्ट सिद्धि के लिए पढ़ते हैं। कम्युनिस्टों की तरह वे भी कई ग्रन्थों की बातों का उल्लेख कर दिया करते हैं। रूसी लोग एवं भारतीय भूपेन्द्रनाथ सान्याल आदि भी अपने कम्युनिज्म का समर्थन करने के लिए भारतीय वेद, उपनिषद्, गीता आदि का नाम लेते हैं। रूसियों ने भारत, रामायण का अनुवाद भी इसी उद्देश्य से किया है, शैतान भी अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए शास्त्र का नाम लेता है। परन्तु इससे कभी यह नहीं समझना चाहिये कि वह शास्त्रों का भक्त है।

इसी तरह आप भी अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए ही गीता का नाम लेते हैं। गीता का तात्पर्य समझने के लिए नहीं। पाकिस्तानी भारत को दारुल हरब, से दारुल इस्लाम बनाना चाहते हैं। आपके संघ के लोग केवल जबानी पाकिस्तान का विरोध करते रहे, परन्तु हम धर्मसंघ के लोग विभाजन से पहले सन् ४७, ३ अप्रैल से प्रत्यक्ष सत्याग्रह करके "भारत अखण्ड हो" नारा बुलन्द करते हुए विरोध कर रहे थे। १५ अगस्त के दिन विभाजन के समय भी विरोध का नारा बुलन्द कर रहे थे। आपलोगों को सहयोग के लिए अनेक बार बुलाया गया। पर आप तटस्थ रहने में ही अपना हित समझ रहे थे। हमारे विरोध की चर्चा वायसराय के सेक्रेटरी ने अपनी डायरी में नोट किया था।

कश्मीर, आसाम, त्रिपुरा में योजनाबद्ध रूप से पाकिस्तान की नीति चल रही है। सब जगह उनकी संख्या में विस्तार हो रहा है। स्थानीय मुसलमान भी

उनके विस्तार को प्रश्रय देते हैं। देश के भिन्न भिन्न स्थानों में आज भी उनके षड्यंत्र चल रहे हैं। हमारा वर्तमान नेतृत्व उनका मुकाबला करने के लिए अत्यन्त दुर्बल है। हर, जगह मुसलमानों के विघटनात्मक और विध्वंसक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। मौलाना मुहम्मद अली का यह कहना था कि पापी से पापी मुसलमान भी उनकी निगाह में महात्मा गाँधी से बहुत अधिक श्रेष्ठ है (वि० न० पृ० १७३)। यह सब कथन ठीक है। पर क्या आपकी योजनानुसार हिन्दू बना लेने मात्र से मुसलमानों की ऐसी भावनायें समाप्त हो जायंगी। बहुत लोगों ने कितने ही मुसलमानों को शुद्ध किया। उनका वेश-भूषा तथा नाम भी बदल दिया, पर वे लोग यहाँ से जो लाभ उठाना था, उठाकर, कुछ हिन्दू लड़कियों से शादी करके फिर जो थे, वहां हो गये। फिर आपकी आत्मसात् करने की योजना कैसे सफल होगी ?

तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्र० सू० २।१।११) में स्पष्ट दिखाया गया है कि बड़ा से बड़ा तार्किक ऊँचे से ऊँचे तर्कों से भी किसी तत्त्व का व्यवस्थापन करता है। परन्तु उससे भी उत्तम कोटि का तार्किक अपने तर्कों से उसका भी खण्डन कर देता है। **यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥** अतः शास्त्र प्रामाण्यहीन थे। तर्कों के बल पर भारतीय संस्कृति भारतीयता या हिन्दुत्व की रक्षा नहीं हो सकती। जब शास्त्र के मानने का प्रसंग आता है तब आप तर्क की ओर भागते हैं, जब कठोर तर्क का सामना होता है तो आप विश्वास की ओर भागते हैं, पर आपको मालूम होना चाहिए कि केवल विश्वास प्रमाणहीन विश्वास, अन्धविश्वास माना जाता है। तर्क एवं विचार भी स्वतंत्र प्रमाण नहीं माने जाते किन्तु प्रमाण के सहायक मात्र होते हैं। प्रमाकरण को ही प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण में चाक्षुष आदि ६ प्रकार के प्रत्यक्ष एवं अनुमान तथा वेद एवं तदनुसारी शास्त्र आगम ये ही तीन मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। वैसे उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि भी प्रमाण माने जाते हैं। परन्तु विचार एवं तर्क जिसका कुछ-कुछ सहारा आप लेते हैं, वह स्वयं ही प्रमाण नहीं है। वेदान्त के प्रसिद्ध संक्षेत्र शारीरिक ग्रन्थ में कहा गया है। **"स्वाध्यायवन्न करणंघटते विचारो नाप्यर्गभस्य परमात्मधियःप्रसूतौ।"** अर्थात् स्वाध्याय या वेद के तुल्य विचार ब्रह्म प्रमा का करण प्रमाण नहीं है। और न ही न वह अंग ही है। अंग दो प्रकार का होता है। सन्नियत्यो कारक एवं आरापुपकारक, जैसे प्रोक्षण अवघातादि व्रीह्यादिअंग का संस्कार करके याग के उपकारक होते हैं। प्रयाजादि फलों के जनन में साक्षात् याग के उपकारक होते हैं। विचार प्रोक्षणादि के तुल्य अंग के उपकारक नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म ज्ञान का मुख्य अंग वेद है वह

नित्य-सिद्ध है। उसके स्वरूप का उपकारण विचार नहीं हो सकता और न ही प्रयाजादि के तुल्य विचार वेद के ब्रह्म ज्ञान जनन में ही किसी शक्ति का आधान करते हैं। अतः पुरुष गत असंभवनादि दोष निराकरण द्वारा ही विचार का ब्रह्म-ज्ञान में उपयोग है। इसीलिए पूजित विचार रूप मीमांसा वेदान्त द्वारा ब्रह्म ज्ञान जनन में इति कर्त्तव्यता भाग को पूरा करती है। जैसा किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेत् यह साध्याकांक्षा साधनाकांक्षा इति कर्त्तव्यताकांक्षा होती है। इनकी पूर्ति **स्वर्गं भावयेत् यागेन भावयेत् प्रयाजादिभिरंगैरुपकृत्य भावयेत्** इस तरह होती है। स्वर्ग भावन करे यज्ञ से भावन करे प्रयाजादि अंगों द्वारा याग को उपकृत कर के भावन करे वैसे ही ब्रह्मज्ञान में भी तीनों आकांक्षा होती है। उनकी पूर्ति भी इस प्रकार से होती है **ब्रह्मज्ञान भावयेत् वेदान्तेन भावयेत् उपक्रमोपसंहारादिभिरुपकृत्य भावयेत् षड्विधैर्लिङ्गैः ब्रह्मणि तात्पर्यं मवधार्य्य असम्भावनादिक निरस्य भावयेत्** ब्रह्म ज्ञान भावन करे, वेदान्तों से भावन करे। उपक्रमादि लिंगों से ब्रह्म में वेदांतों का तात्पर्य निर्धारण करके असम्भावनादि दोषों को हटा करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें। **"धर्मे प्रमीयमाणेहि वेदेन करणात्मना। इति कर्तव्यभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥"** अभिप्राय यह है कि पूर्वोत्तर दोनों ही मीमांसाओं के अनुसार धर्म ब्रह्म में तर्क को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया किन्तु शास्त्र के अभिप्राय को बुद्ध्यारूढ़ करने का साधन माना गया है, अतः धर्म या ब्रह्म को समझने के लिए शास्त्र का प्रामाण्य मानना अनिवार्य है।

साम्यवाद

यह सही है कि पश्चिम में धर्महीन आध्यात्मिकता से शून्य निरंकुश राजसत्ता के विरोध में जनतंत्र का उदय हुआ (वि० न० ११–१४ पृ०) परन्तु अन्त में औद्योगिक क्रांति यांत्रिक विकास के कारण निरंकुश पूंजीवाद का जन्म हो गया और उसकी प्रतिक्रिया रूप में कम्युनिज्म का उदय हुआ और आध्यत्मनिष्ठा धार्मिक नियंत्रण बिना दोनों असफल हुए हैं अथवा हो जायेंगे। परन्तु भविष्यवाणी के मिथ्या होने से ही उनकी निःसारिता नहीं सिद्ध होती। राजनीतिज्ञों की भविष्यवाणी सिद्धों या ज्योतिषियों की भविष्यवाणी नहीं होती वह तो कार्यकारणभाव निर्णय के अनुसार निर्धारित कार्यक्रम के कार्यान्वियन पर निर्भर होती है। जैसे खेती के उपकरणों के संग्रह कार्यक्रम के कार्यान्वियन के फलस्वरूप अच्छी फसल देखकर बहुत लोग अच्छे अन्न उपजने की भविष्यवाणी कर देते हैं। परन्तु ओला पाला पड़ने या टिट्टिभदल या अन्य कीट-पतंग के उपद्रव स्वरूप यह भविष्यवाणी मिथ्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त कोई कितना भी अच्छा सिद्धान्त क्यों न हो वह तब तक पड़ा पड़ा आलमारी में सड़ता रहता है, जब तक कि उसके कार्यान्वियन के अनुरूप योग्य व्यक्ति नहीं बनता है। भारतीय नीति के अनुसार धर्म नियंत्रित राजतंत्र या धर्मनियंत्रित अन्य तंत्र भी व्यक्ति समाज दोनों ही के लिए कल्याणकारी हैं। पर आज वे सिद्धान्त जिस भारत में फले फूले उनकी ही भारत में क्यों दुर्गति हो रही है, इसीलिए कि उन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करनेवाले योग्य शासक या नेता नहीं रहे हैं। इसी तरह कम्युनिस्टों की भविष्यवाणी भी कल्पित कार्यक्रम के विघटित होने से मिथ्या हो सकती है। हो सकता है उचित अवसर आने पर वह सफल भी हो। परस्पर दो विरुद्ध सिद्धान्त वाले समूह जैसे एक दूसरे के प्रयुक्त उपायों को विफल करके अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं वैसे ही पूंजीवादी और साम्यवादी भी एक दूसरे के प्रयुक्त शस्त्रों का प्रतीकार सोचते और तदनुसार प्रवृत्त होते हैं। जहाँ भी शोषण, अत्याचार एवं गरीबी बढ़ती है और जहाँ योग्य नेतृत्व में वर्गचेतना वर्गविद्वेष वर्ग संघर्ष उत्तेजित किया जा सका वहाँ ही क्रांति होती है। रूस चीन के पिछड़े होने पर भी शोषण गरीबी बढ़ने एवं योग्य नेता मिलने से क्रांति हो सकी किन्तु इंगलैंड अमरीका जर्मनी आदि ने असंतोष असन्तुलन मिटाने का प्रयत्न किया इसीलिए वैसी क्रांति नहीं हुई।

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप भयंकर असमानता की प्रसक्ति अवश्य है और उस असमानता से साधनहीनों अकिंचनों में असन्तोष बढ़ना भी अनिवार्य है। कल-कारखानों के विस्तार के कारण लाखों असन्तुष्ट साधनहीनों, गरीबों का संघटन भी सम्भव होता ही है। पूँजीपति साधन सम्पन्न होने पर भी संख्या में अल्प ही होते हैं। इस दृष्टि से अल्पसंख्यक शोषक क्रांति के शिकार हो सकते हैं। यदि यह न हुआ तो भी जनतंत्र तो आज दिन प्रायः सर्वत्र ही प्रचलित है। अतः निर्वाचन के द्वारा असन्तुष्ट बहुसंख्यक शोषित शासनसत्ता हथिया सकता ही है। कई स्थानों पर लाखों खर्च करनेवाले भी पूँजीपति हार जाते हैं। कम खर्च में भी साधारण व्यक्ति जीत जाता है। कम्युनिस्टों के यह सब पुरोगम प्रख्यात हैं। फलतः दूसरे दल भी इससे चौकन्ने होकर पुरोगम की विफलता के लिए प्रयत्न करते हैं। ऐसे दल शोषण कम करने का प्रयास करते हैं। साधनहीनों, मजदूरों को सुखी बनाने का प्रयास करते हैं। उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयास करते हैं। सर्वत्र मजदूरों की हड़तालें चलती हैं। प्रायः उनके सामने पूँजीपति और सरकारें झुकती हैं। उनके वेतन बोनस भत्ता बढ़ाने का यत्न करते हैं। मार्क्स ने स्वयं इसको क्रांति में विघ्न माना है। उसने बार-बार सावधान किया है। कम्युनिस्टों को वेतन बोनस भत्ता बढ़ाने के काम में केवल मजदूरों की उत्साह वृद्धि के लिए ही बहुत कम प्रवृत्त होना चाहिए। वर्ग विद्वेष एवं वर्गसंघर्ष द्वारा वर्गविध्वंस के काम में ही तत्परता से लगना चाहिए क्योंकि शोषित-शोषक का विरोध चूहा बिल्ली के विरोध के तुल्य अमिट विरोध है। उसे मिटाने का प्रयत्न व्यर्थ है। यह प्रयत्न दूसरों की ही ओर से होगा। पूँजीपति एवं तदनुसारी सरकारें भी उनके असन्तोष को बहुत थोड़े समय तक रोक सकती हैं, अधिक काल तक नहीं। अब तो यह भी सोचा जा रहा है कि वेतन बोनस भत्ता के अतिरिक्त भी मजदूरों को आय में भी हिस्सेदार बनाना चाहिए। वस्तुतः इस दृष्टि से कम्युनिज्म विफल नहीं हुआ किन्तु वह सभी देशों में पनप रहा है। किसी भी विश्वव्यापी प्रोग्राम को सफल होने में दो सौ, पाँच सौ या हजार वर्ष भी लग जायँ तो भी उसे विफल नहीं कहा जा सकता है।

सिद्धान्तों का खण्डन किसी छू मन्त्र से नहीं होता। उसके लिए गम्भीर विचार आवश्यक है। उस पर विचार करने पर आपका शास्त्रहीन धर्म और आत्मज्ञान टिक नहीं सकेगा। क्योंकि जिन शास्त्रों के आधार पर कम्यूनिज्म का खण्डन किया जा सकता है उन्हें आप मानते ही नहीं, आर्थिक समस्या का हल आर्थिक दृष्टिकोण से करना होगा। कल्पित धर्म एवं आत्मज्ञान की बातों से भूखे नंगे गरीबों के असन्तोष को नहीं मिटाया जा सकेगा। भूख प्यास तो रोटी-पानी से ही मिटती है। अतएव भारतीय शास्त्रों में भी आन्विक्षिकी विद्या से पृथक् वार्ता विद्या (अर्थशास्त्र) की

सत्ता है। दिनोंदिन मजदूर आन्दोलन संसार के सभी देशों में बढ़ रहा है। उनकी सफलता भी दिनोंदिन बढ़ रही है। यही कम्युनिज्म की सफलता है। जनतंत्र तो आज सर्वत्र ही सिद्धान्तरूप में प्रचलित हो गया है। आज कोई राजतंत्र या अधिनायक तंत्र की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता। जबतक दोनों वादों के सिद्धान्तों तर्कों का उचित ढंग से खण्डन न किया जाय तबतक केवल कुछ असफलताओं या भविष्यवाणियों को सचाई में देर होने मात्र से उन सिद्धान्तों की पराजय नहीं कही जा सकती। कम्यूनिज्म के घोर विरोधी हिटलर की भी भविष्यवाणियाँ झूठी हुई थीं। भारतीय सिद्धान्तवादियों की भी असफलता होती है। इससे जनतंत्र या कम्यूनिज्म किसी की कमजोरी नहीं मानी जा सकती है। उनके तर्कों का अनौचित्य दिखाना आवश्यक है।

एक कम्युनिस्ट खूबसूरत लड़की अपने सौंदर्य पर मोहित अनेक कम्युनिस्ट युवकों में अपने लिए फूट पड़ने की संभावना देखकर अपने चेहरे पर तेजाब डालकर अपना सौंदर्य नष्ट करके पार्टी का विघटन रोकने में सफल हुई थी। मार्क्स भले अपने को धार्मिक एवं आध्यात्मिक नहीं मानता, उसका आत्मसंयम और व्यक्ति समाज सामंजस्य प्रयत्न किसी से कम नहीं था। वह चाहता तो किसी सरकार या पूंजीपति का कृपापात्र बनकर सुख से रह सकता था। परन्तु वह अपने सिद्धांत पर स्थित रहकर अनेक दिन भूखों रहता था। लंदन लाइब्रेरी में कुर्सी पर बैठे-बैठे मूर्च्छित होकर गिर पड़ता था।

वस्तुतः औद्योगिक क्रांति से महायंत्रों, कलाकौशलों के विस्तार से माली हालत में रद्दोबदल होता है। विषमता, आर्थिक असंतुलन बढ़ता है। उत्तरोत्तर यंत्र निर्माण कौशल से उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों द्वारा थोड़े से थोड़े समय में अधिकाधिक माल का उत्पादन हो जाता है। लाखों मनुष्यों का काम सहस्रों द्वारा सम्पन्न हो जाता है। थोड़े से लोगों को ही काम मिलता है। रोजी रोजगार भी थोड़े ही लोगों को मिल पाता है। धन सिमिट कर थोड़े से पूंजीपतियों के पास इकट्ठा हो जाता है। राष्ट्र के करोड़ों व्यक्ति बेकार बेरोजगार हो जाते हैं। उनकी क्रयशक्ति समाप्त हो जाने से बाजारों में माल की खपत नहीं हो पाती।

सभी देशों में औद्योगिक क्रांति फैल जाने के कारण विदेशों में भी माल भेजना संभव नहीं होता। फलतः उत्पादन की रफ्तार में कमी करनी पड़ती है, मजदूरों की छंटनी करनी पड़ती है, बेकारों की संख्या और बढ़ती है। माल की खपत में और भी रुकावटें पड़ती हैं। इस प्रकार पूंजीवाद में गतिरोध उत्पन्न होता है। इस स्थिति में उत्तम नेतृत्व मिलने पर असंतुष्ट अकिंचन बेकारों को भी आंदोलन करना पड़ता

है। कल-कारखानों में लगे मजदूर भी उनका साथ देते हैं, हड़ताल करते हैं। उद्योगों महायंत्रों के कारण एक एक जगह लाखों की संख्या में मजदूर रहते हैं। वे सब एकत्रित हो जाते हैं कभी सरकार या नेताओं के बीच मिलाप से वेतन बोनस बढ़ने पर हड़ताल रुक भी जाती है। परन्तु उत्तरोत्तर मजदूरों का असंतोष बढ़ता है। मिल मालिक भी वेतन, बोनस बढ़ाते बढ़ाते परेशान होते हैं। उधर माल की खपत न होने से उत्पादन और आय में भी कमी होती है। दोनों वर्गों में मनमुटाव संघर्ष बढ़ता जाता है। अंत में क्रांति या निर्वाचन द्वारा मजदूर दल सत्तारूढ़ होता है और वह सभी उद्योगों का राष्ट्रियकरण करता है। ऐसी सरकारें मुनाफा के लिए उत्पादन न करके उपभोक्ताओं की संख्या के अनुसार इतना ही उत्पादन करती हैं जिससे खपत में बाधा न पहुंचे और काम के घंटों में कमी करके अधिकाधिक लोगों को काम देने का प्रयास करती हैं। आवश्यक उत्पादन के बाद उत्पादकों को अन्य उत्पादन के काम में लगाया जा सकता है। इस तरह योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार सबके लिए ही काम दाम आराम वितरण की व्यवस्था की जा सकती है।

कहा जा सकता है कि पूंजीपतियों की पूंजी छीन लेना अन्याय है। परन्तु मार्क्सवादी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि पूंजीपति के पास जो धन होता है वह मजदूरों की गाढ़ी कमायी का ही होता है, रिकार्डो आदि ने मांग और पूर्ति के आधार पर विनिमय मूल्य निर्धारण किया था किन्तु मार्क्स ने श्रम को ही विनिमय मूल्य का आधार बतलाया है। व्यवहार में यदि कोई किसी से २५ रु० कर्ज लेकर सूत खरीदकर अपने घर में कपड़ा बना ले और उसे बाजार में बेच दे तो उस पैसे में से २५ रु० कर्जा और उसका कुछ सूद चुकाने के बाद बचे हुए रुपयों को उसके श्रम का ही फल माना जायगा। इसी प्रकार मिलों में उत्पादित पदार्थों को बेच देने पर जो लाभ के पैसे मिलते हैं उनमें से लागत खर्च निकाल कर अर्थात् कच्चे माल का दाम तथा उसकी ढुलाई का खर्च, मकानों एवं मशीनों के भाड़े, मशीन की घिसाई के बदले का दाम सरकारी टैक्स पूंजी के पैसे का सूद आदि निकाल देने पर बाकी बचे पैसों का आधार श्रमिकों का श्रम ही है। अतः वह सब मजदूर को मिलना चाहिए। पर वह सब मिलता है मिल मालिक को। मजदूर को तो वेतन के रूप में उसका बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। अतः मजदूर का शोषण करके ही अतिरिक्त लाभ का मालिक पूंजीपति बनता है। इस तरह उसका छीन लेना दूषण नहीं।

वैसे भी मार्क्स के अनुसार संसार में कोई शाश्वत नियम नहीं है। समाज के कल्याण के लिए समय समय पर नियम बनते-बिगड़ते रहते हैं। इससे आप भी

सहमत ही हैं। सब नियमों को चाहे वे धार्मिक हों या राजनीतिक राष्ट्रिय या सामाजिक। सभी का निर्माण माली हालतों के आधार पर होता है। उत्पादन साधनों में रद्दोबदल होने से माली हालातों में रद्दोबदल होता रहता है। हाथ की चक्की, जलकी चक्की, भाप की चक्की, बिजली की चक्कियों के जमाने के भेद से मालो हालतों में भेद होता है।

पहले हाथ से चरखे से फिर बड़े करघों से और बड़े यंत्रों से कपड़े बनते थे। पहले के कामों में बहुत लोगों को रोजी मिलती थी और अब बहुत कम लोगों को मिलती है। पहले उत्पादन करनेवालों को लाभ कम होता था अब अधिक। पहले एक नगर को तेल पहुँचाने के लिए सैकड़ों तेलियों, हजारों बैलों, सैकड़ों कोल्हू बनानेवालों सैकड़ों तेल पहुँचाने वालों की आवश्यकता होती थी। उन सबको जीविका मिलती थी। अब थोड़ा पैसा लगाकर एक कारखाना खड़ा करके थोड़े मजदूरों द्वारा ही सारे नगर को तेल सुलभ किया जा सकता है। अतः सब समय एक से नियम नहीं रह सकते। किसी जमीन का दाम साधारणतया हजार दो हजार रुपये एकड़ के हिसाब से होता है। परन्तु वही जब आबादी या कल कारखाने के लिए ली जाती है तो जमीन का दाम बढ़ जाता है। उसी जमीन का दाम पहले हजार था तो अब लाखों हो जाता है। इस तरह जिस मानव या मानव समाज ने उत्पादन साधनों में रद्दोबदल करके माली स्थिति में रद्दोबदल कर दिया उसको यह भी अधिकार है ही कि वह उत्पन्न हुई वस्तुओं के वितरण संबंधी नियमों में भी रद्दोबदल कर दे। इस तरह कभी भूमि संपत्ति खातों कारखानों का व्यक्तिगत रहना उचित और न्याय हो सकता था। परन्तु आज की बदली हुई स्थिति में वह असंभव ही नहीं किन्तु हानिकारक भी है। अतः सभी उत्पादन साधनों एवं लाभ (मुनाफा) कमाने के साधनों का राष्ट्रियकरण ही श्रेयष्कर है।

यद्यपि भारतीय वैदिक नीति एवं तर्कों द्वारा मार्क्स का उक्त पक्ष खण्डित ही है तथापि इन युक्तिसंगत तर्कों का खण्डन केवल किसी भविष्य-वाणी के मिथ्या हो जाने से नहीं हो जाता। मिथ्या होने के हेतु पहले बताये जा चुके हैं। हो सकता है कि वाणी आगे चलकर सत्य हो। मजदूर आंदोलन सर्वत्र जोर पकड़ रहा है। विषमता और असंतोष दूर करने का जहाँ तक प्रयत्न सफल होता रहेगा वहाँ तक भविष्यवादी या कम्युनिस्ट योजना पुरोग सफल होने में देरी हो सकती है। किसी भी बड़े काम में देरी हो सकती है। आपके ही अनुयायी अभी तक कहाँ सफल हुए हैं? इतना ही क्यों यदि इस या किसी कम्युनिस्ट देश में गेहूँ, चावल की कमी या बाहर से मंगाने या कहीं अकाल पड़ जाने के कारण उसके तर्कसंगत सिद्धांतों का खण्डन हो जाय तब

तो आपकी तथाकथित आध्यात्मिक या सांस्कृतिक योजना के सिद्धांतों का भी खण्डन हो जाता है; क्योंकि आपके यहाँ अनेक बार बड़े-बड़े अकालों, अवर्षणों, भुखमरी, गरीबियों का आतंक बना था। फिर आ।का इतना अच्छा सफल सिद्धांत था तो आपके देश का पतन क्यों हुआ ? पराधीनता क्यों आयी ? सहस्रों वर्ष तक गुलामी क्यों बनी रही ? क्या असफलता से आपके सिद्धांतों का खोखलापन नहीं सिद्ध होता है ? इसके अतिरिक्त साम्राज्य विस्तार मात्र से ही यदि आपके सिद्धांत की श्रेष्ठता मानी जाय तो इस्लाम का महत्त्व क्यों नहीं ? उसका भी तो एक बार आधे से अधिक योरप, एशिया एवं चीन, अफ्रीका में विस्तार हुआ था। बौद्धों का भी बहुत से देशों पर प्रभाव है। ईसाइयों का प्रभाव कुछ कम नहीं। आज तो सबसे अधिक पतन आपके तथाकथित भारतीय सिद्धांत का ही है।

सामूहिक हत्या, दास शिविर, कम्यून बलात् श्रम, मस्तिष्कमार्जन तथा एकाधिपत्य के सभी अमानवीय यंत्रों ने व्यक्ति को दैन्य एवं दास्य की इतनी निम्न अवस्था तक पहुँचा दिया है जितना कि अनियंत्रित राजसत्ता एवं पूँजीवाद के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था (वि० न० पृ० १५)।

यह कथन भी अत्युक्तिपूर्ण, तर्कहीन एवं निष्प्रमाण है। यह कम्यूनिज्म विरोधी पाश्चात्यों का ही अन्धानुकरण है। गाली-गलौज एवं आक्रोश ही उनकी खण्डन-पद्धति है। परन्तु सभी दूसरों की व्यवस्था में ऐसे दूषणों का वर्णन कर सकते हैं। अपने विरोधियों को दण्ड देने का ढंग सर्वत्र ऐसा ही है। महाभारत के कणिक का दण्ड-विधान कौटिल्य का कण्टक शोधन एवं स्मृति-ग्रंथों में चित्र दण्ड आदि का विधान है ही। आपके अनुयायी भी अभी से जबकि वे पूर्ण शासनसत्ता सम्पन्न नहीं हैं, अपने विरोधियों से कुछ कम क्रूर बर्ताव नहीं करते हैं। कम्युनिस्ट तो सभी उत्पादन-साधनों के राष्ट्रियकरण का तर्क से समर्थन करता है। उसका चीन, रूस में सर्व उत्पादन साधनों पर राष्ट्रियकरण करना ठीक ही था। परन्तु आपके अनुयायी जनसंघी भी तो नये सिरे से जमीन बाँटने की बात करते हैं। साथ ही वे मुआवजा भी न देने की घोषणा करते हैं। जबकि भारतीय संस्कृति के प्रमुख मिताक्षरा, व्यवहारमयूख आदि हिन्दू ला के मूल निबन्ध ग्रंथ पुत्रादि का पूर्वजों की सम्पत्ति में जन्मना स्वत्व का सिद्धान्त मानते हैं और पिता को भी पूर्वजों के भूमि आदि के दान वितरण विक्रयादि का अधिकार नहीं मानते हैं। उनके अनुसार मातृगर्भस्थ शिशु के नाम भी मुकदमा चलाकर पिता द्वारा लिखा हुआ वितरण विक्रयादि-पत्र रद्द कराया जा सकता है। उसी आधार पर लोकमान्य ने देश के स्वराज्य में अपना जन्मसिद्ध अधिकार कहा था। आपके अनुयायी किसी की वैध भूमि को छीनने और फिर से बाँटने का अपना अधिकार मानते हैं।

सभी कृषि एवं उद्योगों पर एकाधिकार कर लेने पर भी वैसी महती उन्नति नहीं की जैसी उन्नति की आशा करना उचित था (वि० न० १५ पृ०)।

यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि आज संसार में अमेरिका के मुकाबले में दूसरा देश रूस ही है। उसकी सैन्यशक्ति उसके आधुनिक शस्त्र अमेरिका से १९ नहीं, २१ ही पड़ते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों, चन्द्र, शुक्रादि ग्रहों तक पहुंचने की होड़ में रूस अभी तक अमरीका से आगे है, पीछे नहीं है। संसार में रूस का महत्त्व प्रख्यात है। उससे आँख मीचना वैसा ही है जैसे चूहा बिल्ली की सत्ता से आँख मीचता हो। अमरीका वियतनाम पर हिरोशिमा, नागाशाकी के समान ही परमाणु बम का प्रयोग कर सकता था। रूस की खौफ से ही मार खाता हुआ भी ऐसे अस्त्रों का प्रयोग नहीं कर रहा है। रूस की इस उन्नति को झुठलाया नहीं जा सकता और न तो उससे आँख ही मीची जा सकती है।

कभी-कभी उत्पादन की कमी का कारण परिस्थितियाँ भी होती हैं। भारत ने भी सभी राजाओं, तालुकेदारों, जमींदारों बड़े काश्तकारों को गरीबी मिटाने के नाम पर ही समाप्त कर दिया, फिर क्या महतो उन्नति हो गयी ? क्या भारत को देश देशान्तरों से अन्न की भिक्षा नहीं माँगनी पड़ी ? पर क्या इतने से ही यह कहा जा सकता है कि भारत की बिलकुल उन्नति ही नहीं हुई ?

व्यक्तिगत खेती का स्वीकार करना अपक्रमण नहीं किन्तु व्यतिरेक केअनुभव का प्रयोग मात्र है। आप पूर्ण सरकारीकरण या संपूर्णसमूहवाद की समालोचना करते हैं (वि० न० १६ पृ०)।

क्या अर्ध सरकारीकरण आपको मान्य है। यदि हाँ तो जिन तर्कों से अर्ध या आंशिक सरकारीकरण मान्य है उन्हीं से संपूर्ण सरकारीकरण के समर्थन में क्या बाधा हो सकती है ?

भौतिक दृष्टि से उत्पादन वितरण की व्यवस्था भी अनुचित नहीं है। साथ ही व्यक्ति एवं समाज के बीच टकराते हुये हितों के बीच समझौता भी युक्त ही है। व्यवहार में व्यावहारिक सिद्धांतों का ही प्रयोग उचित है।

आचार्य परंपरा से अध्ययन मनन करने पर ही श्रुतिस्मृति आदि शास्त्रों का अर्थ विदित होता है, मनमानी करने से नहीं। साम्यवाद का नाम सुनकर आप समझते होंगे कि उसमें असमानता रहती ही नहीं, पर यह भी भूल है। सबका समान शरीर समान नाक कान, समान हाथ पाँव, समान भोजन, समान बुद्धि, समान काम यह इस प्रकार की समानता साम्यवादियों को भी इष्ट नहीं है किन्तु शिक्षा पाते

काम करने और काम का पूर्ण फल पाने का सबको समान अवसर मिले यही साम्य-वादियों की समानता का अर्थ है तथा च स्वाभाविक असमानता को ऊपरी समानता के आधार पर पूर्णरूपेण दूर करना नहीं, (१६-२० पृ०) यह कहना अनुक्तोपालम्भ ही है।

श्री गोलवलकर जी कहते हैं कि "कम्यूनिज्म भी एकता की अपनी घोषित कल्पनाओं में से किसी एक को भी साकार करने में पूर्ण असफल हो चुका है। उसने कल्पना की थी कि श्रमिक का एकाधिपतित्व स्थापित हो जाने पर सभी के भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकतायें पूरी हो जायेंगी। उस स्थिति में संघर्षों के लिए कोई स्थान न रहेगा और इसलिए केन्द्रिय प्रभुत्व की आवश्यकता न रहेगी। इस प्रकार राज्यलुप्त हो जायगा और एक शासन रहित समाज का उदय होगा।" इस मत की समालोचना करते हुए आप फिर कहते हैं—यदि मनुष्य केवल एक पशु है अर्थात् भौतिक जीवमात्र है तो वह एक दूसरे का भक्षण केवल इसलिए नहीं करता कि उसे जो भी कोई अधिष्ठित सत्ता है उसका भय है। किन्तु जब वह शक्ति अथवा प्रभुत्व नहीं रहेगा तो बिना कलह के वे क्यों रहेंगे। पशु के रूप में मनुष्य मनोवेगों का शिकार है और मनोवेगों को जब तुष्ट किया जाता है तो वे और भी अधिक जनता के लिए जनता द्वारा किया जानेवाला शासन ही प्रजातन्त्र या जनतन्त्र है। प्रतिनिधि जनवाद का आधार राष्ट्र का सामान्यहित होता है। जनवाद में जनशिक्षा, निष्पक्ष जनमत, राजनीतिक दलों का अस्तित्व, नागरिकों का शासन में सक्रिय भाग, सतर्कता एवं आदर्श निर्वाचन-व्यवस्था आदर्श है। "राजनैतिक विचारधारायें" पुस्तक से यह अति संक्षेप में पाश्चात्य राजनीतिक दर्शनों का संकलन है। विशेषरूप से उसका विश्लेषण एवं उनकी समालोचना हमारे "मार्क्सवाद और रामराज्य" ग्रन्थ में देखें। यहाँ यह सब दिखाने का यही प्रयोजन है कि उन दर्शनों में भी गम्भीरता है, ओछापन नहीं है। उनका ठीक अध्ययन करके ईमानदारी से उनके पक्षों का उपस्थापन करके गम्भीर शब्दों में ठोस तर्कों के आधार पर उनका खण्डन होना चाहिए। परन्तु श्री गोलवलकर जी द्वारा किया गया खण्डन वैसा नहीं बन सका। इतना ही नहीं उनका अपना भी विचार पाश्चात्यों के अनुसार ही इतिहास मात्र पर आधारित है। पाश्चात्य दर्शनों जैसे भी तर्क उनके विचारों में नहीं हैं। यदि वे भारतीय दर्शनों, धार्मिक, राजनीतिक ग्रन्थों को मानकर चलते तो कहीं अच्छे ठोस तर्कों के द्वारा पाश्चात्य दर्शनों का खण्डन कर सकते थे।

जैसे आप व्यक्तिस्वातंत्र्य की ऊंची उड़ान लगानेवालों (वि० न० १४ पृ०) एवं कम्यूनिज्म की असफलता का वर्णन करते हैं। क्या वे भी आपके भारत की पराधीनता, दरिद्रता एवं पिछड़ेपन की चर्चा करके आपके मत का खण्डन नहीं कर

सकते ? यदि कहें कि यह सिद्धान्त का दोष नहीं किन्तु उसे कार्यान्वित करनेवालों की कमी या दोषों के कारण भारत की यह दुर्दशा हुई है तो ऐसा ही वे भी कह सकते हैं। जहाँ दोनों तरफ समान ही दोष और समान ही परिहार हों ऐसे स्थलों में किसी एक पर ही दोष नहीं लगाया जा सकताः—

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थं विचारणे ॥

एकत्वज्ञान का उपदेश करनेवाले भगवान् कृष्ण युद्ध का भी उपदेश करते हैं। वे निरहंकार निर्लेप को सर्वलोक बध करने पर भी निष्पाप कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबद्ध्यते ॥

यदि संग्राम एवं दण्ड-विधान को प्यार का अपवाद माना जायगा तब तो यही मानना चाहिए कि आत्मैकत्वज्ञान बिना नैतिकता के आधार पर भी क्षमा दया करुणा प्यार का विस्तार हो सकता है।

श्री गोलवलकर जी कहते हैं कि—हम एक दूसरे का प्यार और सेवा बाह्य संबंधों के कारण नहीं करते वरन् आत्मा की सजातीयता के कारण करते हैं। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—नवा अरे मैत्रेयि पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियोभवति। ओ मैत्रेयि ! पत्नी पुरुष को इसलिए नहीं प्यार करती कि वह उसका पति है वरन् इसलिए करती है कि उसमें आत्मा है। इस अर्थ में कि एकही आत्मा सबमें होने के कारण सभी मनुष्य समान हैं। परम आत्मा के इस स्तर पर एकता संगत होती है किन्तु भौतिक स्तर पर वही आत्मा अपने को भाँति भाँति आश्चर्यकारक विविधताओं एवं असमानताओं को व्यक्त करती है (वि० न० १६ पृ०)।

आपने मनमानी श्रुति का अर्थ तो कर दिया लेकिन क्या बता सकते हैं कि पति में प्रेम इसलिए पत्नी करती है कि उसमें आत्मा है, यह किन शब्दों का अर्थ है ? शब्दार्थ तो सीधा इतना ही है कि पत्नी पति के लिए पति में प्रेम नहीं करती किन्तु आत्मा की कामना के लिए ही वह पति में प्रेम करती है। वास्तव में तो आप कोई शास्त्र मानते नहीं हैं, फिर शास्त्र-वचनों के उद्धरण का आपकी दृष्टि में महत्त्व भी क्या है ? इसी कारण शास्त्रवचनों का अर्थ भी आप अन्यथा ही करते हैं। यदि आत्मा होने के कारण पत्नी पति से प्रेम करती है तो आत्मा तो तटस्थ एवं शत्रु में भी होती है, फिर उनमें वह क्यों नहीं प्रेम करती है ? वस्तुतः यहाँ आत्मा का अर्थ प्रत्यगात्मा अपनी आत्मा अर्थ है तथा

च संपूर्ण वाक्य का अर्थ यह है कि हे मैत्रेयि ! पत्नी पति के लिए पति में प्रेम नहीं करती किन्तु अपने आत्मा के लिए ही वह पति में प्यार करती है। इसीलिए तो जब तक पति अपने अनुकूल रहकर अपने को सुख देता है तभी तक उसमें प्रेम रहता है। जब वही प्रतिकूल होकर दुःख का हेतु बनता है तब उसमें प्रेम नहीं रहता। इसी प्रकार पति, जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव, भूत, सर्व के लिए कहा गया है। पति आदि मुख्य प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के लिए ही उपर्युक्त सब प्रिय होते हैं:—

नवा अरे जायायाः कामाय···नवा पुत्राणां कामाय···
वित्तस्य कामाय···देवानां कामाय···

संसार की संपत्ति जाया पुत्र ब्रह्म क्षत्र देवादि में तभी तक प्रेम होता है जहाँ तक वे आत्मा के अनुकूल होते हैं, प्रतिकूल होते ही उनमें प्रेम नहीं रहता है। अतः सर्वातिशायी प्रेम आत्मा में ही होता है, वही निरुपाधिक पर प्रेम का आस्पद है। अन्य सब ही सोपाधिक एवं सातिशयप्रेम के ही आस्पद होते हैं।

अग्नि में उष्णता सदा रहती है। जलादि में अग्नि के संसर्ग से उष्मा आती है। अतः अग्नि में निरतिशय निरुपाधिक उष्णता रहती है। जलादि में कभी रहती है, कभी नहीं, अतः उसमें वह सोपाधिक एवं सातिशय ही रहती है। इसी तरह संसार की पति पुत्रादि सभी वस्तुओं में कभी प्रेम रहता है, कभी नहीं रहता। जब वे अपने अनुकूल होते हैं तो प्रेम होता है, प्रतिकूल होने पर प्रेम नहीं होता किन्तु अपने आत्मा में सनको सर्वदा ही प्रेम रहता है, कभी भी अपने में प्रेम का अभाव या द्वेष नहीं होता। अतः अन्य सब सोपाधिक एवं सातिशय प्रेम के आस्पद होते हैं। एक आत्मा ही निरतिशय निरुपाधिक प्रेम का आस्पद होता है। अतः सबसे विरक्त हो आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए। उसके लिए श्रवण मनन निदिध्यासन करना चाहिए, यह है उस प्रकरण का सारांश। आपका किया हुआ अर्थ सर्वथा प्रकरण एवं अक्षरार्थ तथा वाक्यार्थ के विरुद्ध ही है।

इस श्रुति पर आद्यशंकराचार्य का भाष्य इस प्रकार है। "**अमृतत्व साधनं वैराग्यमुपदिदिक्षुर्जाया पुत्रादिभ्यो विरागमुत्पादयति···पत्युर्भर्त्तुः कामाय प्रयोजनाय पतिः प्रियो नभवति किं तर्हि आत्मनस्तु कामाय प्रयोजनाय जायाय, पतिः प्रियो भवति...**

श्री गोलवलकर जी किसी के मत को ईमानदारी के साथ नहीं पढ़ते और नहीं किसी ठोस तर्क के आधार पर उसका खण्डन करते हैं। हम पहले पाश्चात्यों के अनेक मतों का उद्धरण दे आये हैं जिन में कहा गया है कि क्षमा, दया,

करुणा एवं प्यार भी मनुष्यों में ही नहीं पशुओं तक में भी पाया जाता है। मनुष्य केवल स्वार्थी ही नहीं होता किन्तु वह परोपकारी एवं देशभक्त भी होता है। मनुष्येतर प्राणियों में भी मधुमक्खी कपोत आदि में संघटन एवं एकता होती है। किसी भी संघटन के लिए शिक्षा, सहिष्णुता, परोपकार आदि अपेक्षित होता है। जब राष्ट्रिय संघटन में भी यह आवश्यक है तब अन्ताराष्ट्रिय संघटन में वह क्यों न होगा ?

यदि कोई मानवता के नाते मनुष्य का उपकार एवं समन्वयवृत्ति से सुख-शांति से न रह सकेगा तो वह आध्यात्मिकता मानकर भी वैसा नहीं ही कर सकता। किन्तु अध्यात्मवादी भी स्वार्थ से प्रेरित होकर सुख-शांति के लिए खतरनाक होते थे। पुराणों के असुर और राक्षस भी अध्यात्मवादी थे, रावण आदि भी अध्यात्मवादी थे। परन्तु उनसे संसार में उत्पात ही बढ़ा था। आपके समान ही हिटलर भी अध्यात्मवादी था। वह भी मातृभूमि एवं अपनी जाति का गौरवगान करता था। परन्तु क्या वह शांति का संस्थापक था ? वस्तुतः अध्यात्मवादी को भी धर्मशास्त्र प्रामाण्यवादी होना चाहिए। व्यवहारशून्य समाधि में जब तक रहे तब तक भले ही शास्त्र अनावश्यक हों परंतु समाधि खुलते ही व्यवहार सामने आते ही धर्मशास्त्र एवं व्यवहार शास्त्र की मान्यता अत्यंत अनिवार्य है; अन्यथा अध्यात्मवाद भौतिकवाद से भी अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकता है। अध्यात्मवादी हजारों प्राणियों की हत्या करता हुआ भी कहता रहेगा कि आत्मा अजर अमर है; न आत्मा किसी को मारता है न किसी के द्वारा मारा जाता है— **"नायं हन्ति न हन्यते, हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबद्ध्यते।"** ज्ञानी सर्वलोक की हत्या करके भी उससे लिप्त एवं बद्ध नहीं होता। अभक्ष्यभक्षण अगम्यागमन करता हुआ जाति-पांति को तोड़ता हुआ भी कहेगा कि सबकी एक ही आत्मा है। सबसे रोटी बेटी भ्रष्टाचार का प्रचार करता हुआ भी अपने को नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा घोषित करता रहेगा। शंकराचार्य आदि ज्ञानी सब आस्तिक थे एवं वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य मानते थे। इसीलिए उनसे कोई खतरा नहीं था। परन्तु आप तो किसी भी पुस्तक (धर्म शास्त्र) को नहीं मानते हैं। तब फिर सर्वत्र आत्मा की एकता का ज्ञान होने पर भी आपके अनुयायियों का नियंत्रण कैसे होगा ? ऐसा धर्मशास्त्रोक्त धर्मकर्महीन ब्रह्मज्ञान ही निन्द्य है:—

"कलौ वेदान्तिनः सर्वेफाल्गुने बालका इव"

कुशला ब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनाःसुरागिणः। ते ह्यज्ञानितयानूनं पुनरायान्ति यांति च। इसीलिए जो अज्ञ अल्प प्रबुद्ध को सर्व ब्रह्म ही है यह कहता है, वह उसको नरक में ही भेजता है—

अज्ञस्याल्प प्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानिरय जालेषु स तेन विनिर [illegible] ॥
ब्रह्म ज्ञानबिनु नारिनर करहिं न दूसरिबात ।
कौड़ी कारण मोहवश करहिं विप्रगुरुघात ॥

तभी तो आपके अनुयायियों में स्वार्थपरायणता हिंसा वर्णाश्रम विद्वेष जाति-पांति धर्म कर्म भेद मिटाने धर्म आदि के नाम पर धन संग्रह करने, जाल फरेब करके विरोधियों को खतम करने की भीषण प्रवृत्ति देखी जाती है। क्या आत्मैकत्वज्ञान इन कामों में कोई भी रुकावट डाल रहा है ? यदि व्यवहार शुद्धि के लिए व्यावहारिक चारित्रिक सदाचार आवश्यक समझते हैं तो आपको मालूम होना चाहिए कि कम्युनिस्ट भी मानवोचित सद्गुणों का प्रचार करता है। अतः उन्हीं के आधार पर शासन रहित मानव समाज बन जाने पर व्यवहार चल सकेगा।

जैसे धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहार करनेवाले सदाचारी संयमी साधन के तत्त्वज्ञानी होने पर विधि निषेधातीत हो जाने पर भी उसकी दुराचार में प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु वह पूर्व संस्कार के अनुसार धर्म नियंत्रित जीवन ही यापन करता है। उसी तरह राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय सदाचारों का पालन करते हुए नियंत्रित एवं सभ्य नागरिकों की भी शासनहीन समाज में सदाचार विरोधी प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु पूर्व के संस्कारों एवं आदतों के अनुसार उसकी सदाचार नियंत्रित ही प्रवृत्ति होगी। नियंत्रित जीवन ही सभ्यता है। अनियंत्रित जीवन तो असभ्यता ही है। व्यावहारिक सदाचार न माननेवाला अध्यात्मवादी भी असभ्य होता है। व्यावहारिक सदाचार माननेवाला भौतिकवादी भी सभ्य हो सकता है। काम, क्रोध आदि मनोवेगों की प्रेरणा से रहित एवं अधिकार प्रधान न होकर कर्त्तव्यनिष्ठ होने से ही अध्यात्मवादी भी सभ्य होता है। उपर्युक्त ढंग से ही भौतिकवादी भी सभ्य हो सकता है। अध्यात्मवाद द्वारा भी प्राप्त की गयी समानता भी प्रमाद से पुनः विषमता रूप में परिणत हो जाती है। तभी तो कभी का सभ्य समुन्नत भारत भी आज असभ्य एवं अनुन्नत हो रहा है।

श्री गोलवकर जी का यह कहना भी ठीक नहीं कि इस प्रकार जो चित्र दृष्टि-गोचर हुआ उसमें न तो केन्द्रिय सत्ता के लुप्त हो जाने के ही लक्षण हैं और न संयोगवश प्रभुत्व का लोप होने की दशा में शान्ति के उदय की कोई संभावना ही है। इसमें कम्युनिस्ट राज्य ने गत पचास वर्षों में भी अपने लुप्त होने के कोई चिह्न प्रकट नहीं किया......यह सैद्धान्तिक आधार की पूर्ण असफलता का जीवन्त प्रमाण है (वि० न० २१ पृ०)।

यह कहना भी सिद्धांत न समझने का ही दुष्परिणाम है। मित्रों के प्रश्न पर लेनिन ने स्पष्ट उत्तर दिया था कि जब तक संक्रमण काल है तब तक सर्वहारा का अधिनायकत्व ही कल्याण का मूल है और संक्रमण काल तब तक रहेगा जब तक संसार के किसी भी कोने में पूंजीवाद रहेगा। उसके समाप्त होने के पहले राज्यलोप होने से प्रतिक्रियावादी एवं पूँजीवादी राष्ट्र श्रमिक संघटन एवं उसकी सभी योजनाओं के लिए भीषण खतरा उत्पन्न कर सकते हैं।

पूंजीवाद का अर्थ है उत्पादन साधनों भूमि, सम्पत्ति, खानों, कल-कारखानों का वैयक्तिक होना। उसके मिटने में जितनी देरी है उतनी ही देरी राज्यलुप्त होने और शासनरहित समाज बनने में है। आमतौर पर जैसे कुटुम्ब या परिवार के लोग चाहे भौतिकवादी हों चाहे अध्यात्मवादी सब बातों का समाधान आपसी तौर पर कर लेते हैं, हर बात में पुलिस अदालत या पार्लियामेंट का सहारा नहीं ढूंढते, उसी प्रकार समष्टि विश्व में भी यह स्थिति लायी जा सकती है। इसी को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के नाम से भारत में भी याद किया जाता है। कोई भी बड़ा काम बड़े परिश्रम, बड़ी योजना एवं व्यवस्था से होता है, छुमन्त्र या जादू की छड़ी से नहीं। अध्यात्मवाद के भी किसी आदर्श की प्राप्ति में पर्याप्त विलंब होता ही है।

आपने फिर **नराज्यं न च राजासीत न दण्ड्यो न च दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्॥ "धर्मो हि तेषामधिको विशेषः"** की बात उठायी है और साथ ही यह भी कहा है कि सदाचरण की संहिता है धर्म (२१ पृ०) परंतु अन्यत्र आप कहते हैं "हम कोई पुस्तक नहीं मानते।" ऐसी स्थिति में सदाचार संहिता भी तो किसी पुस्तक रूप में संकलित है या मनमानी हो ? क्या मनु याज्ञवल्क्यादि धर्मग्रन्थ सदाचरण संहिता नहीं हैं, यदि हैं तो कैसे कहते हैं कि कोई पुस्तक नहीं मानेंगे। फिर ऐसी संहिताएँ तो सभी देशों में होती हैं। संविधान भी तो एक प्रकार की सदाचरण संहिता ही होता है। वस्तुतः इस दृष्टि से गोलवलकर जी का मत भारतीय शास्त्रों एवं सिद्धान्तों से बहुत दूर है। वह तो पाश्चात्यों का ही उच्छिष्ट सार संग्रह है। हिटलर के नात्सीवाद का रूपान्तर ही गोलवलकर की राष्ट्रियता है। वे शास्त्रों को सर्वथा नहीं मानते और न अपने एवं अपने अनुयायियों को शास्त्रवचनों से बाध्य मानते हैं। केवल अपनी कल्पनाओं को महत्व देने के लिए ही शास्त्रवचनों का नाम लेते हैं। पाश्चात्य लोग अपनी परंपराओं एवं धर्मग्रन्थों का सम्मान करते हैं पर गोलवलकर जी अपने संघ को परंपराप्राप्त मन्वादिधर्मशास्त्रों से प्रोक्तधर्म या सदाचरण से विरुद्ध ही चलने का प्रोत्साहन देते हैं।

गोलवलकर जी का धर्म उनकी व्याख्या के अनुसार तथाकथित यम एवं नियम है। उसका भी कोई प्रामाणिक शास्त्रीय आधार नहीं है। उनकी अपेक्षा पाश्चात्यलोग

कहीं अच्छे ढंग से नैसर्गिक नियमों की व्याख्या करते और मानते हैं। पाश्चात्यों के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के बिना टिक नहीं सकता। अतः उसे समाजहित के साथ अपने हित का सामंजस्य करना ही चाहिए। श्री गोलवलकर यदि शास्त्र वचनों का उद्धरण देते हैं तो उन्हें उनका अर्थ भी शास्त्रीय ढंग से ही करना चाहिए। वस्तुतः शास्त्र प्रामाण्य मानकर शास्त्रोक्त तर्कों का मनन करके ही पाश्चात्य भौतिकवाद साम्यवाद या समाजवाद या भौतिक पूंजीवाद का खण्डन किया जा सकता है! शास्त्र का अप्रामाण्य घोषित करते हुए भी शास्त्र की ही बातों को लेकर अपने मन्तव्य का महत्त्व वर्णन करना वस्तुतः निर्लज्जता ही है। मार्क्सवाद और रामराज्य पुस्तक में विस्तार से मैंने पाश्चात्य अन्य वादों के साथही मार्क्सवाद का खण्डन किया है, उसे वहीं देखना चाहिए।

वस्तुतः **'न वै राज्यं न राजासीद्'** (म० भा० शा० प० ५६।१४) के द्वारा बतलाया सिद्धांत सार्वत्रिक नहीं है। वह व्यवस्थाकृतयुग की है। उक्त वचन आर्ष इतिहास महाभारत का है, दर्शन का नहीं। गोलवलकर जी उसके पूर्वापर और प्रसंग को बिना देखे मनमानी अर्थ करते हैं। प्रसंग के अनुसार उसका यह अर्थ है कि कृतयुग या सत्वयुग में सभी मनुष्य ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न ब्रह्मविद्वरिष्ठ एवं धर्म-नियंत्रित धर्मनिष्ठ थे। अतः सबमें परमार्थतः अभिन्न ब्रह्म का दर्शन करते थे, व्यवहारतः धर्मनिष्ठ होने से एक दूसरे के पोषक एवं रक्षक ही थे। कोई किसी का शोषक या भक्षक नहीं होता था, इसीलिए उस समय आवश्यक न होने से राजा राज्य एवं दण्डविधान कुछ भी नहीं था। धार्मिक नियमों के आधार पर ही धर्मनियंत्रित प्रजा बिना राजा के ही आपस में एक दूसरे का रक्षण करती थी।

परन्तु वहीं अगले प्रसंग में स्पष्ट वर्णन है कि कालक्रम से प्रजा में मोह का प्रवेश हुआ। ज्ञानविज्ञान एवं धर्मनिष्ठा में ह्रास होने से काम-क्रोध के विस्तार से मात्स्य-न्याय फैल गया। पुनश्च प्रजा की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने राजनीति एवं राज्य-व्यवस्था की स्थापना की। वस्तुतः शाश्वत ईश्वर एवं शाश्वत ईश्वरीय संविधानरूप शास्त्र न मानने के कारण कोई धार्मिक नियम निर्धारित नहीं होते हैं। भारत में वह शाश्वत संविधान एवं तदनुसारी धर्म निर्धारित है। इतर देशों में भी कोई न कोई धर्मग्रन्थ एवं धार्मिक नियम मान्य है। परन्तु मार्क्स ईश्वर आत्मा एवं शाश्वत धर्म नहीं मानता। इसीलिए वह व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि के राष्ट्रियकरण का सिद्धांत मानता है। दूसरी कई भारतीय या अभारतीय पार्टियां ईश्वर, धर्मग्रन्थ, धर्म एवं संस्कृति का नाम लेती हुई भी किसी सुस्थिर शास्त्र का प्रामाण्य एवं धर्म का सुस्थिर स्वरूप नहीं मानती हैं। वे अनिश्चित धर्मपरिवर्तन का सिद्धांत मानकर समय-समय पर धार्मिक सामाजिक नियमों में परिवर्तन मानती हैं। ऐसी स्थिति में वे भी

मार्क्सवादियों के समान ही भूमि-संपत्ति का राष्ट्रियकरण मानती हैं। कई लोग नये सिरे से भूमि के वितरण आदि का सिद्धांत कहते और कार्यान्वित करते हैं। फलत उनमें, मार्क्सवादियों में कोई अन्तर नहीं। हाँ मार्क्सवादियों के तर्क पुष्ट हैं, अन्य लोगों के तर्क निस्सार हैं।

महायन्त्र युग में यदि भूमि सम्पत्ति कल कारखानों एवं खानों के मालिक व्यक्ति ही रहेंगे तो बेकारी बेरोजगारी की समस्या का समाधान कैसे होगा? आर्थिक असंतुलन कैसे मिटेगा? इसका उत्तर मार्क्स के मत में राष्ट्रियकरण है, अन्य लोगों के यहाँ इसका कोई भी समाधान नहीं। परन्तु मार्क्स द्वारा ईश्वर-आत्मा एवं शाश्वत धर्म के खण्डन में प्रयुक्त तर्क निःसार हैं। संसार की कोई भी क्रिया या कार्य चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, बिना ज्ञानवान् इच्छावान् क्रियावान् चेतन के नहीं होता। मिट्टी के घड़े लकड़ी के मेज से लेकर महायंत्रों तक यही देखा जाता है। ऐसी स्थिति में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वन, पर्वत, पशु-पक्षी मनुष्य तथा उसके दिल दिमाग बुद्धि आदि के निर्माण में भी ज्ञानवान् इच्छावान् चेतन की आवश्यकता होती है। इस विशाल अपरिमित प्रपंच का निर्माता शाश्वत ईश्वर है। ईश्वर शाश्वत है। उसका संविधान वेदादिशास्त्र तथा तदुक्त नियम भी शाश्वत है, निश्चित है। वैज्ञानिक निर्मित किसी यंत्र का निर्माण, संचालन एवं सुरक्षा वैज्ञानिक निर्दिष्ट पद्धति से ही करनी पड़ती है अन्यथा नहीं। इसी तरह ईश्वरीय निर्मित प्रपंच के संचालन में भी ईश्वरीय निर्दिष्ट पद्धति का अनुसरण अनिवार्य ही है। संसार में सूर्य, चंद्र, शुक्र, बुध आदि की गति उदय अस्त सब शाश्वत नियमों पर ही निर्भर है। चक्षु से रूप, श्रोत्र से शब्द, घ्राण से गंध ग्रहण का नियम सामुद्रिक ज्वार भाटा का नियम शाश्वत ही है। ये सब नियम माली हालात पर निर्भर नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वरीय नियम के अनुसार किसी की वैध न्याय प्राप्त भूमि-संपत्ति आदि का हरण करना पाप है। इस ईश्वरीय नियम का उल्लंघन कथमपि न्याय नहीं हो सकता है। सभी धर्मों में अदत्तादान अर्थात् किसी की अदत्त वस्तु का आदान, ले लेना पाप कहा गया है। इस तरह राष्ट्रियकरण का औचित्य नहीं सिद्ध होता है। आर्थिक असंतुलन उसके बिना भी शास्त्रीय धार्मिक राजनैतिक नियमों द्वारा दूर करके बेकारी बेरोजगारी दूर की जा सकती है।

परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वागृहे।
अदत्तंनैव गृह्णीयात्..................

परान्न परद्रव्य बिना मालिक के दिये हरगिज नहीं लेना चाहिए।

बेकारी बेरोजगारी दूर करने के लिए काम के घण्टों में कमी करके अधिकाधिक श्रमिकों को दाम दिया जाने का कानून बनाना धर्मविरुद्ध नहीं है। यही उपाय राष्ट्रियकरण सिद्धांत में भी सरकारों को अपनाना पड़ेगा। शास्त्रों में एक हल चलाने

एवं दायभाग का नियम नहीं चल सकता है। मनु आदि धर्मशास्त्रों में सगोत्र सापिण्ड्य विवाह वर्ज्य है। उत्तराधिकार की सूची भी निश्चित है। जो हिन्दू होकर भी इन धर्मशास्त्रों को नहीं मानेगा उससे अनियमित विवाहादि होंगे। फिर भाई बहन पिता पुत्री आदि की भी शादी पर कोई प्रतिबन्ध न रहेगा। फिर उनमें पशु में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा। श्री गोलवलकर यदि शास्त्र प्रामाण्य नहीं मानते हैं तो उनके मत में भी पशुता का अतिक्रमण नहीं हो सकता है।

आप कहते हैं कि पाश्चात्यों ने साधनों को साध्य मानने की भूल की, इसी कारण विफलता हुई (वि० न० २२ पृ०) परन्तु वही भूल आप भी कर रहे हैं। आप तो जान-बूझकर शास्त्र की अमान्यता ठहराकर शास्त्र का उल्टा अर्थ लगाकर उपनयनादि संस्कार संध्या स्वाध्याय अग्निहोत्रादि शास्त्रोक्त आचार-विचार की उपेक्षा करके यम नियम को मान रहे हैं जो कि संन्यासियों का धर्म और वर्णाश्रमाचार का फल है और अहिंसा सत्य से कोसों दूर रह कर। **इसीलिए आपके अनुयायी और आपने ध्वजवंदन एवं कबड्डी तथा जाल-फौरेब को ही राष्ट्रियता का रूप मान रखा है।** आपके भी व्याख्यान एवं लेख मार्क्सवाद से भी निकृष्ट श्रेणी में पर्यवसित होते हैं।

कम्यु.नस्ट का खण्डन भी केवल किसी विश्वास के आधार पर नहीं हो सकता है। किसी शास्त्र को प्रमाण न मानने और किसी भी शाश्वत सिद्धान्त को सदा के लिए अपरिहार्य न मानने में कम्युनिस्ट एवं आप तथा आपका संघ समान ही हैं। शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म जाति, पाँति आप और कम्यूनिस्ट दोनों ही नहीं मानते। वस्तुभूत भारतीय संस्कृति के लिए दोनों ही अभिशाप हैं। हाँ, वे धर्म का नाम लेकर धोखा नहीं देते परन्तु उनसे आपके संघियों में धर्म एवं गाय का नाम लेकर जाल फौरेब करने की बात कहीं अधिक है। प्रतिफल बिना दिये ही जमींदारी जागीरदारी छीन लेना यह आप कम्युनिस्टों का दोष कहते हैं (वि० न० १९० पृ०) परन्तु आपके जनसंघ ने भी तो अपने घोषणापत्र में यही घोषणा की थी कि जनसंघ मुआविजा बिना दिये हुए ही जमीन्दारी जागीरदारी समाप्त कर देगा।

आपने वि० न० पृ० १८५ पर वर्तमान जनतन्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि जनता की सामूहिक इच्छा के प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वस्थकर स्पर्धाओं तथा स्वार्थों एवं विच्छेद की शक्तियों को बढ़ावा दिया है। परंतु अपनी तरफ से उसका कोई विकल्प नहीं बताया है। जनतंत्र, कम्युनिज्म, सोशलिज्म का भी आप अगले पन्नों में खंडन करते हैं। तब क्या आप हिटलर का अधिनायकतन्त्र या साम्राज्यवाद का समर्थन करना चाहते हैं? यह भी स्पष्ट कहना चाहिए। पर साथ ही वहीं आप जनतंत्र की असफलताओं में ही अपने देश में कम्युनिज्म की विभीषिका की वृद्धि मानते हैं। निस्संदेह उच्चस्तर के आश्वासन मात्र से कम्युनिज्म को नहीं

रोका जा सकता, परन्तु देशभक्ति, चरित्र एवं ज्ञान जैसी उच्चतर भावनाओं के आह्वानों मात्र से भी (वि० न० पृ० १८६) कम्युनिज्म को रोकना असंभव है। क्योंकि रोटी-कपड़े की समस्या तो रोटी कपड़े से ही हल होती है, देशभक्ति, चरित्र, एवं ज्ञान से नहीं। इसीलिए तो भारतीय शास्त्रों में शोक, मोहनिवृत्ति के लिए आन्वीक्षिकी (अध्यात्म विद्या, परलोकचिन्तानिरसन) के लिए त्रयी (धर्म) विद्या, और लौकिक जीवन निर्वाह के लिए वार्ता (कृषि, वाणिज्य, शिल्प, पशुपालन) विद्या की आवश्यकता बतायी गयी है। अतः शास्त्र प्रामाण्यबुद्धि, तदनुसार ब्रह्म एवं धर्म में निष्ठा तथा वार्ता का पूर्ण विस्तार ही कम्युनिज्म को समूल नष्ट कर सकता है। अन्धविश्वास पर आधारित देशभक्ति एवं तथाकथित निराधार चरित्र के बल पर उसका उन्मूलन नहीं हो सकता। प्रामाणिक धार्मिक निष्ठा के अभाव तथा आध्यात्मिक विचारों की कमी, एवं महायन्त्रवाद के परिणामस्वरूप उत्पादन-साधनों के केन्द्रियकरण, निस्सीम आर्थिक असन्तुलन तथा बेकारी, बेरोजगारी, गरीबी का विस्तार होने से ही कम्युनिज्म की ओर जनता की प्रवृत्ति होती है। मार्क्स के अनुसार भी महायंत्रसंपन्न पूंजीवाद के गर्भ से ही कम्युनिज्म की उत्पत्ति होती है। इसीलिए पाश्चात्य लोग ईसाइयत के द्वारा आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता का विस्तार एवं डालर की सहायता से गरीबी रोकने का प्रयास करते हैं। यह उनका बुद्धि विभ्रम है (पृ० १८६)। यह कहना ठीक नहीं, यद्यपि वैदिक, दार्शनिक अध्यात्म-वाद एवं धर्म तथा वैदिक राजनीति शास्त्र के द्वारा ही मार्क्स आदि के तर्कों का समूल उन्मूलन होता है, बाइबिल कुरान आदि से नहीं तथापि आपके निराधार एवं अन्धविश्वास पर आधारित हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की अपेक्षा तो ईसाइयत आदि का प्रचार कहीं अधिक ही कम्युनिज्म को रोक सकता है, क्योंकि उनका आधार फिर भी कोई धर्मग्रन्थ है।

पर आप तो किसी भी धर्मग्रन्थ को अपनी मान्यताओं एवं हिन्दुत्व का आधार मानते ही नहीं। ईसाई धर्म की त्रुटियों की प्रतिक्रियास्वरूप ही तो कम्युनिज्म है। ईसाई विश्व के कट्टर देश रूस ने ईसामसीह के धर्म का त्याग क्यों किया ? ईसाई बहुल केरल में कम्युनिज्म क्यों फैला ? (वि० न० १८६ पृ०) इत्यादि बालोचित उक्तियाँ सर्वथा निःसार हैं। कहीं भी ऊपर से भले कोई चाहे, ईसाई, मुसलमान या हिन्दू ही क्यों न हो, पर इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अध्यात्मनिष्ठा या धर्मनिष्ठा है ही। इसीलिए तो भारत में ही देखें तो कम्युनिस्टों में प्रधानता हिन्दू की है। मुसलमान भी कम्युनिष्ट हैं ही। इतना ही क्यों आपसे भी तो कोई प्रश्न कर सकता है कि आद्य शंकराचार्य के जन्मस्थान केरल एवं रामकृष्ण, विवेकानन्द की जन्मभूमि बंगाल में कम्युनिज्म क्यों पनप रहा है ? शंकराचार्य की जाति के ही ब्राह्मण

भी क्यों कम्युनिष्ट नेता बन गये हैं। अवश्य ही किसी भी धर्मग्रन्थ तथा तदुक्त ईश्वर एवं धर्म के ठोस प्रचार से जब भौतिकवाद शिथिल होगा तभी भौतिकवाद पर आधारित कम्युनिज्म कमजोर होगा। फिर भी भौतिकवाद पर आधारित तर्कों एवं उनके द्वारा उठायी गयी राजनीतिक आर्थिक समस्याओं का पूर्ण समाधान वैदिक दर्शनों, राजनीतिक, आर्थिक शास्त्रों के बिना हो सकना असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त महायंत्रों के विस्तार, बेकारी, बेरोजगारी, आर्थिक विषमताओं के फैलाव को रोके बिना किसी भी धर्म-प्रचार मात्र से कम्युनिज्म का रुकना सम्भव नहीं है। आप कहते हैं कि ईसाइयत के प्रसार से समाज की प्राचीन श्रद्धाएँ और राष्ट्रीयता भंग होती जाती है, वहीं कम्युनिज्म बढ़ता है, कम्युनिज्म के बढ़ने का सबसे बड़ा यही मनोवैज्ञानिक तत्त्व रहा है (वि० न० १८७ पृ०)।

वस्तुतः आपका मनोवैज्ञानिक तत्त्व ही सबसे कमजोर एवं लचर तर्क है। किसी तरह हिन्दुस्तान के लिए किसी अंश में यह यहा जा सकता है, परन्तु ईसाई राष्ट्रों में उसके प्रचार से उसकी प्राचीन श्रद्धाएँ एवं राष्ट्रियता क्यों भंग होंगी ? साथ ही हिन्दुस्थान में आपके संघ संबंधी प्रचार से भी प्राचीन शास्त्रों एवं तदुक्त जाति-पाँति खान-पान तथा आचार-विचार की श्रद्धाएँ भंग हो रही हैं। क्या इस पर भी कभी आपने विचार किया है ? जो शास्त्रों पर विश्वास छोड़ बैठेगा वह आपके उपदेशों एवं पुस्तकों पर तथा भगवाध्वज पर भी कितने दिन तक विश्वास रख सकेगा ? इसी पन्ने में लिखित आपकी विज्ञानवाली बात भी निःसार ही है। यह आपको मालूम होना चाहिए कि ईसाइयों ही ने बड़े समारोह के साथ सबसे पहले विज्ञान की धज्जियाँ उड़ाई हैं। विज्ञान ने काल, अन्तरिक्ष आदि आदि ईसाई कल्पनाओं को ही नहीं उड़ा दिया किन्तु आपके हिन्दुस्थानी आत्मा, ईश्वर एवं परलोक की कल्पनाओं को भी उड़ाने का प्रयत्न किया था, परन्तु कुछ शताब्दियों बाद आपके ही शब्दों में विज्ञान ने अपने को उस रूप में अप्रमाणित करना प्रारंभ कर दिया है।

'साइंस एण्ड रेलीजन" (धर्म एवं विज्ञान) पुस्तक में सर ओलिवर जोजेफ लाज एफ० आर० एस० डी० एस० सी०, एल–एल०, डी०, प्रो० जान एम्ब्रोज, प्रो० डब्ल्यू० बी० बाट्मली, प्रो० एडवर्डहल, जान एलन हार्कर, प्रो० जर्मन सिक्स उडहेड तथा प्रो० सिलवेनिस फिलिप्स थाम्पसन-इन सात प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अपने समय में प्रचलित वैज्ञानिक मन्तव्यों के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था। इसमें ईश्वर, जीव, धर्म एवं विकास के सम्बन्ध में डार्विन के मत का खण्डन कर आस्तिक पक्ष का समर्थन किया गया है। प्रो० बाट्मली ने कहा है कि "हेक्ल का पुराना भौतिक स्कूल वर्तमान युग से बिलकुल दूर है। हेक्ल की "दि

रिड्ल आफ युनिवर्स" का उत्तर "रद्दी विचार एवं नूतन उत्तर" (दि ओल्ड रिड्ल एण्ड न्यूएस्ट आंसर) पुस्तक में दिया गया है।

इसी तरह सैकड़ों पुस्तकें उच्छृंखल विज्ञान के खण्डन में आस्तिक वैज्ञानिकों द्वारा ही प्रकाशित हुई हैं। 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पृ० १४६ देखना चाहिए। महान् वैज्ञानिक डाक्टर लो ने यह स्पष्ट कहा है कि आज का सबसे बड़ा आविष्कार यह है कि अभी हमने कुछ भी नहीं जाना। आपका यह कथन सत्य से अत्यन्त दूर है कि "विज्ञान निष्ठा के इस अवसाद के पश्चात् पश्चिम का मनुष्य अज्ञान-सागर में कर्णधारहीन नौका के समान हो गया। प्राचीन निष्ठाएँ मर चुकी थीं तथा नवीन निष्ठाएँ प्रकाश में आ नहीं पायी थीं। निष्ठा की इस रिक्तता की स्थिति में यह घटित हुआ कि उस अवकाश को पूर्ण करने के लिए कुछ ऐसे विश्वास आये जिनमें सत्य एवं शिव का आभासमात्र था, ऐसा ही एक विश्वास कम्युनिज्म भी था।" (वि० न० पृ० १=७)। वस्तुतः कम्युनिज्म विज्ञाननिष्ठा के अवसाद का परिणाम नहीं है किन्तु वह विज्ञान के ही पूर्ण विश्वास पर आधारित है। कम्युनिज्म की वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले मार्क्स एवं एंगेल्स ने विज्ञान के आधार पर भी देहभिन्न आत्मा, ज्ञान, आनन्द आदि अभौतिक तत्त्वों का निराकरण करके भूतों का ही परिणाम चेतना स्वीकार किया है, और वैज्ञानिकों ने महायंत्रों के आविष्कार को ही कम्युनिज्म का उद्गम स्थान घोषित किया है। साथ ही विज्ञान के आगामी विकास पर ही महायंत्रों एवं कम्युनिज्म का आगामी पूर्ण विकास माना है, दार्शनिकों ने अपने तर्कों एवं विज्ञानों के आधार पर वैज्ञानिकों की सर्वज्ञता के दावा भर का खण्डन किया है और यह प्रमाणित किया है कि धर्म, ब्रह्म, आत्मा, काल आदि के सम्बन्ध में विज्ञान का निर्णय अंतिम या सही नहीं है। प्रयोगों, यंत्रों आदि के आधार पर होने वाले प्रत्यक्षापित ज्ञान ही विज्ञान हैं।

परन्तु प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि की पहुंच के बाहर अर्थात् प्रत्यक्षानुमान से अविज्ञान धर्म, ब्रह्म आदि का प्रतिपादन करना वेद का विषय है, विज्ञान का विषय नहीं:—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥"

जो उपाय प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं विदित हो सकता है, उसका ज्ञान वेद से होता है। यही वेद की वेदता है। इस तरह विज्ञान के घमण्ड का खण्डन करके दार्शनिकों ने धर्म, ब्रह्म, निष्ठा को पुनः प्रतिष्ठापित किया है। कुछ बहुत थोड़े से समझदार वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि हमें जिज्ञासा के मार्ग पर चलकर खोज

करनी चाहिए, हमारे निर्णय गलत भी हो सकते हैं। अभी हमारी खोज बहुत थोड़ी एवं अधूरी है। इसके आधार पर हमें शास्त्रोक्त निर्णयों में अर्थात् आत्मा, ब्रह्म, धर्म आदि के विचारों में हस्तक्षेप न करके उनसे सबक लेकर आगे खोज करने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु मार्क्स, एंगेल्स आदि कम्युनिज्म के प्रवर्तकों का आत्मा, ज्ञान, आनंद एंव धर्म आदि के सम्बन्ध में अभी भी वही निर्णय है, इस सम्बन्ध में विज्ञान का निर्णय ही ठीक एवं अंतिम है। परोक्षवादी शास्त्र की अपेक्षा प्रत्यक्षवादी विज्ञान के प्रत्यक्ष करिश्मे अब भी अपनी वैज्ञानिक चमत्कृति की चकाचौंध में लोगों को मोहित करते हैं, उत्तरोक्त वर्धमान वैज्ञानिक यन्त्रों, राकेटों, वैद्युत चमत्कारों परमाणु हाइड्रोजन विश्लेषणजनित परिणामों का प्रभाव अनिवार्य रूप से आध्यात्मिक, धार्मिक लोगों पर भी पड़ रहा है। यही कारण है कि भौतिकवादी कम्युनिज्म के विस्तार को अमरीका, इंग्लैण्ड आदि राष्ट्र अपने धार्मिक प्रचारों एवं धन साहाय्य आदि द्वारा रोकने का कुछ प्रयास कर रहे हैं। उनके भीतर भी इसका असाधारण प्रभाव प्रतिक्षण बढ़ ही रहा है। जब तक भारतीय, वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीतिक शास्त्रों के द्वारा कम्युनिज्म सिद्धान्त के आधार पर उठायी गयी समस्याओं एवं तर्कों का सक्रिय समाधान न होगा तब तक उसका रुकना असम्भव ही है। कम्युनिज्म में सत्य एवं शिव का आभास नहीं है और नहीं वह कोई विश्वास है, वह तो शुद्ध भौतिकवादी तर्कों पर ही आश्रित है। अमरीकियों का डालरदान, किन्हीं का अन्नदान, धनदान, भूदान आदि भी सर्वथा निरर्थक नहीं वे सभी यथासम्भव आर्थिक विषमता के निवारक हैं। पर वे निस्वार्थ हों तो उनका महत्त्व बहुत अधिक हो सकेगा।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार विद्या ज्ञान के लिए, शक्ति संरक्षण के लिए एवं धन दान के लिए होते थे, तभी इनकी विषमता अनर्थकारिणी नहीं होती थी, पर जहाँ विद्या विवाद, शक्ति विनाश, एवं धन मद का कारण होता है वहाँ अवश्य ही आर्थिक आदि विषमता भी सब अनर्थों के ही हेतु होते हैं। इसीलिए धर्मयुक्त संतुलित विषमता भी क्षम्य हो सकती है। धर्मयुक्त होने पर भी असन्तुलित आर्थिक विषमता कभी भी क्षम्य नहीं थी। हाथ की अँगुलियों में असमानता होती हैं परंतु असन्तुलित नहीं। वैसी विषमता को तो रोग ही समझा जाता है। पेट की निःसीम मोटाई तथा हाथ पाँवों की निःसीम पतलायी जलोदर रोग का ही चिह्न है। किसी घर में करोड़ों अरबों की संपत्ति का होना और किसी के रोजी का भी कोई ठिकाना न होना, किसी के घर में लाखों सन्तरे सड़ते रहें और किसी को इलाज के लिए एक सन्तरा की फाँक भी न मिले तो अनर्थ की सृष्टि ही हो सकती है। यही कारण था कि वैदिक दृष्टि में अतिथि-सत्कार, दान-साहाय्य तथा यज्ञादि के प्रसंग से वितरण द्वारा आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न प्रतिक्षण चलता रहता था। सम्राट् लोग भी यज्ञों में

सर्वस्वदान करके अकिंचन हो जाया करते थे।" तीन-चार रुपये प्रतिदिन कमानेवाले रिक्शेवाले को ए, ओ पुकारना, साठ रुपये मासिक कमानेवाले को बाबूजी कहना भी घृणा का आधार नहीं किन्तु जातीय व्यवस्थाओं या राजकीय पदों के आधार पर होता है (वि० न० १८८ पृ०)। आप भी मान चुके हैं कि एक शासक अंग्रेज की अपेक्षा भी एक गरीब ब्राह्मण चपरासी का अधिक सम्मान उसकी जाति या कुल के आधार पर किया जाता था (वि० न० पृ० १३५)। श्रम या धन के आधार पर सम्मान का रूप अलग होता है, तथा कुल या पद के आधार पर सम्मान का रूप अलग। एक करोड़-पति भी जज के सामने बड़े सम्मान के साथ उपस्थित होता है। धन की दृष्टि से जज का महत्त्व बहुत ही कम होता है परन्तु पद की दृष्टि से उसका महत्त्व अधिक है।

कर्त्तव्य कर्मों के पालन में ऊँच-नीच होने का भाव नहीं है (वि० न० १८९ पृ०)। यह भी सत्य नहीं है, कारण कर्त्तव्य कर्मपालन करनेवालों में भी उत्कर्ष-विकर्ष का भेद होता है। तभी कर्त्तव्यपरायण शूद्र भी कर्त्तव्यपरायण ब्राह्मण को नमस्कार करता है, ब्राह्मण शूद्र को नमस्कार नहीं करता। पिता पुत्र को प्रणाम नहीं करता, पुत्र पिता को प्रणाम करता है। पिता पुत्र को ए, ओ कहकर पुकारता है, पर पुत्र पिताजी कहकर पुकारता है। यहाँ भी घृणामूलक ऐसा व्यवहार नहीं होता और न इससे कम्युनिज्म का ही खतरा होता है। एक वेद-वेदांग विद्वान् आज मुश्किल से महीने में सौ पचास कमाता है, परन्तु एक मोची या जूतों पर पालिश करनेवाला उस वैदिक से बहुत अधिक कमा लेता है। क्या आपकी दृष्टि में, मोची का अधिक सम्मान होना चाहिए? या वैदिक ब्राह्मण के बराबर सम्मान होना चाहिए? प्राचीन काल में सदा ही वैदिक ब्राह्मण के सम्बोधन में और मोची के सम्बोधन में भेद रहा था, परन्तु न उसका हेतु घृणा थी और नहीं उससे कम्युनिज्म का खतरा खड़ा हुआ।

आज भी ऐसे व्यवहारों से नहीं किन्तु असंतुलित अर्थ वैषम्य ही वर्गभेद, वर्ग-संघर्ष का कारण बनता है। वस्तुतः मार्क्स के अनुसार कुछ अधिक बोनस, भत्ता या धन मिलने मात्र से कम्युनिस्ट को सन्तोष न होगा, उसकी दृष्टि में तो विनिमय मूल्य से होने वाली सभी आमदनी लागत खर्च एवं सरकारी टैक्स मशीन मकान का भाड़ा आदि निकालकर सबकी सब धनराशि मजदूर के श्रम का ही फल है, वह उसे ही मिलना चाहिए। उससे कम में कम्युनिस्ट कभी भी सन्तुष्ट न होगा। आर्थिक कुछ असमानता तो कम्युनिस्टों में भी रहती है। बुद्धजीवी श्रमजीवी के व्यवहार एवं सम्बोधन भी भिन्न होते हैं। सबकी शिक्षा, श्रम और उसका फल पाने का समान अवसर ही उनकी समानता का अर्थ है। इंजीनियर एवं राज के काम, दाम, आराम में

तो भेद उनको भी मान्य है ही। "इसी तरह मत पत्रपेटिका से समाजवाद को प्राप्त करेंगे चीन तथा रूस के समान गोली से नहीं" (वि० न० पृ० १८९)। यह आपके नेताओं की कोई नवीन बात नहीं है, इसमें यह हेतु भी नहीं है कि रूस के लोग अधिक जाग्रत थे, इसलिए वहां गोली की आवश्यकता थी, भारत के लोग राष्ट्रसेनानियों के कहने से गर्दन भी कटा सकते हैं। अतः यहाँ गोली की आवश्यकता नहीं। किन्तु काल मार्क्स ने ही अपने ग्रंथों में वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष, एवं वर्ग विध्वंस के द्वारा समाजवाद की स्थापना बतायी है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका जैसे प्रजातांत्रिक देशों में वर्ग क्रांति बिना निर्वाचन-प्रथा से भी समाजवाद लाया जा सकता है।

आपने कहा यहाँ हमारे लोग नम्रवीर पूजक हैं—वे राष्ट्र-सेनानी के आदेशानुसार गर्दन झुकाकर शिर कटाने के हेतु अर्पण कर देंगे (वि० न० पृ० १८९)। परन्तु भारत की अपेक्षा बहुत पहले इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार बन चुकी है। नेता के प्रति अन्ध श्रद्धा पाश्चात्य जगत् की देन है, उसी से अन्य लोगों के समान आप भी फायदा उठा रहे हैं। भारत में तो ईश्वर एवं आचार्य में भी शास्त्रानुसार ही विवेकयुक्त श्रद्धा का ही विधान है **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं उपनिषद्** ॥ ब्रह्म को जानने के लिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। यद्यपि श्रुति का अर्थ गुरुपरंपरा से ही जानने का विधान है, तथापि शास्त्रों के अनुसार ही गुरु का लक्षण जानना चाहिए। शास्त्र-विरुद्ध आचरण एवं उपदेश देनेवाले को कभी भी गुरुत्वेन नहीं वरण करना चाहिए। शास्त्र विरुद्ध आचरण एवं उपदेश देनेवालों का जो आज भारत में सम्मान हो रहा है वह पाश्चात्य सभ्यता की ही देन है। इतना ही क्यों कम्युनिस्टों, मार्क्सवादियों के पास तो कुछ सिद्धान्त भी है परन्तु भारतीय पार्टियां तो सर्वथा सिद्धान्तहीन हैं।

भूमि आदि छीनने के लिए कम्युनिस्टों के पास कुछ तर्क भी हैं। पर यहाँ तो तर्कहीन होने पर भी धड़ल्ले से जन जन की वैध सम्पत्तियों के छीनने में कोई हिचक नहीं है। आपका जनसंघ भी वही करना चाहता है। श्री तिलक ने मिताक्षरा के जन्मना स्वत्ववाद के अनुसार देश के स्वराज्य में अपना जन्मसिद्ध अधिकार माना था। पर भारतीय संस्कृति का ढोल पीटते हुए भी आपका जनसंघ प्रतिकर बिना दिये जन-जन की वैध भूमि आदि छीन लेने की घोषणा कर चुका है। आप कहेंगे वह तो फिर से बंटवारा के लिए आवश्यक है। पर क्या दान के लिये भी चोरी या डाका से धन संग्रह वैध कहा जा सकता है ? वस्तुतः वैध संपत्ति स्वातन्त्र्य के अनन्तर शिक्षा एवं धर्म की स्वतंत्रता भी समाप्त हो जाती है, जनतंत्र भी समाप्त हो जाता है; क्योंकि जनतंत्र वहाँ रहता है जहाँ जनता में नापसन्द सरकार को बदलने की शक्ति

बनी रहती है। वह शक्ति तभी तक रहती है जब तक जनता में निर्वाचन जीतने की शक्ति रहती है। वह भी तभी तक सम्भव होती है जबतक जनता के पास वैध सम्पत्ति रहती है। सम्पत्ति रहने पर ही निर्वाचन जीतना सम्भव होता है। पोस्टर, नोटिस, लाउडस्पीकर, मोटर, कार्यकर्त्ताओं के बिना योग्य से योग्य व्यक्ति भी निर्वाचन में सफल नहीं हो सकता। अतः उसको धनहीन बना देने के पश्चात् निर्वाचन लड़कर सरकार बदल देने को स्वतंत्रता प्रदान करने का वही अर्थ है, जैसे किसी पक्षी को पंख काटकर पंखहीन करके उड़ने की मुकम्मिल स्वतंत्रता देना।

आप कहते हैं, समाजवाद इस मिट्टी को उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एवं परम्पराओं में नहीं है। हमारी परम्पराओं एवं आदर्शों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमलोगों के लिए यह परकीय विचार है (वि० न० पृ० १६१)। परन्तु जब आपने शास्त्रप्रामाण्यवाद को तिलांजलि दे दी, खान-पान एवं भारतीय सदाचार को त्याग देना उचित माना, किसी भी प्राचीन मान्यता की उपयोगिता खत्म होने पर उसे आप त्याज्य मान लेते हैं, और इस भूमि की जो उपज नहीं है, यहाँ के रक्त से जिनका सम्बन्ध नहीं है, उन्हें आत्मसात् कर सकते हैं तो फिर समाजवाद ही से क्यों परहेज ? यदि शास्त्र एवं पारम्पर्य्य का त्याग हो सकता है तो समाजवाद में और कोई भी नयी बात नहीं है। आखिर क्या, वर्तमान, मोटर, हवाई जहाज, फाउन्टेनपेन भारतीय भूमि की ही उपज है ? यदि नहीं तो क्या उनसे परहेज करते हैं ?

वस्तुतः भौतिक समाजवाद या समाजवाद शास्त्र, धर्म, ईश्वर के निराकरण पर ही अवलम्बित हैं। उनका शास्त्रादि की प्रतिष्ठा से ही समूलोन्मूलन हो सकता है अन्यथा नहीं। अतः यदि उसका उन्मूलन इष्ट है तो शास्त्रप्रामाण्यवाद समझने का प्रयत्न करना आवश्यक है। आप अपने अमर समाज के सम्बन्ध में कहते हैं कि उसने महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया तथा सर्वोत्कृष्ट दर्शन एवं पवित्रतम सामाजिक मानदण्डों को विकसित किया। आपने राम, कृष्ण, शंकराचार्य का भी उल्लेख किया है (वि० न० १६५ पृ०)। परन्तु किसी भी सर्वोत्कृष्ट दर्शन को सांगोपांग मानने की हिम्मत करते हैं क्या ? आपने वहाँ पर राम, कृष्ण को भूमि का एक-एक पुत्र माना है। परन्तु राम, कृष्ण, शंकराचार्य के उपदेशों या उनके द्वारा अपनाये हुए शास्त्रों का क्या आप प्रामाण्य मानते हैं ? यदि नहीं तो उनका नाम लेना दूसरों को धोखा देने के सिवाय और कुछ भी नहीं है। रामायण महाभारत में राम-कृष्ण पृथ्वीपुत्र नहीं साक्षात् ब्रह्म माने गये हैं।

बनी रहती है। वह शक्ति तभी तक रहती है जब तक जनता में निर्वाचन जीतने की शक्ति रहती है। वह भी तभी तक सम्भव होती है जबतक जनता के पास वैध सम्पत्ति रहती है। सम्पत्ति रहने पर ही निर्वाचन जीतना सम्भव होता है। पोस्टर, नोटिस, लाउडस्पीकर, मोटर, कार्यकर्त्ताओं के बिना योग्य से योग्य व्यक्ति भी निर्वाचन में सफल नहीं हो सकता। अतः उसको धनहीन बना देने के पश्चात् निर्वाचन लड़कर सरकार बदल देने को स्वतंत्रता प्रदान करने का वही अर्थ है, जैसे किसी पक्षी को पंख काटकर पंखहीन करके उड़ने की मुकम्मिल स्वतंत्रता देना।

आप कहते हैं, समाजवाद इस मिट्टो की उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एवं परम्पराओं में नहीं है। हमारी परम्पराओं एवं आदर्शों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमलोगों के लिए यह परकीय विचार है (वि० न० पृ० १६१)। परन्तु जब आपने शास्त्रप्रामाण्यवाद को तिलांजलि दे दी, खान-पान एवं भारतीय सदाचार को त्याग देना उचित माना, किसी भी प्राचीन मान्यता की उपयोगिता खत्म होने पर उसे आप त्याज्य मान लेते हैं, और इस भूमि की जो उपज नहीं है, यहाँ के रक्त से जिनका सम्बन्ध नहीं है, उन्हें आत्मसात् कर सकते हैं तो फिर समाजवाद ही से क्यों परहेज ? यदि शास्त्र एवं पारम्पर्य्य का त्याग हो सकता है तो समाजवाद में और कोई भी नयी बात नहीं है। आखिर क्या, वर्तमान, मोटर, हवाई जहाज, फाउन्टेनपेन भारतीय भूमि को ही उपज है ? यदि नहीं तो क्या उनसे परहेज करते हैं ?

वस्तुतः भौतिक समाजवाद या समाजवाद शास्त्र, धर्म, ईश्वर के निराकरण पर ही अवलम्बित हैं। उनका शास्त्रादि की प्रतिष्ठा से ही समूलोन्मूलन हो सकता है अन्यथा नहीं। अतः यदि उसका उन्मूलन इष्ट है तो शास्त्रप्रामाण्यवाद समझने का प्रयत्न करना आवश्यक है। आप अपने अमर समाज के सम्बन्ध में कहते हैं कि उसने महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया तथा सर्वोत्कृष्ट दर्शन एवं पवित्रतम सामाजिक मानदण्डों को विकसित किया। आपने राम, कृष्ण, शंकराचार्य का भी उल्लेख किया है (वि० न० १६५ पृ०)। परन्तु किसी भो सर्वोत्कृष्ट दर्शन को सांगोपांग मानने की हिम्मत करते हैं क्या ? आपने वहाँ पर राम, कृष्ण को भूमि का एक-एक पुत्र माना है। परन्तु राम, कृष्ण, शंकराचार्य के उपदेशों या उनके द्वारा अपनाये हुए शास्त्रों का क्या आप प्रामाण्य मानते हैं ? यदि नहीं तो उनका नाम लेना दूसरों को धोखा देने के सिवाय और कुछ भी नहीं है। रामायण महाभारत में राम-कृष्ण पृथ्वीपुत्र नहीं साक्षात् ब्रह्म माने गये हैं।

संघ की कार्य-शैली—व्यावहारिक कूटजाल और सैद्धान्तिक भ्रम

'विचार नवनीत' में ३६० पृ० पर आपने 'अनुपम कार्यशैली' शीर्षक से यह बताया कि वर्धा में संघ का महान् महत्त्व देखकर गांधीजी ने शिविर अवलोकन की इच्छा प्रकट की। उनको अन्दर ले जाया गया। जब उन्होंने संघ में हरिजन कितने हैं यह जानने की इच्छा व्यक्त की तो संघ संचालक ने कहा, मेरी दृष्टि में सब हिन्दू ही हैं। जब गांधी जी ने विशेष प्रयत्न से पूछा तो उनसे कहा गया कि यहाँ हरिजन समेत अनेक जातियों के लोग रहते हैं, पर वे एक दूसरे की जाति के सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार का विचार किये संघ शिविर के सभी कार्यक्रमों में खाने-पीने से लेकर खेलने कूदने तक आनन्द और समरसतापूर्वक साथ साथ भाग ले रहे थे (वि० न० ३६१ पृ०)। इससे वर्णाश्रमी सहज ही समझ लेते हैं कि संघ वर्णाश्रम धर्मविरोधियों का ही एक जमघट है। वर्णाश्रम के लिए गांधी जी और कांग्रेस से भी इतना खतरा नहीं जितना कि संघ से। गांधी जी कहते थे, हम रोटी बेटी एक नहीं चाहते (यद्यपि वे चाहते वैसा ही थे) तथापि संघ में भले ही पार्टीभेद का ज्ञान रह सकता है परन्तु एकता के नाम पर संघी जाति को अत्यंत भुला देने का यत्न करते हैं। इसीलिए संघ में ब्राह्मण, हरिजन सब अपने अपने घर से रोटी लाकर मिला देते हैं और फिर आपस में सब परोसते हैं, सब खाते हैं। इसी संस्कार के प्रभाव से दीनदयाल उपाध्याय, अटलबिहारी वाजपेयी जैसे संघनिष्ठ लोगों ने मुसलमानों के साथ भी रोटी बेटी एक करके उन्हें भी आत्मसात् करने का स्वप्न देखा है।

जनसंघ के कालीकट अधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित 'जन दीप स्मारिका' में श्री अटलबिहारी वाजपेयी का एक लेख छपा है जिसमें उन्होंने लिखा है कि मैं सोचता हूँ क्या चाय पीने से इन्कार न करके मैंने ठीक काम किया ? क्या राजनीतिक कार्यकर्त्ता को साहस के साथ छुआछूत जाति-पाँति भेदभाव के संकुचित भावनाओं की अन्ध विश्वासों के विरुद्ध खड़ा होना नहीं चाहिए ? कब तक हम समाज में धँसी

१—इस अध्याय के संघ सम्बन्धी उद्धरण विचार नवनीत ग्रन्थ से लिए गये हैं। सम्पादक।

हुई सड़ांध के साथ समझौता करते रहेंगे ? कब तक हम सिसकती हुई रूढ़ियों और ढहती हुई दीवारों को बनाये रखने की भूल करते रहेंगे ? क्या अपने ग्रामीण भाइयों से साफ साफ कहने का वक्त नहीं आया कि धर्म इतना कमजोर नहीं है कि वह किसी के हाथ की चाय पीने से खतरे में पड़ जाये। यदि हम मुसलमान के हाथ की चाय हजम नहीं कर सकते तो राष्ट्रिय जीवन में उन्हें कैसे आत्मसात् करेंगे। मुझे लगता है, ये बातें साफ साफ कहने का समय आ गया है। इतना ही नहीं, वक्त बीतता जा रहा है, यह समझने का भी वक्त आ गया है। आजादी के २० वर्ष में हमने थोड़ी बहुत प्रगति भले ही की हो किन्तु छुआछूत और जातिभेद मिटाने का काम बहुत पीछे पड़ गया। जब रोटी खाते में धर्म जाने का डर है तो बेटी देने का दुस्साहस करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। आओ समाज को बाँटनेवाली इन अन्धविश्वास और रूढ़िवाद की दीवारों पर वज्रपात करें। आओ एक नये भारतीय समाज की रचना के लिए छुआछूत ऊँच-नीच और जाति-पांति के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ें। आओ एक नयी क्रांति का झण्डा उठायें। आवो गाँव गाँव घर घर में जागरण का शंख फूँकें।

जनसंघ के भूतपूर्व अध्यक्ष दीनदयाल उपाध्याय ने भी कानपुर में कहा था कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार आर्यसमाजी सनातनधर्मी कबीरपंथी जैन आदि हिन्दू हैं वैसे ही मुसलमान मुहम्मद पंथी हिन्दू हैं। श्री अटलबिहारी वाजपेयी भी जनसंघ के प्रमुख नेता हैं। वे रोटी बेटी की एकता चाह रहे हैं। वे जांति-पांति आदि सभी भेद की दीवारों पर वज्रपात करना चाह रहे हैं। शायद हिन्दू मुसलमानों को गोरक्षकत्व गोघातकत्व के भेद पर भी वे वज्रपात कर दें। फिर तो एक विशाल नये समाज का जन्म हो जायगा। जिससे न केवल संघ का उद्देश्य पूरा होगा अपितु गांधी नेहरू ने जिस हिन्दू-मुस्लिम रोटी बेटी की एकता कराकर जिस नये समाज की नींव डाली थी, उसकी पूर्ति भी हो जायगी।

शक्ति और सफलता ही सिद्धान्त का आधार

जहाँ तक सफलता का प्रश्न है "गुरुजी को छोड़ दो" यह आंदोलन सफल नहीं रहा। सरकारी आग्रह के अनुसार संघ को लोकतंत्रात्मक प्रणाली का विधान अंगीकार करना पड़ा। गोरक्षा के आंदोलन में तो संघी केवल अवसर से लाभ उठाने की ही बात करते हैं, अवसरवादिता उनकी विशेषता है। सात नवम्बर के प्रदर्शन में जब तक खतरा नहीं था तब तक संघी कहते थे वह आंदोलन संघ का ही है। जब खतरा दिखायी पड़ा तो स्पष्ट कह दिया कि उसका संघ

से कोई संबंध नहीं। वोट, नोट मांगने के समय गोहत्या बंदी आंदोलन संघ का है। कहा गया सत्याग्रह के समय अपने को उससे सर्वथा अलग रखा गया। गोरक्षा महाभियान समिति के प्रतिज्ञापत्र पर आपने हस्ताक्षर किया कि "ईश्वर की शपथ कर प्रतिज्ञा करता हूं कि राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयास न करता हुआ मनसा वाचा कर्मणा अपनी पूरी शक्ति से गोहत्याबन्दी आन्दोलन में भाग लूंगा। गोहत्या बन्दी के लिए कुछ उठा न रखूँगा" परन्तु मौके से पहले कह दिया कि मेरा आंदोलन में विश्वास नहीं है।

आपने कहा कि—"स्तुति से प्रसन्न होकर हमारे नेता राष्ट्र-हित के लिए बलिदान कर सकते हैं (वि० न० पृ० ३६९)।" परन्तु अपनी प्रशंसा तो संघ को भी इष्ट है ही। हाँ अपनी निन्दा से संघ सभी शिष्टताओं को तिलांजलि दे ही देता है। आपने यह भी कहा कि "संघ का गरीब से गरीब स्वयंसेवक स्वावलंबी होता है, वह अपने मूल्य से गणवेश आदि खरीदता है, गुरुदक्षिणा भी अपने पास से ही देता है।"

"चन्दे के लिये संघ में स्थान नहीं" (वि० न० ३५२ पृ०) परन्तु यह सब प्रचारमात्र है। संघ में जितना चन्दा माँगा जाता है उतना कहीं भी चन्दा नहीं माँगा जाता। पैसे-पैसे तक का चन्दा इकट्ठा किया जाता है। हस्ताक्षर आन्दोलन में, गोरक्षा आन्दोलन में लाखों के चन्दे बटोरे गये। यह सब तो सर्वविदित ही है। स्वयंसेवक गुरु दक्षिणा देने के लिए चन्दा बटोरता है। आपके ही शब्दों में कहा जा सकता है कि ढोल में पोल बहुत बड़ी होती है। जितने ऊँचे आदर्शों की ढोल पीटी जाती है वह सब व्यवहार में दुर्लभ ही है। खण्डोवल्लाल के बलिदानों की प्रशंसा करते हुए आप कहते हैं कि 'अन्त में वह अपने जीवन को स्वराज्य के लिए अन्तिम भेंट के रूप में चढ़ा देता हैं। कैसा उदात्त श्रेष्ठ और अनोखा आत्मत्याग और आत्म बलिदान है—(वि० न० पृ० ३७५)। यहाँ "बलिदानी में कोई न कोई गम्भीर त्रुटियाँ होती हैं तभी वह सफल नहीं होता है"। आप इस पूर्वोक्त समालोचना को भूल जाते हैं। राष्ट्रभक्ति का महत्त्व अवश्य ही अधिक है, परन्तु इसमें भी शास्त्रीय दृष्टिकोण आवश्यक है। राष्ट्र भगवान् के महाविराट् स्वरूप का ही एक अंश है, तभी उसकी उपासना, उपासना शब्द से कहने लायक हो सकती है, अन्यथा संसार में सभी का किसी न किसी वस्तु में प्रेम होता ही है। वह उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग बलिदान करता ही है तो भी वह गुण विशेषमात्र ही होता है, भक्ति नहीं।

खुशामद की समालोचना करते हुए आपने यह भी कहा कि "भगवान शंकर विष पीकर भी अप्रभावित रहे, पर वही शंकर भस्मासुर की स्तुति के शिकार बने और स्वयं के लिए आपत्ति बुलाये" (वि० न० ३६८ पृ०)। इसमें संदेह नहीं कि खुशामद-

पसन्द आदमी दूसरों की कूटनीति के शिकार बन जाते हैं। परन्तु अच्छा होता कि जीवों तक ही आप इसे सीमित रखते। अल्पज्ञ जीव प्रशंसा सुनते हुए अपनी वस्तु-स्थिति को भूल जाता है। परन्तु ईश्वर सर्वदा सर्वज्ञ ही रहता है, वह वस्तुस्थिति को नहीं भूलता। भगवान शंकर स्तुति से नहीं प्रत्युत (बृकासुर) भस्मासुर की उग्र तपस्या से सन्तुष्ट हुए थे। स्तुतिमात्र से नहीं।

श्री गोलवलकर जी भी कहते हैं "बलिदानी महान् तो हैं परन्तु असफलता होने के कारण उसमें कोई न कोई गंभीर त्रुटि अवश्य है। अतः वह पूज्य नहीं, पूज्य तो सफल ही होता है।" परन्तु कई असुर प्रकृति के लोग अधिक सफल होते हैं। सात्विकी दैवी प्रकृति के लोग असफल होते हैं। तो भी क्या धर्मरक्षार्थ आत्मोत्सर्ग करनेवाले असफल बलिदानी की अपेक्षा वह सफल दानवी वृत्ति का आक्रामक पूज्य कहा जा सकेगा? श्री गोलवलकर ने डा० हेडेगवार को जन्मजात आदर्श देशभक्त और युधिष्ठिर का अवतार, अजातशत्रु, अनुपम परोपकारी, शक्तिसंचार सम्पन्न, विश्वमंत्र को सुशोभित करनेवाला महानतम पुरुष, मनुष्यमात्र का जीवन, आदर्श हिन्दू माना है। उनके मार्ग पर स्वयं गोलवलकर तथा संघ चल रहा है। पर क्या वे सफल हुए? भारत की अखण्डता एवं एकात्मकता का सिद्धान्त मानते हुए भी क्या वे भारत को अखण्ड रख सके। क्या भारत खण्ड-खण्ड नहीं हो गया? क्या उसके लिए उनकी ओर से कोई सक्रिय पग भी उठाया गया? क्या विपरीत वृत्ति वाले विरोधी की सफलता और उनकी असफलता नहीं हुई? खण्डित भारत भी क्या एकात्मता के विरुद्ध संघात्मता की ओर नहीं गया?

श्री गोलवलकर ने गोहत्याबंदी कार्य के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा संपूर्ण शक्ति से प्रयत्न करने की लिखित प्रतिज्ञा करने पर भी क्या प्रतिज्ञा का पालन किया? सफलता मिली? वस्तुतस्तु आसुरी प्रवृत्ति एवं युग-प्रवाह के विपरीत लक्ष्य की ओर हिम्मत के साथ बढ़ना प्रयत्न जारी रखना परम कर्त्तव्य है। सफलता में बिलम्ब हो सकता है। अनेक बार विरोधियों को ही सफलता मिले तो भी उत्साह-भंग बिना किये धैर्य के साथ आगे बढ़ना ही महापुरुषों का लक्षण होता है। सफलता, असफलता गौण वस्तु होती है:—

आपद्यमग्नं धैर्यत्वं सम्पद्यमभिमानिता।
यदुत्साहस्य च त्यागस्तद्धि सत्पुरुषव्रतम्॥

यह ठीक है कि मैत्री एवं अन्ताराष्ट्रिय सद्भाव अपेक्षित है परन्तु वह न्याय-मार्ग से ही उचित है किसी भी मूल्य पर नहीं। यह सत्य है कि हमारे नेता

कभी पाकिस्तानियों से किसी भी मूल्य पर मित्रता खरीद रहे थे, कभी चीन के साथ और उसके परिणामस्वरूप ही देश को विभाजन एवं विनाश का दुर्दिन देखना पड़ा था। यह भी ठीक है कि संसार के अधिकांश लोग शक्ति के ही पुजारी होते हैं।

परन्तु आप भी तो शक्ति का ही गुणगान करते हैं। "ऐसे अनेक लोग हैं जो शक्ति सम्पन्नता के समय अंग्रेजों के उपासक थे। वे ही हिटलर के प्रखर प्रताप के समय नाजीवाद के उपासक बन गये थे। और फिर वे ही रूस एवं अमेरिका की जीत होने पर उनके साथी बन गये और नाजीवाद के निन्दक बन गये (वि० न० पृष्ठ २४५)। यहीं तक नहीं ऐसे लोग जिनमें तथाकथित राजा रईस सेठ साहूकार महन्त मठाधीश कुछ आचार्य एवं विद्वान् भी सम्मिलित समझने चाहिए सभी देशों में विशेषतः इस देश में सदा ही रहे हैं। वे सर्वथा शक्ति के ही पुजारी रहे हैं। फिर वह शक्ति चाहे विदेशी हो चाहे स्वदेशी, चाहे ईमानदारों की शक्ति हो चाहे डाकुओं की। उनको सिर्फ शक्ति ही चाहिए, उनको सिद्धान्त से कुछ प्रयोजन नहीं। देश में विदेशी शासन हो तो वे उसके भक्त बन जाते हैं। कम्युनिस्ट कांग्रेस, सोशलिस्ट, रामराज्य, जनसंघ किसी भी सिद्धान्त से प्रयोजन नहीं, उन्हें शक्ति ही चाहिए। परन्तु यह भी समझना चाहिए कि ऐसे लोग अवसरवादी सिद्धान्तहीन बेपेंदी के लोटा तथा सर्वथा अविश्वसनीय ही समझे जाते हैं। प्रशंसा तो सिद्धांत-वादी की ही होती है। तभी तो श्री कृष्ण दुर्योधन की माया में न फंस कर धर्मराज युधिष्ठिर के ही साथी बने थे और स्पष्ट कह दिया था कि जो धर्मपक्षीय पाण्डवों का साथी है वही हमारा साथी है, जो उनका दुश्मन है वह हमारा दुश्मन है।

यस्तान्द्वेष्टि समांद्वेष्टि यस्ताननु समामनु।

आपने यह भी कहा है कि "पिछले कुछ दशकों से हमारे देश में जो विचार रहा है उसमें शक्ति को पापपूर्ण और गर्हित माना जाता रहा है। अहिंसा के गलत अर्थ लगाने के कारण राष्ट्र के मस्तिष्क की विवेचनशक्ति समाप्त हो गयी है (वि० न० पृ० २४६)।" परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि राष्ट्र का कोई भी समझदार सदा ही खल की शक्ति को पापपूर्ण समझता है। क्योंकि खल की शक्ति सदा ही परपीडन का ही हेतु रही है—**खलस्य शक्तिः परपीडनाय।** सात्विकी दैवी शक्ति सदा ही पूज्य एवं आदरणीय रही है। क्योंकि साधु की शक्ति सदा ही दूसरों की रक्षा के ही काम में आती रही है **साधोः शक्तिः रक्षणाय।** रक्षिका शक्ति को कोई पागल ही पापपूर्ण कहेगा। हाँ, स्वातंत्र्य आंदोलन में अधिकांश लोग शक्तिहीनता के कारण ही अहिंसा मार्ग से गतिरोध मिटाने का

प्रयत्न करते रहे हैं। क्योंकि कुछ क्रांतिकारियों के द्वारा किया गया किंचित् स्वल्प शक्तिसंग्रह अपरिमित हिंसक शक्तिपूर्ण विरोधी शासकों के सामने नगण्य ही नहीं किंतु हानिकारक भी था। अतः कोई भी समझदार उस समय की अहिंसा-नीति का समर्थन ही करता। शक्ति-संग्रह मात्र का यदि देश विरोधी होता तो आनन्दमठ के संन्यासियों के स्तुत्य शक्तिसंग्रह को प्रश्रय एवं आदर कैसे मिलता ?

आपने अहिंसा एवं शान्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि मनुष्य को तभी विनम्र होना चाहिए जब कि वह दूसरों को विनीत करने में समर्थ हो। किसी व्यक्ति को कब क्षमशील होना चाहिए तभी जब वह उतना शक्तिशाली हो जाये कि वह अपने को अपमानित करनेवाले को नष्ट कर सके। दूसरों की सेवा कब करनी चाहिए तभी जब वह इतना योग्य हो जाये कि संसार उसकी स्वयं इच्छा से सेवा करने को प्रस्तुत हो और फिर आपने श्रीकृष्ण को महान् उदाहरण के रूप में रखा (वि० न० पृ० २४७)। कोई कार्य हिंसात्मक है अथवा अहिंसात्मक यह निर्णय करने का मापदण्ड उसके पीछे का हेतु है, न कि वह कार्य। स्वयम् आपने किसी साधु के उक्त उद्धरण और **विनाशाय च दुष्कृताम्** इस उद्धरण से सिद्ध किया कि धर्म स्थापना का अर्थ है दुष्टों का विनाश।

आप यह भी कहते हैं कि 'श्री कृष्ण ने युद्ध टालने और शान्ति प्रस्थापन करने का निःसन्देह उपदेश किया उसके लिए सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, परन्तु उन्होंने दूरदृष्टि से स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि उनकी स्वयं की श्रेष्ठतम शक्ति ही अन्तिम रूप से निर्णायक है' (वि० न० पृ० २५०)। अवश्य ही प्रवृत्तिमार्गीय व्यक्तियों के लिए उक्त विचार कुछ उपयोगी है। परन्तु सर्वदा सर्वथा विनम्रता, क्षमा, सेवा और अहिंसा, शांति धारण करने की यही शर्त है, यह नहीं कहा जा सकता है। उक्त गुणों को धारण करने की इच्छा वाले साधक को पहले कृष्ण के समान शक्तिशाली ही होना चाहिए, यह कौन कह सकता है ? वस्तुतस्तु अधिकारभेद से साधनों की व्यवस्था होती है। राजनीतिक राष्ट्रिय पुरुषों का मार्ग दूसरा होता है। शांतिपरायण मुनियों का मार्ग अन्य ही होता है। इसलिए कहा गया है '**शमेन सिद्धि मुनयो न भूभृतः**।' शम के द्वारा मुनियों को ही सिद्धि मिलती है, राजाओं को नहीं।

विचार नवनीत के ३३८ पृ० तक आपने रूसियों के जनशुद्धिकरण एवं मस्तिष्क मार्जन का उदाहरण देकर अहिन्दू धारणाओं से बचाव का उपदेश दिया है और विचार स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है। परन्तु क्या संघ में इसका आदर होता है ? दूसरों की सभाओं में बाधा डालकर सभा भंग करते हुए भी हमलोगों ने देखा है।

हमने स्वयं संघ के द्वारा घृणित प्रचार देखे और सुने हैं। हमलोगों का प्रोग्राम था पर संघ के लोगों ने झूठा प्रचार कर दिया कि स्वामी जी नहीं जाएँगे। प्रोग्राम स्थगित हो गया है। संघी वकील जान-बूझकर गलत पर्चा भरता है, और वही अदालत के सामने उसे अवैध सिद्ध करता है। कई जगह तो एक्सीडेण्ट होने की भी गलत सूचना देकर, सभा प्रचार में विघ्न डालते देखा गया है। रामराज्य के प्रत्याशी पं० जी हमारे पक्ष में बैठ गये इस प्रकार झूठा प्रचार करके वोट प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। लोग कहते हैं कि जब बिना सत्ता के यह हालत है तो सत्ता आने पर तो संघी कम्यूनिज्म को जनशुद्धिकरण, मस्तिष्क मार्जन में मात कर देंगे। आप देशी राजनीतिक दलों के दुर्गुणों का बड़े समारोह से वर्णन करते हैं, परन्तु जिस दल में शत-प्रतिशत आपके संघ के ही लोग हैं, उस जनसंघ में जितना ओछापन, क्षुद्रता, संकीर्णता है, उतना शायद ही कहीं किसी दल में हो, पर आप इस लक्ष्य से दृष्टि ही हटा लेते हैं। कांग्रेस में जो दोष राजसत्ता का स्वाद चखने से हुआ, आपके दल में वह बिना सत्ता के ही विद्यमान है। अतएव एक संगठित व उत्थानशील राष्ट्रिय जीवन की निर्मिति के लिए संघ का दैनंदिन कार्यक्रम है, यह कथन भी निस्सार है।

शास्त्र एवं शास्त्रीय धर्म पूर्ण रूप से उपेक्षा करने पर कबड्डी खेलने मात्र से राष्ट्रिय जीवन कैसे बन जायगा ? यह भी आप ही सोच सकते हैं। बुरे संस्कारों को नष्ट कर उत्तम दिव्य संस्कारों का लाना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु यह अशास्त्रीय, अधार्मिक पद्धति से नहीं हो सकता। प्रातः सायं सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्वाध्याय का समय है उस समय के विहित कर्मों का परित्याग करके कबड्डी खेलना, लाठी चलाना आदि निषिद्ध एवं अंशतः लाभदायक होने पर भी पतन का ही मूल है। शास्त्र कहते हैं जिस देश काल में जो कार्यविहित है उसका न करना तथा तद्भिन्न कार्य करना एवं निन्दित कार्य करना, इन्द्रियार्थों में प्रसक्त होना पतन का कारण है:—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चितीयते नरः॥" (म० ११।४४)

वेदादि शास्त्रों से ही होता है। इसीलिए प्राचीन काल में ब्रह्मचर्याश्रम में शौचाचार सदाचार शिक्षण के साथ वेद वेदांगादि का अध्ययनाध्यापन होता था। उसके बिना केवल गीतों, व्याख्यानों एवं खेलकूदों से मनुष्यत्व का निर्माण सर्वथा असंभव है। मानव बन जाने पर उसमें दुर्बलता नहीं रह जाती। प्रेम, आत्मसंयम, त्याग, सेवा आदि के स्वभाव सच्छिक्षा से व्यक्त होते हैं।

आंतरिक अव्यवस्था का निवारण एवं बाह्य आक्रमणों का मुकाबला भी शिक्षित सभ्य धर्मनिष्ठ मनुष्य ही कर सकता है। अन्यथा विभिन्न मतवाले संघटन भी आपसी

समन्वय न कर पायेंगे। दुर्भाग्य से देश में अनेक संघटन एवं अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सबका निराकरण भी संभव नहीं है। अतः शास्त्र एवं परम्परा को ही सरपंच बनाकर उसकी मध्यस्थता में ही समन्वय संभव है।

"शक्ति ही जीवन है" (वि०न० ४० पृष्ठ) । यह ठीक है, पर साथ ही शारीरिक शक्ति के साथ धर्म और उपासना से जनित शक्ति का संग्रह भी आवश्यक है। **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"** इसका अर्थ शारीरिक बल नहीं किन्तु साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर वेदान्तों का उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगों द्वारा ब्रह्म में तात्पर्य निर्धारण रूप पाण्डित्य सम्पादन के अनन्तर मनन के द्वारा श्रुत अर्थ का व्यवस्थापनरूप निष्ठा दार्ढ्यरूप बल है। क्योंकि सहस्रों शरीर बल वाले भी आत्मलाभ से वंचित रहते हैं। बृहदारण्यक में श्रवण को पाण्डित्य मनन को बाल्य एवं निदिध्यासन को मौन शब्द से कहा गया है—

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।
पाण्डित्यं च बाल्यश्च निर्विद्याथ मुनिर्भवति ॥

दृढ़ सुबुद्धि प्रत्युत्पन्न बुद्धि अवश्य आदरणीय है, परन्तु वह उपासना से शीघ्र प्राप्त होती है। छल, छद्म से वैध अवैध, जिस किसी मार्ग से प्रतिपक्षी को पराजित करना यह कूटनीति है। 'धर्म मार्ग से ही दक्षता' (वि० न० पृ० ४३) निर्भीकता वीरता आदि गुण महत्वपूर्ण हैं। फिर भी बुरे कर्मों एवं लोकापवाद से डरना भी चाहिए—**भीतिर्हि कस्मात्सततं विधेया लोकापवादाद्भव काननाच्च'** आद्य शंकराचार्य ने कहा था कि लोकापवाद एवं संसारकान्तार से सदा डरते रहना चाहिए। निवृत्तिमार्गियों का यद्यपि यही धर्म है कि वह न किसी को डराये न स्वयं किसी से डरे।

आप कहते हैं, विजयशाली की ही पूजा होती है (पृ० २५८)। गीता की दृष्टि से सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय में सम बुद्धि से युक्त कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति ही साधक रूप में आदरणीय होता है, परन्तु पूज्य तो स्वप्रकाश सत् सदा अनभिभूत परमेश्वर ही होता है। निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, ब्रह्म इसी दृष्टि से पूज्य होता है। देवता, ऋषि एवं सत्पुरुष उसी सत्स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होने वाले होते हैं इसीलिए पूज्य होते हैं। सत् को जानने एवं प्राप्त करने वाला भी सत्स्वरूप ही होता है, वेदान्तानुसार ब्रह्मवित् ब्रह्म ही है, **'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति।'** इसके अतिरिक्त ज्योतिस्वरूप सूर्य के संबंध विशेष से चन्द्र नक्षत्रादि भी ज्योतिष्मान् होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की उपासना के प्रभाव से उपासकों में भी ईश्वर का ऐश्वर्य सन्निहित होता है अतः उनकी पूजा भी फलदायिनी होती है। सिद्ध के

अतिरिक्त साधक भी स्वधर्मनिष्ठा, कर्त्तव्यपालन आदि के प्रभाव से सत्स्वरूप ब्रह्मनिष्ठ होकर भविष्यत्काल में ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं, अतः उनका भी आदर करना उचित है। इस दृष्टि से बाह्य सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय, नगण्य होने से कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण बलिदान की भी पूजा होती है। इसी दृष्टि से ईसा आदि की भी पूजा हुई। सती एवं शूर बाह्य दृष्टि से सफल न होते हुए भी कर्त्तव्यनिष्ठा एवं परमार्थफलप्राप्ति सम्पन्न होने से पूज्य होते हैं। कौरव तथा पाण्डवों की संधि कराने के लिए श्रीकृष्ण कौरवों के दरबार में गये। जब विदुर ने सफलता के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो कृष्ण ने स्पष्ट कहा कि यद्यपि संधि की सफलता में हम आशावान् नहीं हैं फिर भी धर्मकार्य के प्रयत्न का अलौकिक पुण्य प्राप्त होगा ही:—

> धर्मकार्यंयत्नशक्त्या नोचेत्प्राप्नोति मानवः।
> प्राप्तोभवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥
>
> (म० भा० उ० प० ९३।६)

पंक निमग्न गाय के उद्धरण का समुचित प्रयास करनेवाला प्राणी गाय के बचाने में सफल न होने पर भी सत्प्रयत्नजनित पुण्य का भागी होता है। स्कन्द पुराण के अनुसार धर्म संस्थापना करने में असमर्थ प्राणी भी यदि मनसा, वाचा, कर्मणा यथाशक्ति प्रयत्न करता है तो वह सर्व पापमुक्त होकर सम्यग् ज्ञान प्राप्ति का भागी होता है:—

> यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोपिसन्॥
> सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यज्ज्ञानमवाप्नुयात्॥ व्यासतात्पर्यनिर्णय
> उद्धृतं स्कान्दीयं वचनम्।

श्री गंगा जी को लाने के प्रयास में सफल भगीरथ हुए अतः उनका नाम हुआ। परन्तु उनके पिता पितामहादिकों ने जो गंगा नयनार्थ तपस्या करते करते जीवन बिता दिया क्या उनका महत्त्व कुछ कम है? देश की आजादी का प्रयत्न प्रारंभ करनेवाले गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लोकमान्य तिलक तथा अगणित क्रांतिकारियों ने महान् प्रयत्न न किया होता तो गांधी नेहरू आदि स्वातन्त्र्य प्राप्ति में सफल हो सकते थे? इसीलिए तो समझदार लोग आज भी उन जीवनदानियों का महान् सम्मान करते हैं। इसीलिए कर्त्तव्यनिष्ठा ही आदर्श है, बाह्य सफलता नहीं।

मान लिया आपके संघ सञ्चालक और आपने प्रयत्न करते-करते अपना जीवन बिता दिया और सफलता न मिली, 'परन्तु भविष्य में' उसका फल मिला किसी अताहक् व्यक्ति को, तो पूजा के योग्य कर्तव्यनिष्ठ ही होता है फलवान् नहीं। इसीलिए गीता के अनुसार साधक के सामने फल कामना नहीं रहती किन्तु कर्त्तव्यपालन तथा कर्त्तव्य कर्म ही उसके सामने होना उचित है। आपने कहा कि 'श्री राम ने वास्तविक

धर्म की प्रस्थापना के लिए ताड़का और बाली को मारा। यद्यपि स्त्री का वध एवं वृक्ष की ओट में अयुद्धयमान की हत्या क्षात्रधर्म॰ सम्मत नहीं थी, श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को भीष्म द्रोणादि के विरुद्ध लड़ने और कीचड़ में फँसे एवं विरथ कर्ण को मारने का उपदेश दिया। अधर्म शक्तियों के ऊपर धर्मशक्तियों की विजय के तत्त्वज्ञान की शिक्षा सहस्राब्दियों से दी गई है (२६३।२६४ पृ०)।

आज पाप की दानवी शक्तियाँ विश्वसंहारक शस्त्रास्त्र लेकर विश्व के रंगमञ्च पर दिखाई देती हैं। साम्यवादी भी आज विनाश की भीषण शक्तियों से सम्पन्न दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्य की अन्तर्जात अच्छाई अधिक प्रबल है (२६५ पृ०)।

महापुरुषों के उदाहरण तथा शिक्षायें धर्म संस्थापना के मार्ग हैं हममें सही विवेक जाग्रत कर सकती हैं—यद्यपि धर्म-संस्थापना कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अधर्म शक्तियों पर धर्मशक्तियों के विजय में सभी श्रेष्ठ पुरुषों को प्रयत्न करना चाहिए (२६५ पृ०) यह ठीक है—परन्तु धर्म क्या है, अधर्म क्या है? इसका निर्णय कैसे हो? संसार में परस्पर विरुद्ध विभिन्न समुदाय अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और दूसरों का अपकर्षण भी बतलाते हैं। युक्ति एवं तर्कों तथा वागाडम्बरों की कमी नहीं है। श्रीराम एवं श्रीकृष्ण धर्म अधर्म का निर्णय शास्त्रों एवं शास्त्रानुसारी सत्पुरुषों के उपदेशानुसार करते थे। शास्त्रों के यज्ञ यागादिक धर्म एवं धार्मिकों का विध्वंस करनेवाली राक्षसी का वध करना धर्म है, यह शास्त्र निष्णात विश्वामित्र के वचन से राम ने निर्णय किया और उसका अनुसरण किया। बाली का वध धर्म है या अधर्म, इस सम्बन्ध में रामायण में ही बाली और राम का प्रत्यक्ष संवाद हुआ था। राम ने बाली के वध को शास्त्रानुसार ही धर्मसंगत बतलाया था, और बाली ने उसे स्वीकार भी किया था। उसका सार यह है कि भरत सभी देश के शासक हैं उनकी ओर से राम दुष्टनिग्रह एवं शिष्टपालन के अधिकारी हैं। बाली ने सुग्रीव की पत्नी को छीनकर धर्म मर्यादा का अतिक्रमण किया था। राम ने अपराधी को दण्ड दिया था, न कि क्षात्र धर्मानुसार युद्ध किया था। युद्ध का धर्म पृथक् है और दण्ड का विधान पृथक। इसी दृष्टि से क्षत्रिय मृगया द्वारा दुष्ट मृगों को नियंत्रित करता है। बाली भी एक मृग था। मृग के साथ क्षत्रिय धर्मानुसार युद्ध नहीं किया जाता है, इसलिए सुप्त, प्रमत्त पलायन परायण मृग का वध करना भी धर्म विरुद्ध नहीं है। श्री कृष्ण ने भी धर्म की कभी कोई नयी व्याख्या नहीं की, उन्होंने अर्जुन को शास्त्रानुसार ही कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के निर्णय का आदेश दिया था, स्वयं भी वे वैसा ही करते थे, राजनीति का मत यह है कि जो जिसके साथ जैसा बर्ताव करे उसके साथ दूसरा भी वैसा ही बर्ताव करे, मायावी के साथ माया से, साधु के साथ साधुभाव से बर्ताव करना चाहिए:—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारोमायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

(उ० प० ३७।७)

धर्मशास्त्रविरुद्ध भी कोई राजनीतिक व्यवहार महान् धर्म के संस्थापन में उपयोगी होने से क्षम्य होता है, परन्तु धर्मशक्ति अधर्म शक्ति का निर्णय शास्त्र बिना स्वतंत्ररूप से नहीं हो सकता है। अतः साम्यवादी धर्मशक्ति हैं या अधर्मशक्ति, यह निर्णय भी शास्त्र बिना कैसे होगा ? आप किसी ग्रंथ या पुस्तक या शास्त्र को प्रमाण मानते ही नहीं, फिर तो आप साम्यवादी को अधर्मशक्ति कह सकते हैं वे आपको ही अधर्मशक्ति कह सकते हैं, कौन से आचरण तथा आदर्श धर्मशक्ति के परिचायक हैं और कौन अधर्मशक्ति के परिचायक हैं, इसमें सिवाय शपथ के और आपके पास कोई प्रमाण नहीं है। अस्त्रशस्त्रादि शक्ति सम्पन्न होना, अधर्मशक्ति का परिचायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महाभारत के अनुसार अर्जुन के पास पाशुपत अस्त्र था जो कि आधुनिक परमाण्वस्त्र से कहीं अधिक शक्तिशाली था, तो क्या अर्जुन को भी अधर्म शक्ति माना जाय ? फिर यहाँ तो साम्यवादी रूस से भी अधिक शक्तिशाली परमाण्वस्त्र साम्यवाद विरोधी अमेरिका के पास हैं। प्रमाण बिना प्रमेय का निर्णय नहीं हो सकता, धर्माधर्म में प्रमाण आर्य परंपरा के अनुसार अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी आर्षधर्मग्रन्थ ही हैं। जब आप किसी ग्रंथ को प्रमाण ही नहीं मानते, तब आप धर्माधर्म का निर्णय ही कैसे करेंगे ? फिर क्या धर्म संस्थापना और क्या अधर्म संस्थापना है, यह भी कैसे कह सकेंगे ?

विजय के लिए संघर्ष समुचित उपाय है। (२६७ पृ०)

यह ठीक है कि तिब्बत पर चीन का अधिकार होने देना भारतीय शास्त्राधिकारियों की सबसे बड़े भूल थी, यह भी ठीक है कि चीन का जिस ढंग से मुकाबला करना चाहिए था वैसा नहीं हुआ, परन्तु सारी पीली चीनी जाति असभ्य है, अंग्रेज उससे सभ्य हैं (२६९ पृ०)। यह सब कथन भी आवेश का ही परिचायक है। आप स्वयं कहते हैं कि गाली देना दुर्बलता है, किन्तु चीनियों को दैत्य (२६८ पृ०), सौजन्यहीन, मानवोचित गुणहीन, सर्वभक्षी आदि (२६९ पृ०) की संज्ञा देकर वही दुर्बलता आप स्वयं दिखा रहे हैं। शक्तिशाली होना, प्रसार करना, अपनाना, यह तो राजनीति में गुण है, दोष नहीं। फिर जबकि कम्युनिज्म के अनुसार संसार में जब तक कहीं भी पूंजीवाद रहेगा, तब तक साम्यवाद के लिए संक्रमण काल ही रहेगा। अतएव संसार भर को लाल बनाना साम्यवाद का अनिवार्य साधन है। तब उसके लिए उसका प्रयत्न होना

स्वाभाविक ही है, संसार में अपने अभ्युदय के लिए कूटनीतिक उपायों का प्रयोग होता ही है, उसमें विश्वासघात भी आ जाता है। इसलिए राजनीति में विश्वासघात करना भी उतना अपराध नहीं है जितना कि विश्वासघात का शिकार बनना। राजनीति स्पष्ट कहती है—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेत्।

अविश्वस्त में विश्वास नहीं करना चाहिए, साथ ही विश्वस्त में भी अति विश्वास नहीं करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि चीन, पाकिस्तान की साठ-गाँठ से भारत के सामने एक भीषण खतरा उपस्थित है, साथ ही दोनों के ही पञ्चमांगी भारत के भीतर रहकर सर्वाधिक संकट उत्पन्न करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। यद्यपि चीन के आक्रमण से भारत का कुछ प्रमाद दूर हुआ था, जिसके कारण ही वह सैनिक संगठन एवं शास्त्रास्त्र, वायुयान, आदि के निर्माण में तत्पर हुआ और पाकिस्तान का मुकाबला कर सका, फिर भी दब्बूनीति, या शान्ति का अग्रदूत बनने की मृगमरीचिका के कारण आन्तर कण्टक शोधन तथा बाह्य आक्रामकों के साथ यथायोग्य व्यवहार नहीं कर सका। फलस्वरूप काश्मीर के खोये हुए क्षेत्र को भीषण बलिदान से प्राप्त करके भी उसने ताशकन्द समझौते के नाम पर गवाँ दिया। श्री नेहरू ने काश्मीर के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा की थी कि काश्मीर की एक-एक इञ्च भूमि से हमलावरों को मार भगाकर ही दम लेंगे। चीन के आक्रमण के समय में भी दुबारा प्रतिज्ञा की थी कि हिमालय की भूमि से चीनी आक्रामकों को भगा कर ही दम लेंगे, किन्तु दोनों प्रतिज्ञायें सर्वथा अपूर्ण रही हैं। भारतीय सैनिकों की अदम्य उत्साह शक्ति, और अमरीका तथा इंगलिश शास्त्रास्त्र सहायता प्राप्ति और देश की संघटित स्थिति के कारण ही तथा कुछ आन्तरिक अधिदैविक उपासना शक्ति के कारण ही चीनियों को महान् धन, जन शक्ति क्षय करके विजय पर विजय मिलने पर भी युद्धबंदी की घोषणा करके पीछे लौटने को बाध्य होना पड़ा। यद्यपि पेट्रोल की कमी चीनियों के लिए एक बड़ी समस्या थी और आसाम के तेल-कूपों को उसके हाथों पड़ने की शीघ्र आशा थी, तो भी उसे यही प्रतीत हुआ कि रूसी भूमि में फँसकर जैसे हिटलर को पराजित होना पड़ा था वैसे ही भारत में आगे बढ़ने से हो सकता है कि शस्त्रास्त्र सम्पन्न अजेय भारतीय सैनिक शक्ति से पराजित होना पड़े। विजय प्राप्त करने की हालत में युद्धबंदी की घोषणा करके चीन पीछे हटा इसमें भारत के लिए तत्काल का खतरा हटा और स्वावलम्बी होने का अवसर मिला तथापि एक लक्ष वर्गमील भूमि जो भारतीय भू-भाग थी, उस पर चीन का कब्जा बना ही रहा। आज तक नेहरू की हमलावरों को मार भागने की प्रतिज्ञा आलमारी में पड़ी-पड़ी सड़ रही है। देश विभाजन के

पहले और विभाजन के समय भी धर्मसंघ ने ही उसका विरोध, सत्याग्रह और प्रदर्शन द्वारा किया। आप और आपके संघवाले बैठे-बैठे देखते रहे।

विभाजन के पूर्व ही मैंने कहा था किसी की अनुचित माँग स्वीकार करने से उसकी माँग बढ़ती ही है। पाकिस्तान बन जाने के बाद दोनों पाकिस्तानों को मिलानेवाले गलियारा काश्मीर, जूनागढ़, हैदराबाद की माँग होगी, अन्त में मानइस्लाम की योजना स्पष्ट है। यदि कहीं न कहीं रुकना है तो पहले से ही क्यों न रुका जाय ? यह तो ठीक है कि श्रेष्ठ लोगों के आचरण का प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ता है। ऊपर के लोग चरित्रहीन हों तो उसका प्रभाव निम्नश्रेणी के लोगों पर पड़ेगा ही, परन्तु इस श्रेष्ठता की परख केवल बाह्य वैभव से ही नहीं होती किन्तु धार्मिक आध्यात्मिक निष्ठा की श्रेष्ठता ही वास्तविक श्रेष्ठता होती है। प्रायः धनधान्य और अधिकार सम्पन्न लोगों में चरित्रहीनता होती है। धर्म नियंत्रित सदाचार से सम्पन्न शासक अधिकारी जनता के परम पुण्यों से ही मिलते हैं, फिर भी गीता ने, **"शुचीनां श्रीमतां गेहे"** जन्म की अपेक्षा भी योगियों के कुल जन्म को दुर्लभतर बताया है। सर्वथापि योग्य माता-पिता, योग्य गुरु के परिनिष्ठित आचरणों एवं शास्त्रानुसारी सदुपदेशों से ही सदाचार निष्ठा हो सकती है। यही श्रुति कहती है—

मातृमान्, पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेद।

फिर जबतक वर्णाश्रमानुसार वेदादिशास्त्रों की शिक्षा-व्यवस्था नहीं होती तब तक के लिए भी शास्त्रानुसारी साहित्य एवं प्रवचनादि को छोड़कर सदाचार, सच्चारित्र्य निर्माण का कोई मार्ग भी तो नहीं है। श्रुति ने सत्य, दम, तप आदि साधनों का एक-एक बार ही उपदेश दिया है, परन्तु स्वाध्याय प्रवचन का उपदेश बारम्बार दिया है।

ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च, सत्यं च स्वाध्याय प्रवचनेच ।

इसी में माता, पिता एवं गुरुजनों के पवित्र शास्त्रानुसारी जीवनादर्श का भी उपयोग होता है। यही मनु का भी कहना है कि जिस मार्ग से आपके पिता पितामहादि चलते आये हैं, उनका अनुसरण करते हुए उनके धर्म, सदाचार के मार्ग पर चलना ही कल्याणकारी है। ऋषियों, महर्षियों एवं पूर्ण धर्मनियंत्रित शास्त्रनिष्ठ शासकों का आचरण एवं उपदेश असाधारण प्रभाव डालता है। साक्षात् परमेश्वर परब्रह्म ही मर्त्यशिक्षण के उद्देश्य से मानवरूप में अवतीर्ण होते हैं:—

मर्त्यावतारस्त्विहमर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः (श्री भा० ५।१९।५)

इस प्रकार शिक्षित, विनीत, धर्मनियंत्रित एवं शास्त्रदृष्टियुक्त व्यक्ति एवं समाज ही व्यष्टि, समष्टि अभ्युदय में उपयोगी हो सकते हैं। शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म

सदाचार से शून्य कोई भी आदर्श राष्ट्र को लक्ष्य भ्रष्ट कर सकता है। इसीलिए भारतीय परम्परा के अनुसार पूर्वज गुरु, आचार्य, अवतार, ईश्वर तभी आदर्श हो सकते हैं, जब उनका सिद्धान्त, आचार सभी शास्त्र सम्मत हो। भगवान् बुद्ध योगी, तपस्वी तथा सिद्ध भी थे तो भी वेदादि शास्त्र विरोधी होने के कारण ही हमारे आदर्श नहीं बन सके। शास्त्रहीन होने के कारण ही कांग्रेस के नेतृत्व ने राष्ट्र को लक्ष्यभ्रष्ट करके देश विभाजन, परम्पराविनाश, तथा गोवधादि अनर्थों का भागी बनाया।

आप और आपका संघ भी शास्त्रहीन होने के कारण ही राष्ट्र को विमार्ग की ओर अग्रसर कर रहा है। संघ के लोग जाति-विवेक को छोड़कर हिन्दू मात्र की रोटी-बेटी विषयक एकता की ओर बढ़ रहे हैं। आप के जनसंघी अध्यक्ष अटलबिहारी वाजपेयी हिन्दू मुसलिम रोटी बेटी एकता के काम में सक्रिय जुट रहे हैं। इस प्रकार जब जाति सांकर्य, रक्त सांकर्य के कारण वस्तुभूत हिन्दुत्व मिट गया तो हिन्दू राष्ट्र हिन्दू संस्कृति की रक्षा की निस्सार घोषणा का क्या अर्थ होगा? जब आप स्वयं कहते हैं "किन्तु उन्होंने (मुसलमानों ने) हमारी इस (उपकार) भावना का प्रतिदान कैसे किया? विनाश, अपहरण तथा सब प्रकार के बर्बर अत्याचारों की घटनाओं से भरा हुआ उनका १२०० वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। हमारे देश में मुसलमानों की इतनी बड़ी संख्या उनके द्वारा सम्पूर्ण देश में किये गये घातक विनाश के परिणामों में से एक है। केवल टूटे हुए स्मारक ही नहीं वरन् टूटे हुये समाज के टुकड़े भी उनके द्वारा किये गये विध्वंस के उसी प्रकार साक्षी हैं" (२९२)। फिर उनके साथ रोटी बेटी एक करके आप उन्हें किस छूमन्त्र से आत्मसात् कर लेंगे?

यह ठीक है कि हमारे सैनिकों का त्याग एवं उत्साह प्रशंसनीय है। उन पर हमको गर्व होना चाहिए। उनको यह अनुभव भी होना चाहिए कि सम्पूर्ण समाज हमारे पीछे है। साथ ही उनमें उत्साह भरने के लिए अपने शास्त्र एवं धर्म तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक आदर्शपुरुषों के प्रति सम्पूर्ण राष्ट्र की अखण्डनिष्ठा स्थिर नहीं रह सकती है। यह कहना भी निस्सार है कि "संघ पूरी शक्ति के साथ जनशक्ति को जागृत एवं संचालित करने में जुटा है। वह जीवनदायी आदर्श, सद्गुण एवं चारित्रिक संस्कार देते हुए बढ़ रहा है (२९५ पृ०)। कारण यह कि शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म विमुख होने के कारण संघ के चरित्र एवं संस्कार सब मनःकल्पित होने से निरर्थक एवं हानिकर हैं। संघ के संसर्ग से जाल फौरेब, झूठ, बेईमानी, विश्वासघात, धोखाधड़ी का ही राष्ट्र में फैलाव हुआ है। यह प्रत्यक्ष है।

अपने संघटनों की श्रेष्ठता सभी वर्णन करते हैं, परन्तु किसी राष्ट्रव्यापी कार्य को जिसमें अनेक शक्तियों का प्रयत्न है, उसे एक संघटन तक सीमित करने का प्रयास टिट्टिभदुरभिमान मात्र है। चीनी युद्ध में शस्त्रास्त्र की कमी एवं युद्ध

नेताओं के अनुत्साह के कारण हुए। राष्ट्र पराभव से राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक उत्तेजित तथा सजग हो गया, तथा राष्ट्र के कर्णधारों की निद्राभंग हुई और अतीत से शिक्षा ग्रहण करके कमी पूर्ति के काम में संल्लग्न हो गये। पाकिस्तानी युद्ध में भी भारतीय सफलता का वही बीज था। प्रायः भारतीय सैनिक दल-विशेष से संबंधित नहीं हैं। सौभाग्य से अब भी उनमें ईश्वर एवं धर्म के प्रति आस्था है। अपने पूर्वजों की परंपरा का गौरव उन्हें उत्साहित करता है। तभी तो उन दिनों सरकारी प्रसारणों में भी राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, भीष्म, द्रोण, महाराजा शिवा, प्रताप आदि के पराक्रमों एवं दानवीर कर्ण के दानशौर्य का महत्त्व गाया जाता था, और उसी जागरूक उत्साह का यह ज्वाज्वल्यमान उदाहरण था जो कि भारतीय वीरों ने विरोधियों के अभेद्य माने जानेवाले पैटन टैंकों का बड़े से बड़ा कब्रिस्तान बनाकर पाश्चात्यों को भी आश्चर्य में डुबो दिया।

आप कहते हैं "हम अपनी महान् सेना के समीप हैं तथा प्रतिष्ठित हुतात्माओं को सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, जिनके शौर्य एवं बलिदान द्वारा यह महान् दिवस राष्ट्र को प्राप्त हुआ·········उनके अपने जीवन का बलिदान······श्रेष्ठ आत्माहुति आदि श्रेष्ठ बलिदान की भावना से राष्ट्र के लिए प्रेरणादायी होंगे," (३०० पृ०)। परन्तु पिछले पृष्ठों में ठीक इसके विपरीत लिखा है कि बलिदानी महान्, पर आदर्श नहीं (२५९ पृ०), बलिदान दुर्बलता का परिणाम है और भारतीय संस्कृति में बलिदान को सर्वोच्च आदर्श नहीं माना है।··· ··अन्ततः वे असफल हुये और असफलता का अर्थ है उनमें कोई गंभीर त्रुटि थी (२६० पृ०) यह "राजपूतों का हौतात्म्य हमारे भारतीय शौर्य की गाथाओं का एक स्मरणीय परन्तु फिर भी दुःखद अध्याय है (२६२ पृ०)। यह तो ठीक है कि दुष्ट मनोवृत्ति का विनाश बिना किये पाकिस्तान या किसी राष्ट्र का युद्धसाधन, शस्त्रास्त्र, बमवर्षक राडार आदि के नष्ट करने मात्र से काम नहीं चलता, क्योंकि उनका निर्माण अनेक बार हो सकता है। परन्तु दुष्ट मनोवृत्ति के नाश के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दुष्ट मनोवृत्तिवाले मनुष्यों का ही विनाश कर दिया जाय। यह भी ठीक है कि राम को रावण के संहार का ही प्रयत्न करना पड़ा था, कृष्ण को भी कंस को ही मिटाना पड़ा था (३०२, ३०३ पृ०)। परन्तु फिर भी इन उदाहरणों से भी उक्त तथ्यपूर्ण आदर्श का बोध नहीं होता। उक्त आदर्श तो यही है कि अहिंसा एवं सत्य आदि पवित्र धर्मनिष्ठा के प्रभाव से सदुपदेश द्वारा दुष्ट-मनोवृत्ति का विनाश करके सद्वृत्ति का निर्माण किया जाय। दुर्जनः सज्जनो भूयात् इत्यादि सदुक्तियों का यही अभिप्राय है। तथापि यह मार्ग सर्व साधारण का नहीं है, प्रत्युत महान् सिद्ध पुरुषों का मार्ग है।

दण्ड विधान का मार्ग ही सर्वसाधारण के लिए राजमार्ग है।" दण्डः स्वप्नेषु जागर्ति" (म० स्मृ० ७।१८) के अनुसार सुविहित दण्ड ही सन्मार्ग का प्रतिष्ठापक होता है, इसीलिए विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, भगवती आदि ने लोक-शिक्षार्थ इसी मार्ग का अवलम्बन किया था, सुतरां सामान्य लोगों के लिए इस मार्ग का अवलम्बन असंगत नहीं है। संसार में विचित्र प्रकृति के प्राणी होते हैं। कई लोग दण्ड के द्वारा ही शांति के मार्ग पर आ सकते हैं, साम, दान, आदि द्वारा नहीं। उसे वे कमजोरी समझते हैं। अतः ऐसे स्थलों में झखमार कर युद्ध का मार्ग ही अपनाना पड़ता है। इसी तथ्य को समझ कर परमशांतिप्रिय होते हुए भी लाल-बहादुर शास्त्री शक्ति के द्वारा ही पाकिस्तानी आक्रमण का सामना करने के लिए सन्नद्ध हुये थे, और सैनिक, असैनिक संपूर्ण राष्ट्र ने दिल खोलकर उनके इस निर्णय का स्वागत किया था। परन्तु दुःख के साथ यह भी कहना पड़ता है कि शास्त्रीजी युद्ध में तो नहीं परन्तु समझौते की कुर्सी पर बैठकर जीती बाजी हार गये। वीरों ने महान् त्याग बलिदानों द्वारा अपने ही देश काश्मीर के जिन महत्वपूर्ण स्थानों को प्राप्त किया था, ताशकन्द समझौते के द्वारा भारत को उनसे भी हाथ धोना पड़ा। इस तरह हम जिस काश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग मानते हैं तथा घोषित भी करते हैं, उसे जीतकर भी समझौते के नाम पर फिर से हमलावरों के हाथों में सौंप देना पड़ा। इस तरह १८ महीने में शास्त्री जी ने जो कीर्ति कमायी थी १८ सेकण्ड में उसे गवाँ दिया।

वस्तुतः भारत के पूर्ण अखण्ड एवं शक्तिशाली हुए बिना शांति एवं सामंजस्य सम्भव नहीं, ऐसा होने में अनेक कठिनाइयों के होने पर भी उनका सामना करना अनिवार्य है। शांति या क्रांति जिस मार्ग से भी हो अखण्डता एवं शक्तिशालिता अनिवार्य है। आजकल अधिकांश राष्ट्रों की यह नीति रही है कि वे कई देशों की शक्ति छिन्न-भिन्न करने की दृष्टि से विभाजन कर देते हैं। जर्मनी, कोरिया, भारत, वियतनाम में यही दुर्नीति चलायी गयी है। जो देश कल तक हमारे थे वे ही आज इन कूटनीतियों के कारण हमारे लिए विराने हो गये हैं। शक्तिशाली एवं संघटित भारत दुर्भावनापूर्ण पाकिस्तान एवं चीन दोनों का मुकाबला करने में असमर्थ न होगा। फिर परिस्थिति के अनुसार अन्य राष्ट्रों की भी नीतियों में परिवर्तन हुए हैं और हो सकते हैं। जनतंत्रवादी, स्वतंत्र पचास करोड़ आबादी वाला भारत लाल होकर अमरीकी गुट के लिए शिरः शूल हो सकता है, अतः अमेरिका यह कभी नहीं चाहेगा। इसी तरह भारत को आत्मसात् करके चीन, रूस से उत्कृष्ट शक्ति वाला हो जाय यह रूस भी नहीं चाहेगा।

नीतिज्ञों का मत है कि शांति का॰ सबसे उत्तम मार्ग है "शक्तिशाली होना।" यद्यपि खाद्य सामग्री के उत्पादन तथा शस्त्रास्त्रों के निर्माण में देश जुटा हुआ है, आत्मनिर्भरता का सिद्धांत स्वीकृत ही नहीं हो रहा है, प्रत्युत वह आचरित तथा प्रचारित भी हो रहा है। हाँ परमाणवस्त्रों के निर्माण के सम्बन्ध में शांति स्थापना की दृष्टि से हमारा देश विमुख है। हम यह अनेक बार कह चुके हैं कि निर्बलता नहीं किन्तु शक्तिशीलता ही शांति का मूल है। यदि अमेरिका और रूस दोनों परमाणु शक्ति के आविष्कार में एक दूसरे से बढ़-चढ़कर न होते या एक दूसरे की अधिक शक्ति की कल्पना न होती तो शायद अब तक युद्ध छिड़ गया होता। शक्तिशाली होने पर भी धैर्य से काम लेना, उसका प्रयोग न करना सबसे बड़ी महत्ता है। अर्जुन के पास पाशुपत अस्त्र रहने पर भी उसने कभी उसके प्रयोग की बात सोची तक नहीं, यही उसकी महत्ता थी। वस्तुतः किसी निमित्त विशेष से आनेवाला गुण भी स्थायी नहीं रहता, निमित्त के समाप्त हो जाने से वह भी समाप्त हो जाता है। शस्त्रास्त्र के अभाव से होनेवाली सहिष्णुता, क्षमा आदि की न तो स्थिरता ही होती है और न उनका महत्त्व ही होता है। उसी प्रकार शत्रुओं द्वारा घिर जाने पर जो राष्ट्रीय एकता एवं प्रतिरोध की अदम्य शक्ति का भाव उदित हो जाता है, वह तत्काल आवश्यक एवं लाभदायक होने पर भी स्थायी नहीं रहता। गुणों की स्थिरता एवं महत्ता तो तभी होती है, जब उनका आविर्भाव मानवता, गुरुजनों के शास्त्रीय आचरण एवं शिक्षण से होता है।

स्थिर, प्रामाणिक, शास्त्रीय आधार बिना परम्परायें भी अंध परम्पराओं से अधिक महत्व नहीं रखती हैं। "अतएव सभी वाद अपने उदात्ततम रूप में (३२१ पृ०) इत्यादि कथन भी निस्सार ही हैं। क्योंकि हिन्दू परम्परा में तो सभी भली-बुरी बातें हुई हैं, हिन्दू परम्परा में राम भी हुए और रावण भी हुए। कृष्ण भी हुए और कंस भी, तथा कौरवपाण्डव सभी हुए हैं। किन्तु हिन्दू विधान—धर्मशास्त्रों ने जिनका विधान किया, जिनकी ग्राह्यता बतायी उन्हीं का गौरव मान्य होता है, अतएव कहना यह चाहिए कि हिन्दू वैदिक परंपराओं में या रामायण, महाभारत के रामराज्य एवं धर्मराज्य संबंधी परंपराओं में आधुनिक सभी वादों के सब उत्तम गुण आ जाते हैं, परन्तु उनके दोष नहीं आ पाते। जैसे लोकतंत्र का उत्तम सिद्धान्त यह है कि शास्त्रानुसारी जनमत का अनादर न हो। रामायण की राजनीतिक परंपरा में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि राम जैसे परम प्रिय, गुणवान्, लोकप्रिय पुत्र को भी युवराज्य पद देने के लिए महाराज दशरथ ने जनप्रतिनिधियों एवं

जनता की राय जाननी आवश्यक समझी और उनसे स्पष्ट अपनी सम्मति देने को कहा। श्री राम ने सीता के विरुद्ध जनमत (भले ही वह अल्पमत ही रहा हो) की उपेक्षा नहीं की, किन्तु आदर करते हुए सीता को वनवास देना उचित समझा। शस्त्रास्त्र या कारावासादि दण्ड-विधान के द्वारा जनता का मुँह बंद करना अनुचित ही समझा।

धर्म निरपेक्षता, ब्रह्मनिरपेक्षता, कभी भी हिन्दू समाज में मान्य नहीं थी। हाँ, धर्म सापेक्ष, पक्षपात विहीनता अवश्य यहाँ सदा आदरणीय रही। नीतिशास्त्रों के अनुसार राजा को अपना पुत्र भी अधर्म एवं अन्याय के मार्ग पर चलनेवाला दण्डनीय रहा और धर्मनिष्ठ शत्रु भी अनुग्राह्य रहा है। जिस देश में जो भी धर्म प्रामाणिक एवं परंपरा प्राप्त है, नीतिशास्त्र उसकी रक्षा करने का आदेश देते हैं। यद्यपि आर्थिक असमानता का निराकरण करना समाजवाद का लक्ष्य है, किन्तु शिक्षा प्राप्त करने, रोजगार चुनने, और अपने परिश्रम का पूरा फल प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त करना भी समाजवाद का लक्ष्य है। यह सब भारतीय परंपरा के विपरीत है, यहाँ तो शास्त्रीय एवं लौकिक योग्यता के अनुसार ही शिक्षा, रोजगार आदि का विधान होता है।

आपने लिखा है कि मनु ने घोषित किया है कि भोजन के अतिरिक्त धनसंग्रह करनेवाला चोर के समान दण्डनीय है (३२१ पृ०)। पर यह ठीक नहीं क्योंकि मनु की ऐसी कोई घोषणा है ही नहीं, हाँ, श्रीमद्भागवत में व्यास की किसी ऐसी ही घोषणा से आपको ऐसा भ्रम हुआ है। व्यास की वह घोषणा यह है—

"यावद्भ्रियेज्जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत सस्तेनोदण्डमर्हति॥" श्री भा० ७।१४।८

जितने में उदर-पोषण हो उतने में ही प्राणियों का वास्तविक स्वत्व होता है, अधिक में जो अभिमान करता है वह चोर है और दण्डार्ह भी है। यहाँ संग्रह का नहीं किन्तु अभिमान का निषेध है—क्योंकि संग्रह बिना तो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का विधान ही नहीं हो सकता। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि जिसके घर में तीन वर्ष के लिए या उससे भी अधिक उदर-पोषण के लिए पर्याप्तवित्त हो, उसको ज्योतिष्टोम करके सोमपान करना चाहिए—

"यस्य त्रैवार्षिकंभक्तं पर्याप्तं भृत्य वृत्तये।
अधिकं वापिविद्येत स सोमं पातुमर्हति॥" (मनुः ११।७)

आर्थिक असन्तुलन दूर करने के जितने उत्तम मार्ग भारतीय शास्त्रों में है, उतने तो और कहीं भी नहीं हैं। यह विस्तार से "मार्क्सवाद रामराज्य" नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। आगे के पृष्ठों में आप लिखते हैं कि—"हमारे नेता क्रांतिकारियों, एवं तिलक आदि के जनान्दोलनकारियों को गतिविधियों में भी शामिल रहे (३२६ पृ०) परन्तु फिर भी उन्हें इनसे सन्तोष नहीं हुआ तब उन्होंने संघ की स्थापना और उसके कार्यक्रम को निश्चित किया परन्तु यह कोई नई बात नहीं। यह आम बात है कि कोई भी नवीन मतवादी ऐसा ही कहता है। एक नास्तिक भी कहता है कि मैंने देश–विदेश के प्रचलित सभी मतों तथा वादों का अध्ययन किया, उनकी साधनाओं का अभ्यास भी किया परन्तु मुझे संतोष न हुआ तब मैंने नया मत निकाला है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि उन्हीं दोनों संघर्षों से अंग्रेज यहाँ से हट सका और देश को जैसी तैसी आजादी मिली, लेकिन आपकी दैनन्दिन कार्यवाही कबड्डी तक में ही सीमित रही, उसका कोई भी सुफल सामने नहीं है। हाँ, अपने मुख मियाँ मिट्ठू तो बननेवाले बहुत से मिलते ही हैं। आप कई बार कहते हैं, अमुक अमुक को मैंने अपने समारोह को अध्यक्षता करने के लिए बुलाया, वे आकर संघ से प्रभावित हुए एवं उसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की। परन्तु यह सब तो वैसा ही है जैसे कि विदेशी लोग भारत आकर यहाँ का स्वागत समारोह देखकर प्रभावित होते हैं, और भारत की प्रगति की प्रशंसा कर जाते हैं। जैसे इन प्रशंसाओं में कुछ तत्व नहीं वैसे ही संघ के प्रशंसकों को भी समझना चाहिए।

आप कहते हैं कि क्षात्र धर्म की एक गलत धारणा के कारण इन वीरों ने बलिदान की आकांक्षा लेकर स्वयं को नष्ट कर दिया, यह एक दुर्बलता है (२६२ पृ०)। समझदार व्यक्ति के लिए मरना मारना कभी भी आदर्श नहीं हो सकता (२६३ पृ०)। परन्तु यह भी धारणा गलत ही है, क्षात्रधर्म; धर्मशास्त्र सम्मतधर्म है। उसके अनुसार वीरों का युद्ध करना धर्म है। उसमें कामना न होने पर भी विजय एवं मृत्यु दोनों सम्भव हैं। वीर में शौर्य, वीर्य, ओज, तेज के साथ-साथ धैर्य, दाक्ष्य, विवेक, विज्ञान की अपेक्षा होती है। जहाँ विवेक विज्ञान धैर्य का प्रतीक योगेश्वर कृष्ण एवं शौर्य, वीर्य, ओज, तेज का प्रतीक धनुर्धर पार्थ होता है वहीं पर विजय, भूति एवं ध्रुवानीति रहती है।

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थोधनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥' गीता

आज कल कई लोगों में जोश होता है, परन्तु होश नहीं। कई बड़े-बड़े विद्वानों में होश बहुत होता है, परन्तु जोश नहीं। वे सर्वत्र फूंक-फूंक कर पाँव धरते हुए संघर्ष

के खतरे से बचने का ही प्रयत्न करते रहते हैं। देश टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं, माँ-बेटियों की इज्जतें लुट रही हैं, शास्त्र एवं धर्म की मर्यादायें नष्ट हो रही हैं, गायें कट रही हैं, वे चुपचाप सोच रहे हैं। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो अमर्षी और अक्षमी है वह न स्त्री है न पुमान्। कृषि सूख जाने पर वर्षा का क्या अर्थ ? समय चूक जाने पर फिर पछताने का भी क्या फल ? क्षात्रधर्म के अनुसार बहुत सोच-विचार कर युद्ध का अवसर खोना अधर्म है। 'विद्यमान रिपु पाइ रण कायर करहिं प्रलाप।' ऐसे युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होना नष्ट होना नहीं है। उससे वीरता को प्रेरणा मिलती है। नयी तैयारी होती है। नया प्रयत्न होता है। अन्त में शत्रु का निःशेष नाश होता है। संसार के सभी युद्धों में कुछ लोगों के मरने के बाद ही तो विजय मिली थी। मरना, मारना भले ही उद्देश्य न हों, परन्तु विजय के लिए मरना मारना पड़ता ही है। राम की विजय के लिए कितनों को मरना पड़ा, कितनों को मारना भी पड़ा। देवासुर संग्राम, कौरव पांडव आदि सभी संग्रामों की यही स्थिति रही है।

शाखा के कार्यक्रम

अनुशासित ढंग से खड़े होना, शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्राप्त करना राष्ट्ररक्षा की भावना जागरूक करना, संसार के सभी सैनिक संघटनों में होता है, उससे अधिक संघ की कक्षा में और क्या रहता है, फिर उसकी व्याख्या कितने ढंग की भी क्यों न कर ली जाय। श्री सदाशिव एवं मल्हारराव जैसा मतभेद स्वतन्त्र मस्तिष्कों में सदैव रहा है और रहेगा। माघ के अनुसार कृष्ण, सात्यकि, उद्धव एवं बलराम में भी विचारभेद रहा था। यदि संघ में ऐसे विचारों का कोई अस्तित्व मान्य नहीं तो पूर्वोक्त विचार स्वातन्त्र्य का गुणगान करना निरर्थक ही है। परन्तु लोकतन्त्र के अनुसार मतभेद होने पर भी बहुमत के अनुसार चलना अनिवार्य होता है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि युद्ध के समय सभी सैनिक युद्ध छोड़ मतभेद के शास्त्रार्थ में लग जायँ। अर्जुन और कृष्ण आदि जैसे अनुशासित वीर एवं दार्शनिक साथ-साथ हो सकते हैं, वैसे ही आज भी हो ही सकते हैं, तभी तो आज भी विभिन्न देशों में सैनिक भी शासक होते ही हैं।

कहा जाता है कि सैनिक अनुशासन में दण्ड के भय का भाव धन और पद का लोभ भी रहता है। परन्तु संघ में एकत्र की भावना साहचर्य और लक्ष्य के लिए समर्पण की भावना ही आत्मससंयम एवं स्वतः स्वीकृत अनुशासन के लिए सदस्यों के व्यवहार को ढालती है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि भारतीय संस्कृति में गीता के अनुसार तो युद्धादि सभी कर्म कर्त्तव्यपालन बुद्धि से ही किये जाते हैं।

शिक्षा ही नहीं प्रत्युत युद्ध के लिए भी सुख-दुःख लाभालाभ, जय पराजय में भी समत्व बुद्धि से युक्त होकर हीं कर्म करना कहा गया है। अन्यथा पाप प्राप्ति कही गई है।

"सुख दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ :
ततो योगाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥" गीता

वैसे तो अत्यन्त अकाम की भी कोई क्रिया नहीं होती है, संसार की सभी चेष्टायें काम का ही परिणाम हैं, इसीलिये जानाति, इच्छति अथ चेष्टते, ज्ञान इच्छा के पश्चात् ही कोई कर्म होता है। कबड्डी व्यायामादि खेल खेलनेवाले सभी लोग स्वेच्छा से ही अनुशासन स्वीकृत करते हैं। सदा ही खेलों में भय और काम की कल्पना भी नहीं होती है। दार्शनिक व्याख्या चाहे जो भी कर ली जाय, परन्तु व्यावहारिक स्थिति तो कांग्रेसियों के अहिंसा, सत्य के संकल्प से भी गई बीती हालत संघ के स्वेच्छा स्वीकृत समर्पण की है। अतएव एक साधारण से निर्वाचन जीतने में जितना संघी कूदता है, नारा लगाता है, उतनी शायद ही कोई पार्टी क्षुद्रता दिखलाती हो। संघियों के उत्तर भी स्वयं स्फूर्ति न होकर तोतारटन्त ही होते हैं, अतएव थोड़े से ही प्रश्नोत्तर में संघी की स्फूर्ति सत्ता खतम हो जाती है। आत्मसंयम क्षुद्रता एवं ओछापन को स्थान नहीं दे सकता, परन्तु संघ में माता, पिता, गुरुओं एवं शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए भले ही उच्चतर राष्ट्रीय आह्वान का नाम ले लिया जाय परन्तु गोरक्षा जैसे कार्य के लिए सत्याग्रह तक में संघ की प्रवृत्ति छल-छद्म से रिक्त नहीं होती। यदि स्वतः स्फूर्त प्रवृत्तियाँ हों तो फिर पद-पद पर संघी 'ऊपर से आदेश आने पर ही सब कामों के करने का नियम है, ऐसी दुहाई क्यों देता है। ऊँचे आदर्शों का उपदेश देना तो अच्छा ही है परन्तु ऐसा तो सभी स्वयंसेवक संस्थाओं में होता ही है।

वस्तुतस्तु सच बात यह है कि जब संघ के लोग निराशा से व्याप्त होकर कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट आदि पार्टियों में जाने लगे और यह महसूस किया जाने लगा कि हमारी बनाई पकाई ईंट हमारे विरोधियों की इमारत बनाने के काम में आ रही है, तभी जनसंघ नाम की एक पार्टी अर्थात् स्वतन्त्र संघ का रूपान्तर बनाया गया है। उसमें सब कुछ संघ के ही लोग होते हैं तथापि संघी अपने को राजनीति से अलिप्त घोषित करते हैं। यह मिथ्याचार संघ के नैतिक पतन में और भी कारण बना है।

इसीलिए तो संघ के लोग धर्मग्रन्थों को मानने से भागते हैं क्योंकि शास्त्रानुसार तो खान-पान, विवाह आदि में तो जातिभेद का ज्ञान आवश्यक होता है। प्रत्येक वर्ण के संकल्प में जाति एवं गोत्र का उल्लेख होता है। इससे स्पष्ट है कि संघ का

हिन्दुत्व संघ की संस्कृति सर्वथा धार्मिक तथा शास्त्रीय परम्परा से बहिष्कृत है। हाँ, शास्त्रज्ञों के अनुसार वह जातिभेद घृणामूलक न होकर धर्म एवं शास्त्रमूलक ही होता है। रन्तिदेव जाति का आदर करते हुए भी एक अन्त्यज को भोजन देने से पीछे नहीं हटते फिर भले ही उससे उनको प्राणान्त बाधा भी सहनी पड़े।

आत्मसंयम की प्रवञ्चना

श्री गोलवलकर शाश्वत मूल्यों के सिंचन पर जोर देते हैं (वि० न० ३२ पृ०), पर वे स्पष्ट बता नहीं पाते कि क्या हैं वे शाश्वत मूल्य। परानुकरण का भी विरोध करते हैं। परंतु दूसरों की अच्छी बातों को भी ग्रहण करना क्या बुरा है? अपनी बुरी बातों से भी चिपके रहना क्या अच्छा है? अथवा क्या आपके यहाँ कोई खराब रूढ़ियाँ या बुरे व्यवहार हैं ही नहीं? जिन ईश्वरीय एवं आर्ष शास्त्रों के द्वारा भलाई-बुराई सभ्यता असभ्यता भूषण दूषण का निर्णय होता है, उन्हें आप मानते ही नहीं। प्रत्यक्ष अनुमान एवं परंपरायें तो और लोगों के पास भी हैं ही। फिर भी आप कैसे समझते हैं कि लोग आपके आदर्श का अनुकरण करेंगे।

श्री गोलवलकर का यह कहना तो ठीक है कि अर्थ, काम के अतिरिक्त धर्म और मोक्ष भी मनुष्य का लक्ष्य होता है। परंतु आपकी धर्मकल्पना आपके पूर्वजों के प्रामाणिक धर्म से बिलकुल भिन्न है। यह पीछे हम लिख चुके हैं।

'विचार नवनीत' के ३८, ३९ पृष्ठों पर श्री गोलवलकर ने जीवनस्तर के नाम पर तृष्णा वृद्धि की चर्चा की है और आत्मसंयम तथा चारित्र्य का महत्त्व कहा है, वह ठीक ही है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि राग और वैराग्य दोनों ही की शोभा अपने स्थान पर ही होती है—'नीकिहू फीकी लगत बिनु अवसर की बात। जैसे बरणत युद्ध विच रससिंगार न सुहात॥' युद्ध के अवसर पर अर्जुन के वैराग्य को भगवान् ने निन्द्य ठहराया था। वैराग्य से बचने के लिए ही श्री व्यास ने उसे तपस्या के लिए वन में प्रेषित करते हुए आदेश दिया कि हर समय जप-तप-ध्यान आदि में भी अपना धनुष बाण साथ रखना इससे क्षात्र तेज को प्रोत्साहन मिलता रहेगा। तृष्णा त्याग संतोष बहुत अच्छी वस्तु है, हमारी संस्कृति में **असंतोषः श्रियो मूलम्** के अनुसार अनिर्वेद को अभ्युदय का मूल कहा गया है। असन्तुष्ट ब्राह्मण एवं संतुष्ट महीपति को अयोग्य ही कहा गया है। इसीलिए आजकल लोग तृष्णा, त्याग, वैराग्य या 'निष्कामता के नाम पर प्रचार करते हुए शास्त्रीय विविध काम्य कर्मों का परित्याग करते हैं और अन्त में अवैध एवं निकृष्ट तृष्णाओं के शिकार बनकर नष्ट हो जाते हैं। यहाँ तो एक ही श्लोक में रागविराग दोनों का ही यथायोग्य सम्मान करना कहा गया है—

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्चचिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत् ॥

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह अपने को अजर अमर मानकर विद्या एवं धन का उपार्जन करे और मृत्यु ने मारने के लिए केश ग्रहण कर रखा है, यह जान कर धर्म का आचरण करे। जो कल करना है, उसे आज ही करे, जो आज करना है, उसे अभी करे। जीवन का क्षणभर भी विश्वास न करे। इसीलिए कम्युनिस्टों को यह कहने का अवकाश नहीं रहता कि आदर्शवादी धर्म एवं आत्मा तथा वैराग्य का उपदेश केवल मजदूरों, गरीबों का मन तात्कालिक समस्या से हटाने के लिए करते हैं जो कि पूँजीवादियों के हित में है। धर्म एवं अध्यात्म का महत्व होते हुए भी सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य रोटी कपड़ा इलाज एवं शिक्षा की व्यवस्था करके लौकिक जीवन-स्तर सुधारने या उन्नत करने की बात अनुचित नहीं कही जा सकती है।

आप कहते हैं कि हमारे राष्ट्र का सच्चा उद्धार मनुष्य निर्माण से होना चाहिए (वि० न० पृष्ठ ३८)।

यह ठीक है। परंतु मनुष्य धर्म से बनता है। समाज का आधार हिन्दू समाज का गौरव उसके प्रामाणिक धर्म, दर्शन एवं सदाचारों पर निर्भर था। उसी आधार पर प्रतिष्ठा भी थी। परन्तु आज आत्मश्लाघा के सिवा वह कुछ भी आपके पास नहीं है। आप कहते हैं, समाज ही ईश्वर का जीवित स्वरूप है (वि० न० पृ० १६६), पर यह किसी भी शास्त्र में नहीं वर्णित है। ईश्वर का स्थूलरूप महाविराट् है। भारत एवं भारतीयसमाज भी उसी का एक अंश होने से वह भी ईश्वर का एक अंश है। इसकी विशेषता तो इसके वेदादिशास्त्रों एवं तदुक्त कर्म, उपासना, ज्ञान, विज्ञानों से थी, पर उसकी आज उपेक्षा हो रही है। भारत का वैभव ज्ञान विदेशी लेखकों के आधार पर नहीं किन्तु भारतीय रामायण महाभारतादि आर्ष इतिहासों से ही प्राप्त हो सकता है, विदेशी विचारकों के उक्त लेखों में भारतीय वैभव का शुद्ध रूप नहीं मिलेगा।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" (ऋ० सं० ६।६३।५) का "विश्व के मनुष्य मात्र को आर्य बनाओ (वि० न० पृ० १६८)" अर्थ नहीं है, ऐसा अर्थ वेद-भाष्यकार सायणादि से विरुद्ध है। वहाँ तो ऋत्विजों से संपूर्ण सोमादि हविः को संस्कारों द्वारा श्रेष्ठ बनाने के लिए कहा जा रहा है। अतएव वेद "तिस्रः प्रजाः आर्याः" के अनुसार ब्राह्मणादि तीन प्रकार की प्रजाओं को आर्य कहते हैं।

यह ठीक है कि भारत का प्राचीन गौरव एवं धन, धान्य, कला, कौशल, चिकित्सा, विज्ञान आदि की उन्नति अवश्य ही महत्वपूर्ण थी। आखिर हम इतने उन्नत होते हुए भी वर्तमान घृणित अवस्था में क्यों पहुँचे। धन, धान्य पूर्ण संस्कृति के इस देश में दुःख दारिद्रय एवं अधर्म का पिशाच किस प्रकार घुसा आपने यह कभी सोचा? आपका यह कहना तो ठीक है कि विदेशी मुस्लिमों, अंग्रेजों के अत्याचारों एवं जाल-फरेबों के कारण भारतीय सद्गुणों एवं वैभवों का नाश हुआ।

यह भी ठीक है कि हमारी जनसंख्या, सेना, नीतिज्ञता, पराक्रम, ऐश्वर्य, बुद्धिमत्ता, ज्ञान एवं प्रत्येक गुण भी जिनसे किसी भी जाति को निश्चित विजय प्राप्त होती है, आक्रामकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थे......। इसी प्रसंग में कौटल्य के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि "जिसकी बराबरी का संसार के समस्त राजनीतिक साहित्य में दूसरा एक भी ग्रंथ मिलना कठिन है, यह छोटा सा ग्रंथ ऐसे विचारों का कोष है जिनकी स्वाभाविक एवं स्थायी श्रेष्ठता देशकाल की सभी सीमाओं से परे है" (वि० न० पृ० २००)। उपर्युक्त आपकी बातें बहुत ठीक हैं परन्तु आश्चर्य तो यह है कि आप फिर उस ग्रन्थ का भी प्रामाण्य और उसे अपना मार्गदर्शक नहीं मानते। कौटल्य, पद पद पर धर्म एवं वेदादिशास्त्रों का गौरववर्णन करता है, यदि उसे आप मानते तो कितनी अच्छी बात होती, कौटल्य के निम्नोद्धत वचन पर गंभीरता से विचार कीजिए :—

"व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्याहिरक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

(कौ० अर्थशास्त्र) अधि० १, अ० ३। श्लो० ४

आर्य मर्यादा के सम्यक् व्यवस्थित होने और वर्णाश्रम की स्थिति संपादित होने पर त्रयी (ऋक्, साम, यजुः) के द्वारा रक्षित लोक प्रसाद को प्राप्त होता है, अवसाद को नहीं प्राप्त होता। आगे अपने लिखा है कि हमने पहले शकों, हूणों के बर्बर समूहों को खदेड़ दिया था जो लोग यहाँ रह गये थे उनको अपनी सर्वग्राही संस्कृति में समाविष्ट कर लिया था (वि० न० पृ० २००)। परन्तु क्या कभी यह भी सोचा कि यह सर्वग्राही मिक्सचर संस्कृति कौटल्य को मान्य थी? वस्तुतः कौटल्य ने अपने ग्रन्थ में वर्णसांकर्य को ही राष्ट्र का विध्वंसक माना है, मनु भी वही बात कहते हैं :—

'यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्ण (दूषकाः)।
राष्ट्रियैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥ (मनुः १०।६१)

हो सकता है, इस सांकर्य के कारण ही यह सर्वगुण सम्पन्न देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ गया हो। चन्द्रगुप्त के समय कौटल्य के धर्म एवं शास्त्र का पूर्ण सम्मान था, देश के लोग बलिष्ठ एवं धर्मिष्ठ थे, तभी तथाकथित विश्वविजेता सिकन्दर एवं सैल्युकस आदि को पराजित किया जा सका था।" यह ठीक है कि "ऐक्य के अभाव में राजपद जनता की निष्ठा का आधार बन जाने ने परस्पर द्वेष एवं स्पर्धा से छोटे-छोटे राजाओं के सम्बन्ध दूषित हो जाने पर शत्रु मित्र की पहचान न होने तथा अदीर्घ दर्शितापूर्ण प्रवृत्तियों के कारण शत्रु हमारे अतिथि बनकर विजेता एवं शासक बन गये।" (वि० न० २०१ पृ०)। परन्तु इससे भी अधिक मूलकारण राष्ट्र के पतन का यही था कि "आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्ता तथा दण्डनीतिरूप लोक-प्रतिष्ठा हेतु विद्याओं की उपेक्षा। जहाँ विधिवत् उक्त विद्याओं का ज्ञान एवं अनुष्ठान ठीक से चलता रहता है, वहाँ कभी भी ऐसा प्रमाद नहीं होता है। अतएव यह कथन ठीक नहीं है कि 'महाभारत युद्ध के बाद लम्बे शांतिकाल में समस्त राष्ट्र सुरक्षा की भावना के कारण एक प्रकार की मूर्च्छा को प्राप्त हो गया था, ऐक्य की प्रवृत्ति जो आनेवाले खतरे की चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, शताब्दियों के कालान्तर में मन्द पड़ गयी थी (वि० न० २०१ पृ०)। क्योंकि आपके कथनानुसार भी कौटल्य काल में देश पूर्ण समृद्ध एवं शक्तिशाली था। कौटल्य काल महाभारत युद्ध से दो ढाई हजार वर्ष पीछे का ही है फिर कौटल्य के पीछे होने वाली दुर्दशा का हेतु कौटल्य पूर्वकाल की स्थिति को कैसे कहा जा सकता है। महाभारत युद्ध के पूर्व में भी भारत में छोटे छोटे बहुत से राज्य थे और उनमें संघर्ष भी होता ही रहता था, इसका परम प्रमाण द्रौपदी को नग्न करने का प्रयत्न, पाण्डव वनवास तथा महाभारत युद्ध ही है। जनता में राजपद का सम्मान तो भारत काल में ही नहीं किन्तु मन्वादिकाल में भी था ही "महती देवता ह्येषा नररूपेणतिष्ठति" (म० ७।८) "नराणांच नराधिपम् ॥" (गीता) इत्यादि मनु तथा गीता के वचनों में स्पष्ट ही राजा को ईश्वररूप कहा गया है।

उतने स्पष्ट शब्दों में कहीं भी किसी एक समाज को ईश्वर रूप में नहीं कहा गया है। अतः देश की दुरवस्था का मूल था, बौद्ध प्रभाव विस्तार के कारण वेदादि शास्त्रों में अश्रद्धा का सूत्रपात एवं तदुक्त वर्णाश्रम व्यवस्था में शैथिल्य तथा तदनुसारी धर्मों के अनुष्ठान में शिथिलता। भट्टपाद, कुमारिल, शंकराचार्य आदि आचार्यों के प्रयत्नों से जितने अंशों में शास्त्रादि व्यवस्था प्रतिष्ठापित हो सकी उतने अंशों में समाज जीवित रह सका था, उतने अंशों में उन आगन्तुक उपद्रवों के निवारणार्थ प्रयत्न भी होता रहा है, यही मुसलिम आक्रमणों के भी प्रतिरोध की कहानी है।

कौटल्य के उपदेशों का ठीक आदर एवं पालन न करने से ही आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति की उपेक्षा के परिणामस्वरूप मार्गभ्रष्ट हिन्दू ही विदेशी आक्रामकों के सहायक बने, इतना ही नहीं, इसी कारण बहुत दिनों से हमारे देश में इतनी अदीर्घदर्शिता बढ़ गयी है कि वह निर्वाण या विध्वन्स ही सोचना जानता है, निर्माण या रचना की बात वह सोचता ही नहीं। पृथ्वीराज की किन्हीं बातों से उद्विग्न होकर लोगों ने सोचा कि पृथ्वीराज को मिटाना है, भले ही मुगल आयें तो आयें। परन्तु जब मुगल एवं मुसलिम कुकृत्यों से लोग उद्विग्न हुए तो सोचा कि इस शासन को खत्म करना है फिर जो आये सो आये। फलस्वरूप अंग्रेजों के पाँव जमाने में मदद की गयी मुसलिम शासन समाप्त किया गया। अंग्रेजों से ऊब जाने पर उनके खत्म करने का प्रयत्न आया और यह सोचा गया कि अंग्रेज हटने चाहिए, उनके स्थान में जो आये सो आये। इस प्रयत्न के फलस्वरूप कांग्रेस को बलवान् बनाकर सफल बनाया गया। कांग्रेस ने देश के टुकड़े टुकड़े किये हिन्दुस्तान, पाकिस्तान का बंटवारा स्वीकार किया, भूमि संपत्ति छीनी, धर्म कर्म तथा शास्त्रों को ठुकराया, मनमाना कानून बनाया, गोहत्या को बढ़ावा दिया, अब आज जनता की इच्छा है कि कांग्रेस हटनी चाहिए, इसके स्थान पर अन्य चाहे जो भी आयें। परन्तु हम निर्माण नहीं सोचते। इस अन्ध परंपरा में कभी भी शांति न होगी। निर्माण बिना निर्वाण सर्वथा व्यर्थ ही होता है। जब तक हम अपनी शास्त्रीय परंपराओं के अनुसार अपने निर्माण की रूप–रेखाओं पर विचार नहीं करेंगे तब तक सभी दलों एवं संघटनों की प्रतिक्रियास्वरूप प्रवृत्तियां शांति एवं समृद्धि स्थापना में सफल नहीं हो सकेंगी, धर्म संघ, रामराज्य परिषद् का प्रयास इसी निर्माण की ओर है।

आप पंजाब को वेदों का जन्मस्थान मानते हैं और वेदों को पवित्रतम मानते हैं (वि० न० पृ० २०५) परन्तु खेद है कि आप उन पवित्र वेदों को भी अपने संघटन का आधार बनाने को तैयार नहीं हैं। आप यह मानते हैं कि प्रान्त, दल, भाषा, पन्थ सम्प्रदाय के नये वेष में परस्पर घृणा द्वेष का वही अभिशाप अपना मृत्यु नृत्य किये जा रहा है (वि० न० २०७ पृ०)। परन्तु यह नहीं सोचते कि हम सर्वमान्य या बहुमान्य वेदादि शास्त्रों, रामायण, महाभारत, मनु, गीतादि ग्रन्थों को जब तक अपना सरपंच मानकर उनके अधीन अपनी गतिविधि नहीं बनायेंगे तब तक कोरा रोना रोने मात्र से हमारा उद्धार कभी भी क्या हो सकता है? यह भी आप मानते ही हैं कि राजसूय, अश्वमेघादि वैदिक यज्ञों के द्वारा संपूर्ण भारत को एक ही चक्रवर्ती के सर्वोच्च राजकीय प्रभुत्व के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न होता था। उसमें राज्यों की जनता का शोषण या दमन के सदृश कोई स्वार्थी मन्तव्य नहीं होता था। वह छोटे छोटे राज्यों

Scanned by CamScanner

में एक सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता के प्रति राज्यभक्ति की अपेक्षामात्र रखता था। अन्य बातों में हस्तक्षेप न करते हुए उनको स्वतंत्ररूप से पहले के समान रहने को छोड़ देता था (वि० न० पृ० २०६)। पर इतना ही क्यों मान्धाता आदि सप्तद्वीप अधिपति चक्रवर्ती हुए थे, अन्य लोग जम्बू द्वीपाधिपति भी हुए थे। अन्ताराष्ट्रिय संघटन एवं सुव्यवस्था का संपूर्ण कार्य चक्रवर्ती राज्य पर ही निर्भर होता था। उसी से विश्व में शांति एवं सुव्यवस्था बनी रहती थी।

विभिन्न प्रांतों, पन्थों, पार्टियों की देश विभाजन की ओर प्रवृत्तियाँ तब तक चलती रहेंगी जब तक इस प्रकार के यज्ञों के मूल वेदों तथा भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों का लोग सम्मान करना नहीं सीखेंगे। यही नहीं तब तक नाना प्रकार के पन्थों से देश विभक्ति ही बना रहेगा और विदेशियों की कूटनीति का शिकार बनकर नाना विभागों में विभक्त होता रहेगा। द्राविड़नाड, पंजाबी सूबा, झारखण्ड स्थान की माँग के रूप में उसकी प्रारंभिक अभिव्यक्ति मात्र है। एकात्मक राज्य की व्यवस्था के विरुद्ध संघात्मक राज्य की कल्पना अवश्य ही दुर्भाग्यपूर्ण है, और इसी का परिणाम नदी जल-विवाद, सीमा विवाद आदि नामों से प्रकाश में आ रहा है। और उसी का परिणाम है राज्यों का परस्पर बिलगाव एवं एक को दूसरे के सुख-दुःख में सहानुभूति का अभाव। यद्यपि आत्मनिर्णय का अधिकार एक प्रभुता सम्पन्न स्वतंत्र राष्ट्र के लिए ही मान्य है तथापि पाकिस्तान, हिन्दुस्तान के विभाजन के मूल में उसकी मान्यता स्वीकृत हो चुकी है यद्यपि उसकी रोकथाम की कुछ व्यवस्था भी है, फिर भी वर्तमान शासन के कर्णधारों की कमजोरी से जो कुछ हो जाय वह थोड़ा ही है। यह भी ठीक है कि इस दुरवस्था को दूर करने के लिए समाज को संघटित, जागरूक, राष्ट्रिय चेतना तथा ऐक्य की भावना से पुनरुत्थानशील बनाना चाहिए, परस्पर प्रेम और अनुशासन का भाव भी बढ़ाना आवश्यक है। परन्तु यह सब पीढ़ियों से प्रचलित शास्त्र सम्मान, धर्मनिष्ठा, सदाचार-परिपालन बिना क्या सम्भव है? क्या काल्पनिक गीतों एवं खेलों के प्रलोभन से एकत्रित बालकों का संघटन ही वह संघटन होगा?

क्या आप कभी अपने संघ को शास्त्र प्रामाण्यवाद का पाठ पढ़ाते हैं, संध्या, सूर्यार्घ्य के लिए प्रेरित करते हैं? वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोमादि के लिए कभी प्रेरित करते हैं? जैसा, वैसा भेड़ बकरियों का संघटन क्या कभी आंतरिक या बाह्य दुश्मनों का मुकाबला कर सकता है। यही कारण है कि अनेक दशकों से आप संघटन के ढोल पीट रहे हैं, परन्तु आपके शब्दों में भ्रंश, पतन के निदानभूतरोग उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं। क्या वेदादिशास्त्र प्राचीन संघटन का यही आदर्श था कि वेदाध्ययन एक संध्यावन्दनादि के ही समय प्रातःकाल वेदाध्ययन एवं संध्या-

चन्दनादि से विमुख करके बालकों एवं युवकों को काल्पनिक गीतों एवं खेलों में फंसाये रक्खें और माता पिता गुरु सबकी ओर से ध्यान हटाकर किसी काल्पनिक ध्वज एवं गीतों में लगायें।

आप यद्यपि प्रतिक्रिया पक्ष का खण्डन करते हैं। पर क्या आपका प्रस्तुत में ही मुसलमानों, अंग्रेजों एवं कांग्रेसियों की घृणित निंदित चेष्टाओं, दुर्नीतियों, दुर्गुणों के वर्णन में सैकड़ों पृष्ठ नहीं खर्च हुए हैं? वस्तुतस्तु शास्त्र दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति के लिए यह सब कोई नयी बात नहीं है। जब तक रोग का स्वरूप एवं निदान सम्यक् रूप से विदित नहीं होता तब तक चिकित्सा भी ठीक नहीं होती। यों तो दोष ही क्या गुण का देखना भी दोष है, गुण तो यही है कि गुण दोष दर्शन से सर्वथा विमुक्त रहा जाय :

"गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।" भागवते

गुण यह उभय न देखिये देखिय सो अविवेक। तथापि व्यवहार में—"विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः" (अमरको० ब्रह्मवर्ग ५) अर्थात् दोषज्ञ होना विद्वान् का लक्षण कहा गया है। पूर्व मोमांसा के "अथातो धर्मजिज्ञासा" (१।१।१) सूत्र में आकार का प्रश्लेष करके धर्म जिज्ञासा के समान ही अधर्म जिज्ञासा की भी प्रतिज्ञा की गई है। जैसे धर्म का ज्ञान अनुष्ठान के लिए अपेक्षित है वैसे ही अधर्म का ज्ञान उससे बचने के लिए अपेक्षित होता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में तथा पुराणों में विस्तार के साथ गुण दोषमय है, इसमें पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, दिन-रात, सुख-दुःख, विष अमृत, गंगा-कर्मनाशा, काशी-मगध, सभी तो हैं।"

"भलेउ पोच सब विधि उपजाये, गनि गुणदोष वेद बिलगाये।
ताते कछु गुण दोष बखाने, संग्रह त्यागु न बिनु पहिचाने॥"
जड़ चेतन गुण दोष मय विश्वकीन करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारिविकार॥

आपका यह कथन है कि "सभी गोमांस भक्षी मुसलमानों का चिन्तन करते करते हिन्दू नेताओं को कोई दोष नहीं भासित होता (वि० न० पृ० २१७)।" निस्सार है क्योंकि उपादेय बुद्धि से दोष का चिन्तन ही घृणा का निवारक होता है। हेय बुद्धि से दोषचिन्तन से तो उत्तरोत्तर घृणा ही बढ़ती है। हिन्दू शास्त्रों एवं धर्मों का अध्ययन एवं अनुष्ठान का सम्बन्ध टूट जाने और पाश्चात्य विचारों का अध्ययन करने से ही उपर्युक्त बुद्धि सम्भव है। एक नेता ऐसे भी मुझे मिले जिसने कहा कि गोहत्या बन्द हो जाने पर हमलोग जनता से क्या कहकर वोट मांगेंगे, आज तो

बतलाते आपहुवेल जो आधुनिक युग के हैं ऐसे हिन्दू भी इस विचार के हो गए हैं कि यदि हम आग न लगायेंगे तो आग लगी ही रह जायेगी। क्या यह मुस्लिम संघ चिन्तन का फल है। यही कहना होगा कि यह सब वैदिक सिद्धान्तों की अशिक्षा एवं वर्तमान कुशिक्षा का ही परिणाम है। शास्त्रों ने सिर्फ सावधानी के लिए गुणदोष का वर्णन किया है। सदा ही दोषानुसंधान को तो त्याज्य ही कहा है।

"नैवातीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषोह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥" (पञ्च० भा०)

अर्थात् दोषचिन्तन में बहुत मन लगाना चाहिए क्योंकि कभी-कभी कहीं दोष न होते पर भी दोषचिन्तन करनेवाले को चिन्तन की महत्ता से दोष भासित होने लगते हैं। अतः स्व-पर दोष का निवारण करने के लिए दोष का ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए श्रीराम के अनेक गुणों में "स्वदोष परदोषवित्" भी एक गुण है, वे अपने तथा अन्यों के दोषों को भी जानते थे।

स्वयमेव मृगेन्द्रता

आप अपने संघ के संघटन का बखान करते हुए कहते हैं कि संघ का यह अनोखा लक्षण है जिसमें साधन साध्य एक रूप हो जाते हैं। जैसे भक्त के लिए भक्ति साधन एवं साध्य दोनों हैं। इसी प्रकार हमारे संघटन का कार्य जो समाज के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण उत्पन्न होता है, स्वप्रेरित, स्वआधारित है। अपने निर्धारित पथ पर अखण्ड, एकाग्रता उन सिद्धांतों की पूर्ण पकड़ के कारण उत्पन्न होती है, जो कि शाश्वत सामर्थ्यवाली एवं स्वाधारित है। राष्ट्रिय जीवन की जड़ों का निर्माण करती है, ऐसी एकाग्रता ने ही हमारे संगठन को अजेय, चिर उन्नतिशील बनाया है" (वि० न० पृ० २१६, २२०)। परन्तु क्या जो स्वाधारित स्वप्रेरित होता है उसके लिए भी प्रयत्न आवश्यक होते हैं? दार्शनिक जगत् में सर्वकारण में ही स्वकारणत्व का सर्वाधार में ही स्वाधारत्व का औपचारिक प्रयोग होता है। उसका बीज है "मूलेमूलाभावादमूलं मूलं" सांख्यसूत्र। भक्ति की स्वफलता का भी अर्थ यह है कि जैसे अपक्व आम्र ही पक्व का हेतु होता है, अर्थात् पक्व अपक्व दो अवस्थाओं के भेद से ही "हेतु हेतु मद्भाव" होता है, अत्यंत अभेद में तो कार्यकारण भाव कभी भी बन नहीं सकता। यदि राष्ट्रिय जीवन शाश्वत सामर्थ्यशाली एवं स्वाधारित है तब उसकी जड़ों का निर्माण क्या होगा? क्या वह बिना जड़ों के शाश्वत रहा है? यदि हाँ तो अब भी वैसे ही रहने दो "अव्यापारेषु व्यापारः" क्यों? पूर्व के अनेक पृष्ठों में आपने राष्ट्र की दरिद्रता, हीनता, एवं दुरवस्था का वर्णन किया है, क्या उन सब अवस्थाओं के

रहते हुए भी शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्र कहा जा सकता है? यदि भारतमाता के अंग-प्रत्यंग, छिन्न-भिन्न, क्षत-विक्षत ज्यों के त्यों बने रहें और दिनों दिन छिन्न-भिन्न होते रहें, देश में गोहत्या का काला कलंक चलता रहे, शास्त्र एवं धर्मघाती कृत्य होते रहें, धर्मशास्त्र विरोधी शासन दिनोंदिन शास्त्र, धर्म, संस्कृति एवं देश का विनाश करता ही रहे और आपका संघ इन सम्बन्धों में कुछ न कर सका फिर भी अपनी सफलता का ही स्वप्न देखें तो **किमाश्चर्यमतःपरम्** ?

भारत में आजकल कितने ही अवतार हैं जो अपने को सर्वशक्तिमान् ईश्वर मानते हैं, परन्तु क्या अवतारी के सामने भी गोहत्या होती रहे। देश, जाति, धर्म का पतन होता रहे। अवतार पुजते रहें। क्या यह संगत है? हाँ, यदि गोहत्या आदि समस्यायें समाप्त हो जायँगी तो गोरक्षा के नाम पर चंदा बटोरने एवं वोट माँगने के काम में तथा अवतार-पूजा में बाधा अवश्य खड़ी होगी। परन्तु क्या डाक्टरों के अस्तित्व के लिए रोगों का बना रहना भी आवश्यक होता है? आगे आपने कांग्रेस के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए कांग्रेस की असफलता की फिर चर्चा की। पर क्या कोई आपसे नहीं पूछ सकता कि क्या आपको वे उद्देश्य अभीष्ट हैं या नहीं? देश को स्वतंत्र, शक्तिशाली, सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ, अहिंसक, भ्रष्टाचारहीन तथा अखण्ड, अक्षत, निष्कंटक बनाना आपको अभीष्ट है या नहीं? यदि है तो आप भी वैसा करने में कहाँ तक सफल हुए, यदि नहीं तो मनःकल्पित उन्नति के आधार पर अपने को शाश्वत सामर्थ्यशाली, स्वाधारित, स्वप्रेरित, मान लेने का क्या अर्थ है? आज देश की जिन त्रुटियों का आप स्वयं ही बड़े समारोह के साथ अन्य लोगों के सम्बन्ध से वर्णन कर रहे हैं क्या वे सब त्रुटियाँ आपके शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्रिय जीवन के अनुरूप हैं?

आगे आपने कांग्रेसी तिरंगे ध्वज की समालोचना की है। उसमें "भगवा रंग हिन्दुओं का, हरा मुसलमानों का, सफेद अन्य सभी जातियों का, भगवा त्याग का प्रतीक, सफेद पवित्रता तथा शांति का प्रतीक है—कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध स्वस्थ राष्ट्रिय दृष्टिकोण है, यह तो केवल एक राजनीतिज्ञ की जोड़जाड़ है। (वि० न० पृ० २२४)।" पर क्या आप बता सकते हैं कि आपका एक कौन सा राष्ट्रिय ध्वज था? भगवाध्वज राष्ट्रिय ध्वज कब था और इसमें क्या प्रमाण है? महाभारत-संग्राम में तो अनेक वीरों के पृथक् पृथक् ही ध्वज थे। अर्जुन ध्वज कपिध्वज नाम से प्रसिद्ध है, श्रीकृष्ण का गरुड़ध्वज—सूर्यवंशियों का सूर्यध्वज था। किसी राजा ने संन्यासी भक्त होने से भगवाध्वज बना लिया तब से उसके राज्य में भगवाध्वज चल पड़ा। अब तक विभिन्न राज्यों के अपने अपने पृथक् पृथक् ध्वज चलते हैं। नेपाल हिन्दू राष्ट्र है। उसका ध्वज भगवाध्वज न होकर अन्य ही ध्वज है। जिस राज्य या समूह

ने किसी भावना से अपने राष्ट्र के प्रतीकस्वरूप जैसा ध्वज मान लिया उसके लिए वही ठीक है। उस दृष्टि से त्याग, पवित्रता एवं शांति के प्रतीक रूप में भगवा रंग श्वेत एवं हरा रंग का समुच्चयभूत तिरंगा भी हो ही सकता है।

संविधान के सम्बन्ध की समालोचना ठीक ही है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि भारतीयता का आधार तो आपके पास भी कुछ नहीं। वेदादि अपौरुषेय शास्त्र, मन्वादि आर्ष धर्मग्रन्थ, शुक्र-कौटल्य आदि नीतिशास्त्र आप भी नहीं मानते। फिर जैसे कांग्रेसी वैसे ही आप संघी भी तो हैं। आप कहते हैं कि संविधान में भारतीय आदर्शों अथवा राजनीतिक दर्शनों की कोई झलक नहीं हैं (वि० न० पृ० २२५)। पर क्या आप ही उपर्युक्त आदेशों, दर्शनों में से किसी को भी मानते हैं? यदि नहीं तो दूसरों को भी कहने का आपको अधिकार कहाँ है?

आप कहते हैं "क्योंकि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं जिन्होंने अपने आधार-स्तम्भ को खो दिया उनको बहना ही पड़ेगा (वि० न० पृष्ठ २२५)।" परन्तु क्या आपका कोई आधारस्तम्भ है? कोई धर्मग्रन्थ, कोई दार्शनिक सिद्धान्त, कोई रामायण, महाभारत आदि इतिहास या राजनीतिक ग्रन्थ आपको मान्य है? यदि कुछ निराधार, शब्दजाल या गीत आपके लिए आधार हो सकते हैं तो कांग्रेसियों, कम्युनिस्टों के भी अपने विचार आधार हैं ही। पीछे आपने कहा था, हमारा शाश्वत सामर्थ्य-शाली राष्ट्रिय जीवन स्वाधारित है। अब यहाँ ठीक उसके विपरीत लिखा है। हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रिय जीवन अपना जड़मूल ही खो बैठा है और इसीलिए बहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है—इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में हम आज-कल अपने को खड़ा पाते हैं (वि० न० पृष्ठ २२५)। वस्तुतः यही है वस्तुस्थिति, इससे भिन्न तो आकाशीय कल्पना की उड़ान या कोरी भावना हो सकती है। आवश्यक है कि इसी वस्तुस्थिति को समझ कर इसे दूर करने का प्रयत्न किया जाय। जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता कुछ गीतों एवं खेलों के आधार पर कुछ हजार या लाख लड़कों की कवायद, परेड करा लेने मात्र से सफलता एवं सिद्धि की कल्पना करनी अदीर्घदर्शिता ही है। बहुत बार हमलोगों ने धर्मसंघ के बड़े यज्ञों में कई लाख मनुष्यों को एकत्रित किया था, परन्तु क्या उसी से अपने आपको कृतार्थ मान लेना समझदारी होगी? अतएव उसके लिए मनमानी नहीं किन्तु शास्त्रीय परम्पराओं के अनुसार संघटन की आवश्यकता है, कह देने मात्र से स्वार्थपरता, मतभेद, एवं अनुकरण की दुर्गन्ध को नहीं रोका जा सकता।

आगे के पृष्ठों में आपने कांग्रेसी शिविरों एवं उनकी स्त्रैण प्रवृत्तियों एवं अमरीकी तथा फ्रांसीसी स्त्रैण प्रकृति का वर्णन करके अपने संघ का ही गौरवगान किया है। अवश्य ही यौन संबंध से प्रभावित साहित्य द्वारा राष्ट्र एवं सभ्यताओं का विनाश होता

है और उससे प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं जाति तथा व्यक्ति को सावधान रहना आवश्यक है। परन्तु उसके लिए भी शास्त्रीय धर्माचरण अपेक्षित होता है। तभी तो वेद स्वयं कहते हैं "अविद्ययामृत्युंतीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"। ।। अर्थात् विद्याभिन्न विद्या सदृश वैदिक काम कर्म-ज्ञान से ही पाशविक स्वाभाविक काम कर्म ज्ञान का अतितरण करके अधिकारी प्राणी विद्या उपासना या तज्जनित विद्या तत्त्वज्ञान के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। इतिहास साक्षी है, बौद्धों ने वेदादिशास्त्रों का सम्बन्ध छोड़ दिया। ज्ञान, वैराग्य, संन्यास, योगसाधना की ओर बढ़े, और खूब बढ़े, कुछ-कुछ लोग सिद्ध भी हुए, परन्तु शास्त्र विहीन स्वार्थ-हित मार्ग अपनाने के कारण उनका पतन हुआ। सहजयान, बज्रयान कई साधनाओं में वैराग्य के स्थान में राग का प्राधान्य हो गया, उसी कारण उनका पतन भी हुआ। संघ में भी शास्त्राध्ययन, सन्ध्यावन्दन,शास्त्रीय सदाचारों-माता-पिता गुरुजनों की आज्ञापालन आदि प्रवृत्ति का नितराम् अभाव है। चालाकी, चतुरता, जाल फौरेबों, धोखाधड़ी का विस्तार आवश्यकता से भी अधिक है। फिर कोई स्थिर शास्त्र आधार न होने से किसी भी सदाचार में स्थिति कैसे रह सकती है ?

अवतारों की 'संघी' व्याख्या

"महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान" इस शीर्षक को (वि० न० पृ० २५३) कई पृष्ठों में आपने लिखा है। दुर्भाग्य से पूर्वजों द्वारा स्थापित आदर्शों के स्मरण की परंपरा में विकृति आ गई। "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्" के अनुसार यह भ्रमपूर्ण विश्वास हुआ कि ऐसे सब महापुरुष अति मानव हैं। सर्वसाधारण लोग इनको देवता की श्रेणी में ढकेल कर अपने आपको परिस्थितियों का दास समझकर प्राप्त कर्त्तव्य से पलायन करता है। परमात्मा पृथ्वी पर से मुझे विपत्तियों के भंवर से मुक्त कर किनारे पर लगाये। आप अवतारों की पूजा की अपेक्षा उनके आदर्शों के अनुकरण पर ही बल देते हैं और कहते हैं कि उद्यम ही सर्वशक्तिमान है (वि०न० पृ० २५६)। यह ठीक है, पुरुषार्थ का महत्त्व अवश्य है। परन्तु यह भी न भूलना चाहिए कि पुरुषार्थ के साथ दैवी बल की भी अपेक्षा होती ही है, जैसे दो पंख से पक्षी उड़ता है, वैसे ही दैव एवं पुरुषकार दोनों मिलकर ही कार्यसिद्धि के हेतु होते हैं।

"अधिष्ठानं तथाकर्ताकरणंचपृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टादैवदैवात्र पञ्चमम्॥ (गीता)

शरीर, आत्मा, विविधकरण एवं चेष्टायें तथा पाँचवाँ देव "फलोन्मुख प्राक्तन कर्म" प्रत्येक कार्य में आवश्यक है, फिर भी पुरुषार्थ न करके केवल दैव दैव की पुकार लगाना आलसियों का ही काम है। साथ ही ईश्वर की

अपेक्षा न करके अपने ही बुद्धिबल, बाहुबल के अभिमान में रहना भी पतन का मूल है। इसीलिए भगवान् ने बताया कि हे अर्जुन! सर्वकाल में मेरा स्मरण भी करते रहो, साथ ही युद्ध भी करते रहो अर्थात् देश-काल परिस्थितियों के अनुसार जो भी कर्त्तव्य उपस्थित हों उनका पालन करते रहो।"

"तस्मात् सर्वेषुकालेषु मामनुस्मरयुध्यच"।

आभीरों द्वारा पराभूत होने पर अर्जुन ने कहा था, यह वही मेरा गाण्डीव धनुष है, वे ही मेरे अमोघ बाण हैं, वही नन्दिघोषरथ है, वे ही घोड़े हैं, वही मैं रथी हूँ, परन्तु केवल श्रीकृष्ण भगवान् के बिना सब कुछ वैसे ही निरर्थक हो गया जैसे भस्म में डाली आहुति, छन्द से की गयी उपासना, या ऊसर में डाला हुआ बीज **"तद्वै धनुस्तइषवः सरथो हयास्ते सोहंरथी-नृपतयोयत आनमन्ति। सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥** (श्रीभा० १।१५।२१)। पुरुषार्थ श्रेष्ठ है, हिम्मत अच्छी है, पर उसी सीमा तक जहाँ तक अहंकार की बात न आये। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि श्रीराम एवं श्रीकृष्ण सचमुच ही परमेश्वर थे। उन्हें ईश्वरकोटि में ढकेला नहीं गया। जिन ग्रन्थों के आधार पर राम, कृष्ण, का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसी से उनका ईश्वरत्व भी सिद्ध होता है।

प्रीयतेसततंरामः।

> **सहिविष्णुःसनातनः॥** (वा० रा० यु० १२८।११७)
> **सहि देवैरुद्दीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः,**
> **जज्ञे विष्णुर्महातेजा॥** (वा० रा०)
> **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥** भागवते (१।३।२८)।

और उनकी पूजा, ध्यान, जप, पुण्यदायक एवं शक्तिदायक भी होती है। आपने लिखा—"जब रावण सीता को हरकर ले गया तब श्री रामचन्द्र जी ने उसी प्रकार विलाप किया था और उसी प्रकार रोये थे जैसा कि हममें से कोई भी अपने पारिवारिक जीवन में विपत्ति आने पर करेगा। ऐसा कर उन्होंने संसार के समक्ष घोषित कर दिया कि वह भी अन्य किसी के समान ही मनुष्य हैं (वि० न० पृ० २५७)। परन्तु यही देखकर तो रावण भी राम को मनुष्य ही समझता था। परन्तु आस्तिक तो गीता के—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिस्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।" इस वचन के आधार पर श्रीराम या श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर परमात्मा ही मानते थे और मानते हैं। श्लोक का स्पष्ट यह अर्थ है कि मैं अजन्मा, अव्यय, सर्वभूतों का ईश्वर होता हुआ भी निजी सच्चिदानंद स्वरूप प्रकृति का आश्रयण

करके अपनी माया से श्रीराम श्रीकृष्ण आदि रूप से व्यक्त होता हूँ। आद्य शंकराचार्य ने भी अपने गीता भाष्य में स्पष्ट लिखा है कि...... "नारायणः परोऽव्यक्ता दण्डमव्यक्तसंभवम्। अण्डस्यान्त स्त्विमे लोकाः सप्त दीपा च मेदिनी।" स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत्तस्य स्थितिंचिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्ति-लक्षणं धर्मग्राह्याम्यासवेदोक्तम्...सच भगवान् ज्ञानैश्वर्य्य शक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदासम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्वाऽजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभावोऽपि सन् मायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहंकुर्वन्निव लक्ष्यते।"

अर्थात् नारायण अव्यक्त से भी परमोत्कृष्ट हैं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यक्त से उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के भीतर भू आदि सप्तलोक और यह सप्तद्वीप वाली मेदिनी रहती है। उन नारायण भगवान् ने इस जगत् की रचना करके उसकी स्थिति के लिए प्रथम मरीचि प्रभृति प्रजापतियों को रचकर उन्हें वेदोक्त प्रवृत्ति, लक्षण, धर्म का उपदेश किया। पश्चात् सनकादि को उत्पन्न करके उन्हें ज्ञान, वैराग्य, लक्षण निवृत्ति, धर्म का उपदेश किया।......वह भगवान् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज से सदा सम्पन्न रहते हुए अपनी वैष्णवी त्रिगुणात्मिका माया को वश में करके, अज, अव्यय तथा भूतों के ईश्वर एवं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप होते हुए भी स्वमाया से ही देहवान् जैसे होकर लोकानुग्रह करते हुए से प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् मनुष्य जैसे प्रतीत होते हुए भी मनुष्य नहीं थे। साक्षात् ईश्वर ही थे। अतएव "महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान ......यह भ्रमपूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ कि ऐसे सब महापुरुष अतिमानवी हैं "२५३-२५४ पृ० यह सब आपका कथन भ्रमपूर्ण तथा भ्रामक ही है।"

आपके उक्त कथन के आधार पर ही आपके एक कार्यकर्त्ता ने बड़ी सभा में यह भी कहा है कि लोगों ने राम, कृष्ण को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल दिया। रामायण, महाभारतादि सद्ग्रन्थों को प्रमाण न माननेवाले नास्तिक लोग ही राम, कृष्ण को परमात्मा न मानकर महापुरुष मानते हैं। अतः किसी लोकमान्य तिलक आदि जीव को एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण को समान रूप से महापुरुष की कोटि में रखना नितान्त भ्रम ही है। वाल्मीकि, वशिष्ठ, व्यास, प्रभृति महर्षिगण तो श्रीराम, श्रीकृष्ण को परात्पर ब्रह्म ही मानते हैं।

"सूर्य्यस्यापि भवेत् सूर्यः अग्नेरग्न्यग्निः प्रभोः प्रभुः, श्रिः श्रीच भवेदग्र्या।"

राम सूर्य के भी सूर्य हैं, अग्नि के भी अग्नि हैं, प्रभु के भी प्रभु हैं एवं श्री के भी श्री हैं।

"स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टो ऽनुगतोऽपि वा। कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥" (श्री भा० ९।११।२२) जिन लोगों ने राम का स्पर्श किया, दर्शन किया, जिन्होंने उनके साथ संवेश किया, जिन्होंने राम का अनुगमन किया वे कौशलपुरवासी सब दिव्य धाम में पहुँच गये, जहाँ महा महायोगीन्द्र एवं मुनीन्द्र जाया करते हैं।

उदीर्ण रावण के वधार्थी देवों की प्रार्थना पर साक्षात् विष्णु ही राम के रूप में प्रकट हुए थे।

"सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम् ॥"—भागवते

सभी वस्तुओं का याथात्म्य परम कारण ब्रह्म या ईश्वर में निहित होता है। उस कारण का भी परमार्थ स्वरूप कृष्ण ही हैं। फिर उनसे भिन्न कौन वस्तुतत्त्व हो सकता है जिसका निरूपण किया जाय? अनेक उपनिर्देष भी समारोह के साथ श्रीराम, श्रीकृष्ण का साक्षात् परमात्मा होना बतला रहे हैं। उनको परमात्मा की श्रेणी में ढकेलना कैसे कहा जा सकता है?

आप कहते हैं कि जान बचाने की इसी प्रवृत्ति से लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं। साधारण मनुष्य जब विपत्तियों से घिर जाता है तब वह हतप्रभ होकर भयभीत हो जाता है। अन्य क्या करे यह न समझ सकने के कारण वह रोता बिलखता हुआ परमात्मा की शरण लेता है। निराशा के उस अन्धकार में उसे परमात्मा को छोड़कर आशा की कोई किरण नहीं दिखाई देती। कभी-कभी हम महान् सन्तों और विद्वानों को भी इस प्रकार विलाप करते देखते हैं और यदि इन परिस्थितियों में कोई महापुरुष उपस्थित हो जाता है और अपने पौरुष, धैर्य, तथा बुद्धिमत्ता से घटनाचक्र में परिवर्तन कर देता है तो उसे तुरन्त देवताओं की श्रेणी में डाल दिया जाता है। परन्तु यह तो कोरी दुर्बलता ही है कि जिसके कारण व्यक्ति ऐसे महापुरुषों को मानवों की कोटि से बाहर ढकेल देता है (पृ० २५६)।

यद्यपि कर्तव्यविमुख होकर केवल ईश्वर पर निर्भर होने का बहाना बनाना निन्द्य है और वही दैव दैव आलसी पुकारा का उदाहरण है। तथापि विपत्ति में ईश्वर की शरण ग्रहण करना अनुचित नहीं है। तभी सन्त और महापुरुष कर्तव्य-परायण होते हुए भी ईश्वर शरणागति को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और उस परिस्थिति में घटनाचक्र बदलनेवाले का आगमन अवश्य ही ईश्वरकृपा का ही प्रभाव है। हर प्रभावशाली महापुरुष जीव को ईश्वर मान लेना अवश्य कमजोरी है। परन्तु श्रीराम,

श्रीकृष्ण को उस कोटि में डालना अत्यन्त अज्ञान है। अतएव उन्हें अपने समान ही मनुष्य समझने का (वि० न० पृ० २५७) प्रमाद कभी भी नहीं करना चाहिए। तभी तो अंगद ने कहा था 'राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा॥' अन्य लोगों ने भी कहा है कि 'तात राम नहि नर भूपाला, भुवनेश्वर कालहुं के काला।' आप यह भी कहते हैं कि 'राजपूत रणक्षेत्र में मृत्यु का एकमात्र विचार लेकर युद्ध में घुसे थे, विजय की इच्छा से नहीं' (पृ० २६१)। जैसी इच्छा वैसा परिणाम। यदि विजय की इच्छा सर्वोपरि है तो विजय प्राप्त होती है, जो केवल मृत्यु की कामना करता है, उसे अवश्य मृत्यु मिलती है। राजपूतों का बलिदान निःसन्देह रीति से असाधारण पराक्रम स्वाभिमानी तथा निडरवृत्ति का परिचायक है, परन्तु साथ ही वह एक गलत एवं आत्मघाती आकांक्षा का प्रतीक है (पृ० २६२)। परन्तु यह विचार अत्यंत भ्रामक है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार एक क्षत्रिय युद्ध में मरने के लिए नहीं कूदता है, किन्तु कर्त्तव्यपालन की ही दृष्टि से युद्ध में संलग्न होना उसका धर्म है। अपने राष्ट्र, प्रान्त, ग्राम एवं वैयक्तिक, धर्म-संस्कृति, धर्म्य अर्थ बपौती मिलकियत की रक्षा के लिए युद्ध में कूदना धर्म है। जय पराजय दोनों ही सम्भव होते हैं। इसीलिए भगवान् ने कहा है—सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय की चिन्ता बिना किये सब समान मानकर कर्त्तव्यपालन दृष्टि से ही युद्ध करना चाहिए।

आम तौर पर बलाबल का परीक्षण करके बलवान् होकर या बलवान् का आश्रय लेकर ही युद्ध करना श्रेष्ठ है। अन्यथा सन्धि का प्रयत्न करना ही उत्तम है। सम्मान-पूर्ण सन्धि न हो सकने एवं निष्क्रियता में पाप की संभावना होने पर निर्बलता होने पर भी बलवान् का आश्रय न मिलने पर भी युद्ध में कूदना आवश्यक है। जैसे जहाँ माता, पिता, गुरुजनों का बध हो रहा हो, गोबध या मंदिरों का विध्वंस हो रहा हो, वहाँ निष्क्रिय होकर गुरुजनों का बध देखना अवश्य पाप है। ऐसी स्थिति में युद्ध ही श्रेष्ठ है। पूर्ण निश्चय के साथ युद्ध में कूदनेवाले थोड़े भी वीर बड़े से बड़े शत्रुदल को पराजित कर सकते हैं। परन्तु यदि विजय न मिल सकी तो भी कर्त्तव्य-पालन परायण वीर युद्धोपासना से ब्रह्मलोक जैसी दिव्यगति पाते हैं।

इस पुस्तक में व्यक्त विचारों से असहमत लोगों को अपना विरुद्ध मत अवश्य प्रकट करना चाहिए। हमारे यहाँ विचार-विनिमय का मार्ग खुला रहता है। यदि युक्तियुक्त तर्कसंगत एवं शास्त्रशुद्ध खण्डन हमारे सामने आयेगा तो हम अवश्य उसका स्वागत करेंगे। परन्तु ऐसे लेखकों को अपने प्रकाशित लेख या पुस्तक की प्रति, हमारे पास अवश्य भेज देनी चाहिए। सुना है राममनोहर लोहिया जी के किसी अनुयायी ने किसी पुस्तक में लिखा है कि "स्वामी जी लोहिया के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके।"

परन्तु वह पुस्तक प्रयत्न करने पर भी मुझे नहीं मिली। वस्तुतः लोहिया जी ने कई बार मुझसे पत्र-व्यवहार किया था। दिल्ली जेल में वे स्वयं भी मुझसे मिलते रहे। परन्तु मेरी जानकारी में ऐसा कोई अवसर नहीं आया जब वे मेरे उत्तर से असंतुष्ट रहे हों।

अस्तु मैं प्रायः संबंधित व्यक्तियों को अवश्य ही पुस्तक पहुँचाने का प्रयत्न करता हूँ। इतना ही नहीं अपने पत्रों में विरोधी लेखकों के लेखों को प्रकाशित भी करने की प्रेरणा देकर विचार-विनिमय का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

———